513

महावीर जयन्ती

स्मारिका

१९७८

प्रकाशक :
राजस्थान जैन सभा
जयपुर

प्रधान सम्पादक :
श्री भंवरलाल पोल्याका
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा

पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी के सदस्य

---

१. श्री राजकुमार काला	....	अध्यक्ष
२. श्री ताराचन्द साह	....	उपाध्यक्ष
३. श्री सुमेर कुमार जैन	....	उपाध्यक्ष
४. श्री बाबूलाल सेठी	....	मंत्री
५. श्री सुरज्ञानी चन्द लुहाड़िया	....	कोषाध्यक्ष
६. श्री राजेन्द्र कुमार बिल्टीवाला	....	संयुक्त मंत्री
७. श्री रमेशचन्द गंगवाल	....	संयुक्त मंत्री
८. श्री कपूरचन्द पाटनी	....	सदस्य
९. श्री रतनलाल छाबड़ा	....	सदस्य
१०. श्री लल्लूलाल जैन	....	सदस्य
११. श्री सूरजमल सोगानी	....	सदस्य
१२. श्री कैलाशचन्द गोधा	....	सदस्य
१३. श्री अरुण कुमार सोनी	....	सदस्य
१४. श्री सुभाष काला	....	सदस्य
१५. श्री भागचन्द छाबड़ा	....	सदस्य
१६. श्री राजमल बेगस्या	....	सदस्य
१७. श्री महेश काला	....	सदस्य
१८. श्री तेजकरण सौगानी	....	सदस्य
१९. श्री शांतिकुमार गोधा	....	सदस्य
२०. श्री ज्ञानप्रकाश बख्शी	....	सदस्य
२१. कुमारी प्रीति जैन	....	सदस्य
२२. श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	....	सदस्य
२३. श्री ज्ञान चन्द जैन झांझरी	....	सदस्य
२४. श्री बलभद्र जैन	....	सदस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती स्मारिका

1978

प्रधान सम्पादक :

भँवरलाल पोल्याका

जैनदर्शनाचार्य, साहित्य शास्त्री

व्यवस्थापक मण्डल :

संयोजक :

श्री सुमेरकुमार जैन

सदस्य :

श्री कपूरचन्द पाटनी
श्री देशभूषण सोगानी
श्री ज्ञानचन्द झांझरी
श्री रमेशचन्द्र गंगवाल
श्री मदनलाल बैद
श्री मुन्नीलाल जैन
श्री नरेशकुमार सेठी
श्री डी. आर. मेहता
श्री कैलाशचन्द बैद
श्री कैलाशचन्द चौधरी
श्री साहिबलाल अजमेरा
श्री सतीशकुमार अजमेरा

सम्पादक मण्डल :

डा० नरेन्द्र भानावत
श्री ज्ञानचन्द जैन बिल्टीवाले
श्री राजकुमार काला
एम. ए., एल एल. बी. एडवोकेट
श्री राजमल बेगस्या
एम. ए.
श्री पदमचन्द साह
एम. ए., सम्पादन कला विशारद

प्रकाशक :

बाबूलाल सेठी
मंत्री
राजस्थान जैन सभा
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1978

		संयोजक	सह-संयोजक
१.	निबन्ध प्रतियोगिता	श्री प्रकाशचन्द जैन	श्री बुद्धि प्रकाश भास्कर
२.	भाषण प्रतियोगिता	श्री ताराचन्द चौकड़ायत	श्री प्रेमचन्द गंगवाल
३.	युवा सम्मेलन	श्री राजकुमार बरडिया	श्री अशोक कुमार कोडीवाल
४.	**प्रभात फेरी** महावीर पार्क से	श्री ज्ञान प्रकाश बख्शी	श्री राजेन्द्रकुमार बिल्टीवाला
	गोधों के चौक से	श्री अशोककुमार पांड्या	श्री श्री वीरेन्द्र गोदीका
५.	संगीत संध्या	श्री सुरज्ञानी चन्द लुहाडिया	श्री राजमल बेगस्या
६.	जुलूस	श्री हीराचन्द बैद	श्री प्रकाशचन्द्र टोलिया
७.	सांस्कृतिक कार्यक्रम	श्री तिलकराज जैन	श्री कैलाशचन्द्र गोधा
८.	अर्थ संग्रह	श्री सुरज्ञानीचन्द लुहाड़िया	श्री ताराचन्द शाह
९.	प्रचार	श्री राजकुमार जैन	श्री महेश काला
१०.	पंडाल व्यवस्था	श्री बलभद्र जैन	श्री भागचन्द छाबड़ा

सूचना

स्मारिका की प्रति प्राप्त करने के लिए निम्न में से किसी एक पते पर सम्पर्क करें—

1. श्री राजकुमार काला

एडवोकेट
नाटाणियों का रास्ता
मोदीखाना, जयपुर–3

2. श्री बाबूलाल सेठी

मंत्री–राजस्थान जैन सभा
जयपुर बीकानेर बैंक के पीछे, चोरुकों का रास्ता
मोदीखाना, जयपुर–3 ।

नोट—पृष्ठ 2—137 पर 'महावीर की सीख अमर रहे' शीर्षक कविता के लेखक का नाम श्री रामचन्द्र सराधना छपने से रह गया है । पाठक सही करलें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मत्यर्थ

सन्देश

सत्यमेव जयते

मुख्य मंत्री राजस्थान
जयपुर
CHIEF MINISTER OF
RAJASTHAN JAIPUR

क्र० 1148/C/M/O/G/78

१४ अप्रैल १९७८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर महावीर जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन कर रही है। मुझे बताया गया है कि इस स्मारिका में जैन दर्शन, इतिहास, संस्कृति और साहित्य पर अधिकारी विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों का समावेश किया जाएगा।

भगवान महावीर सामाजिक नैतिकता और धार्मिक सहिष्णुता के आदर्श को स्थापित करने वाले थे। उस आदर्श को व्यावहारिक रूप से ग्रहण करने में उनके अनुयायी अभी तक आंशिक रूप से ही सफल हुए हैं। उनके ये आदर्श न केवल जैन धर्म के मानने वालों के लिये थे बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिये थे। आज देश के बदले हुए सन्दर्भ में उनके उपदेशों का महत्व और भी बढ़ गया है।

मैं आशा करता हूं कि आपकी स्मारिका भगवान महावीर के सिद्धान्तों व आदर्श को आगे बढ़ाने में सफल होगी।

मेरी शुभ कामनाएं।

आपका,

(भैरोंसिंह शेखावत)

श्री बाबूलाल सेठी,
मंत्री राजस्थान जैन सभा,
चाकसू का चौक, जौहरी बाजार, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

(आपकी बात हमारी बात)

अध्यक्षीय	3
आत्म-निवेदन	5
प्रकाशकीय	6
राजस्थान जैन सभा : संक्षिप्त परिचय	8
महावीर जयन्ती स्मारिका 1977 : लोक दृष्टि में	क
सितारे जो अस्त हो गये	ट

प्रथम खण्ड

(महावीर : उनका दर्शन एवं इतर दर्शन)

1.	वीर वन्दना	डा. पन्नालाल	1
2.	महावीर : आत्मक्रांति और जनक्रान्ति के आईने में	डा. नरेन्द्र भानावत	2
3.	भगवान महावीर के दर्शन	श्री निहालचन्द जैन	3
4.	महावीर व्यक्तित्व-मापन	श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'	9
5.	ज्योतिर्मय तुम्हारी प्रतीक्षा है	श्रीमती रूपवती किरण	13
6.	ईश्वर : परिकल्पित निरर्थकता	डा. महावीरसरन जैन	15
7.	व्यक्ति की वृत्ति	प्रो. आदित्य प्रचण्डिया	24
8.	जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का अशुभत्व, शुभत्व और शुद्धत्व	डा. सागरमल जैन	25
9.	श्री वीर स्तवन	डा. बडकुल	42
10.	जैन साधना का रहस्य	श्री जमनालाल जैन	43
11.	पांच महाव्रतों की वरीयता	डा. शोभनाथ पाठक	51

द्वितीय खण्ड

(म्हारी धरती म्हारो देश)

1.	मंगलाचरणम्	श्री गुणभद्राचार्य	1
2.	प्रशमरतिप्रकरणकार तत्वार्थ सूत्र तथा भाष्य के कर्ता से भिन्न	डा. कुसुम पटोरिया	2
3.	कीमती घोड़ा	श्री मोतीलाल सुराना	8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4.	सूर के काव्य पर अपभ्रंश कृष्ण-काव्य का प्रभाव	प्रो. श्रीरंजनसूरि देव	9
5.	दो क्षणिकाएं	श्री शर्मनलाल 'सरस'	16
6.	खारवेल का प्रारम्भिक जीवन	श्री नीरज जैन डा. कन्हैयालाल अग्रवाल	17
7.	प्रभु से विनम्र प्रश्न	श्री मंगल जैन 'प्रेमी'	26
8.	सर्वतोभद्र प्रतिमा	श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी	27
9.	आदमी	श्री मगनलाल 'कमल'	30
10.	उत्तरपुराण में प्रतिबिम्बित राजनीति	डा. रमेशचन्द जैन	31
11.	चाहूंगा अपना सपना	पं. उदयचन्द्र शास्त्री	40
12.	कुलकर और श्रमण संस्कृति	डा. प्रेमसागर जैन	41
13.	सगुण भक्तों की रहस्य भावना	डा. पुष्पलता ैन	59
14.	आत्मशांति को छू न सकेगी	श्री कल्याणकुमार 'शशि'	66
15.	खण्डेलवाल श्रावकों की उत्पत्ति	भंवरलाल पोल्याका	67
16.	तुम स्वयं महावीर हो	श्री हजारीलाल 'काका'	72
17.	जैन हरिवंश पुराणकालीन भारत की सांस्कृतिक झलक	डा. प्रेमचन्द जैन	73
18.	संस्कृत नाट्य साहित्य में हस्तिमल्ल के नाटकों का स्थान	डा. कन्छेदीलाल	79
19.	एक सत्य का हाथ बहुत है	श्री भवानीशंकर	84
20.	वाल्मीकि रामायण और जैन कथा	डा. लक्ष्मीनारायण दुबे	85
21.	ओंकारं बिन्दु संयुक्तं	श्री नन्दकिशोर	88
22.	मुस्लिम राज्य में जैन धर्म	श्री दिगम्बरदास एडवोकेट	89
23.	आत्म गीत	श्री भगवान स्वरूप	100
24.	जयपुर पोथी खाने का हिन्दी जैन साहित्य	डा. प्रेमचन्द रांवका	101
25.	राघव पाटनी रचित यात्रा प्रकाश	श्री अगरचन्द नाहटा	107
26.	जयपुर के जैन मेले	पं. गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य	109
27.	महावीर रा स्वर गूंजे है	श्री घनश्याम मुदगल	112
28.	जयपुर की प्रथम डेढ़ शती के जैन साहित्यकार	डा. ज्योतिप्रसाद	113
29.	नारी	ममता मालपाणी	120
30.	बुधजन सतसई	श्री रमाकान्त जैन	121
31.	संघी झूंताराम और उनके पूर्वज	पं. भंवरलाल न्यायतीर्थ	125
32.	बालक	श्री राजमल बेगस्या	131
33.	दीवान झूंतारामजी और उनके वंशज	श्री प्रतापचन्द जैन	133
34.	महावीर री सीख अमर रहे	श्री रामचन्द्र सरावना	137

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

35.	टोडरमलजी के कुछ अप्रकाशित पद	श्री कुन्दनलाल	139
36.	आम्बेर संग्राहालय की तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा	डा. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा	143
37.	जैन साहित्य में प्रयुक्त धर्म परीक्षा अभिप्राय	डा. प्रेमसुमन जैन	145
38.	The Jaina Atheism	Dr. Harendra Prasad Verma	151
39.	धर्म, धार्मिक और धर्मालय	डा. महेन्द्र प्रचण्डिया	160

तृतीय खण्ड

(मुक्त चिन्तन तथा अन्य)

1.	विश्वबंधुत्वस्योत्प्रेरको भगवान् महावीरः	श्री नारायणसहाय शास्त्री	1
2.	प्रीतंकर	श्री मिश्रीलाल जैन	3
3.	अहसान	श्री सुरेश 'सरल'	6
4.	भगवान् महावीर प्रश्न चिह्नों के घेरे में	डा. राजेन्द्रकुमार बंसल	9
5.	निबन्ध प्रतियोगिता के लेख	(1) श्री जिनेन्द्रकुमार सेठी	11
		(2) श्री संजय जसोरिया	13

निवेदन

असावधानीवश स्मारिका में कुछ मुद्रण की अशुद्धियां रह गई हैं, पाठक पढ़ने से पूर्व कृपया संशोधन करलें।

(1) पृष्ठ 'त' में 'सुन्दलाल' के स्थान पर 'सुन्दरलाल'

(2) पृष्ठ '8' के पश्चात् लगा हुआ चित्र राजस्थान जैन सभा की वर्तमान कार्य-कारिणी के सदस्यों का है। इसमें 'बाबूलल' के स्थान में 'बाबूलाल' तथा 'लल्लूलल' के स्थान में 'लल्लूलाल'

(3) पृष्ठ 2-89 पर अंग्रेजी मैटर की तीसरी पंक्ति का अन्तिम शब्द 'Their'।

(4) पृष्ठ 2-106 के टिप्पण की प्रथम लाइन में 'of Heittage the Rulers' की जगह 'Heritage of the Rulers'।

(5) तृतीय खण्ड के पृष्ठ 12 के कालम द्वितीय के अन्त में 'शेष पृष्ठ 16 पर' बढ़ालें तथा पृष्ठ संख्या 1-12 के स्थान में 3-12 करलें।

—सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज विश्व जिनकी २५७६ वीं जयंती मना रहा है

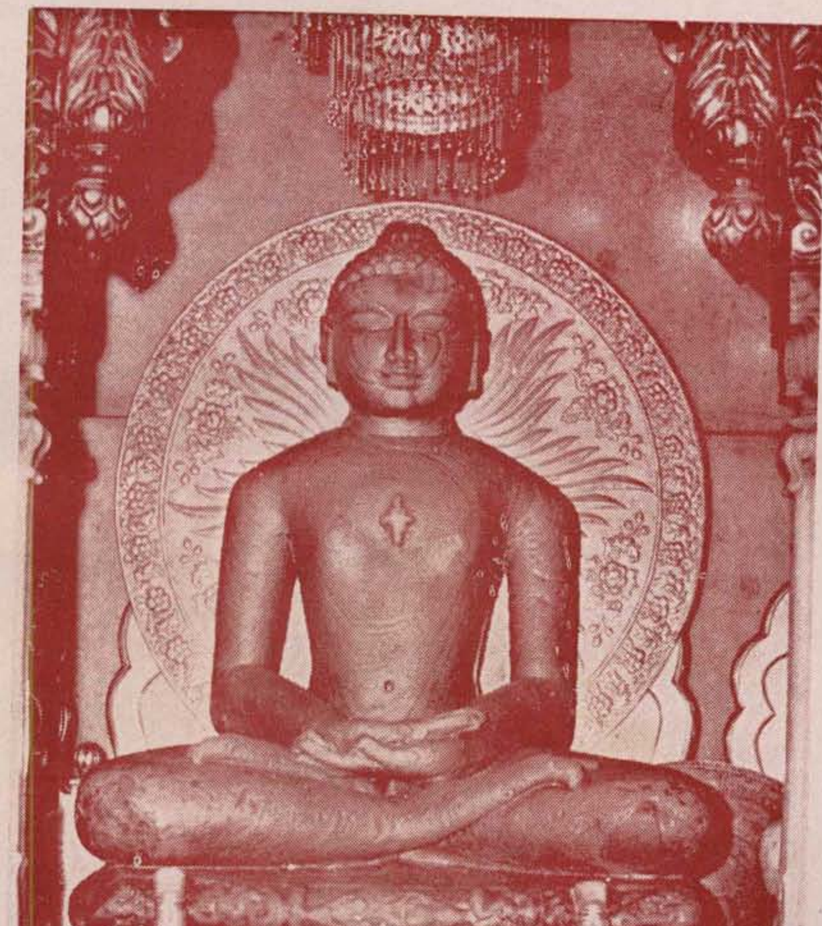

देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग ।
सर्वज्ञ तीर्थंकर सिद्धमहानुभाव ॥
त्रैलोक्यनाथ जिनपुंगव वर्द्धमान ।
स्वामिन् गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपकी

बात

हमारी

बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यक्षीय

अगर आज विश्व में घूमते घटना चक्र को उसके वास्तविक रूप में मञ्च पर प्रस्तुत किया जाय तो दृश्य इतना वीभत्स होगा कि मानवता रो देगी, शायद उन दृश्यों को देखने का उसमें साहस भी न होगा। कहीं काले गोरों में युद्ध छिड़ रहा है तो कहीं एक दल दूसरे दल के लोगों के खून का प्यासा हो रहा है। कहीं एक जाति वाले दूसरी जाति वालों के घर जला रहे हैं, उन्हें जीवित ही जलती आग में समर्पित कर रहे हैं तो कहीं मातृ-स्वरूपा स्त्रियों की इज्जत लूटी जा रही है, उनके साथ बलात्कार किया जा रहा है। मानव मानव का खून पीकर राक्षस बन गया है। रामायण काल में तो एक ही रावण था लेकिन आज तो उनकी गिनती ही नहीं की जा सकती। महावीर काल में तो पशुयज्ञ ही होते थे किन्तु आज तो नरमेघ हो रहे हैं। महावीर काल में एक धर्म के उपासक दूसरे धर्म के उपासक ही से लड़ते थे तो आज एक धर्म के मानने वाले ही आपस में लड़ते हैं। जिधर देखो उधर हिंसा का ही ताण्डव नृत्य। न दिन को चैन न रात को। किसी को यह विश्वास नहीं कि उसका जीवन इतने समय तक सुरक्षित है। अगर गीता के इन वाक्यों में सचाई है कि जब जब भी पृथ्वी पर अधर्म का साम्राज्य होता है भगवान् पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करते हैं तो भगवान के अवतार ग्रहण करने का इससे अधिक उपयुक्त समय फिर कब होगा मगर वह भी शायद आराम की नींद सो रहा है। विश्व की घटनाओं की ओर उसका कोई ध्यान नहीं। भ. महावीर के उपदेशों के प्रसार प्रचार की, उनको अपने में उतारने की, आज की परिस्थितियों में उनके मूल्यांकन की आज जितनी आवश्यकता है इससे पूर्व कभी नहीं हुई।

आज से १६–१७ वर्ष पूर्व राजस्थान जैन सभा ने स्व. पं. चैन सुखदासजी न्यायतीर्थ की सत्प्रेरणा व प्रोत्साहन से प्रेरित हो महावीर जयन्ती के पुण्य पर्व पर प्रतिवर्ष एक स्मारिका प्रकाशन का निश्चय किया था। प्रारंभ में उसके कदम लड़खडाये जरूर मगर शीघ्र ही वे जम भी गये। अब तक उसके १४ अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं तथा १५वां अङ्क यह आपके हाथ में है। यह स्मारिका वास्तव में एक शोध तथा सन्दर्भ ग्रंथ है और विद्वत्समाज में वह कितनी समादृत है इसका पता प्रतिवर्ष आने वाले सैंकड़ों प्रशंसापत्रों और पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली उसकी समीक्षाओं से लगता है। गत-वर्ष की स्मारिका पर आई हुई ऐसी सम्मतियों को प्रधान सम्पादक की इच्छा के विरुद्ध इस वर्ष हमने प्रकाशित करने का निश्चय किया है जिससे पाठकों को हमारे कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव हो सके।

इस वर्ष भी स्मारिका का सम्पादन श्री भंवर-लालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य साहित्य शास्त्री ने किया है। श्री पोल्याकाजी की यद्यपि वृद्धा-वस्था है और स्वास्थ्य भी खराब रहता है, किन्तु उन्होंने अपने स्वयं की चिन्ता किये बिना पाठकों के मनमोहने को सामग्री संकलित की है वह वास्तव में जिन शासन की महत्ता को निरन्तर कायम रखने का एक बहुत ही सफल प्रयास है। श्री पोल्याकाजी का कार्य, कर्त्तव्य निष्ठा, प्रेम, लगन सहृदयता और साक्षात् मानवीय गुणों को देख कर मेरी श्रद्धा के सुमन स्वतः ही उनके चरणों में अर्पित हो रहे हैं। आज यदि यह कहा जावे कि महावीर जयन्ती स्मारिका एवं श्री भंवरलालजी पोल्याका एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनके लिये कुछ भी लिखा या कहा जावे तो उसके लिये कोई उपयुक्त शब्द मेरे पास नहीं हैं। मेरी ईश्वर से यही कामना है कि श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घोल्याकाजी युग-युग जीयें और स्वास्थ्य उनका साथ दे।

स्मारिका के लिये जिन लेखकों ने सामग्री भेजी है वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। अनेक लेखकों को निराश होना पड़ रहा है। उनकी रचनायें प्रकाशित नहीं की जा सकी इसके अनेक कारण हैं। मैं ऐसे सभी लेखकों से क्षमाप्रार्थी हूं।

स्मारिका के प्रकाशन में व्यवस्थापक समिति के संयोजक श्री सुमेरकुमार जी जैन, एवं उनके व्यवस्थापक मण्डल के सभी सदस्यों का मैं अत्यन्त आभारी हूं विशेषकर श्री ज्ञानचन्द झांझरी, श्री देशभूषण जी सौगानी एवं श्री मदनलालजी बढ़ियाल वाले का जो सहयोग विज्ञापन एकत्रित करने में रहा है वह उसी का कारण है कि यह स्मारिका समय में पाठकों के समक्ष उपलब्ध है।

राजस्थान जैन सभा की कार्यकारिणी के मेरे सभी साथी निरन्तर सभा की गतिविधियों में पूर्ण सहयोग देते रहते हैं यही कारण है कि सभा नई नई गतिविधियां लेकर भी सदैव सफल रही है। इस अवसर पर सभा के मंत्री श्री बाबूलालजी सेठी के बारे से कहे बिना मैं नहीं रह सकता हूं। श्री सेठीजी सभा के प्राण हैं एवं मूक सेवक हैं, सदैव सभा के लिये कुछ न कुछ करते रहना उन्होंने अपने जीवन का एक अंग समझ लिया है। मैं उनका भी अत्यन्त आभारी हूं जिनके कारण सभा की गतिविधियां बढ़ती जा रही हैं।

सभा के अत्यन्त वरिष्ठ सदस्य श्री कपूरचन्दजी पाटनी मेरे मार्गदर्शक हैं। कोई भी दिक्कत आने पर मैं अपनी समस्या का समाधान पाटनीजी से ही पाता हूं जो सदैव एक सच्चे मित्र की भांति उलझी गुत्थियों को सुलझाने में मेरी मदद करते हैं। राजस्थान जैन सभा श्री पाटनीजी के प्रयासों से ही आज के स्वरूप में पहुंच सकी है। मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

सभा के विभिन्न कार्यक्रमों में सभा के दोनों उपाध्यक्ष सर्वश्री ताराचन्दजी साह एवं श्री सुमेरकुमारजी जैन का एवं सभा के दोनों संयुक्त मन्त्री श्री रमेशचन्द्रजी गंगवाल एवं श्री राजेन्द्रजी बिल्टीवाला का तथा श्री तेजकरणजी सौगानी, श्री ज्ञानप्रकाशजी बख्शी श्री प्रकाशचन्द्रजी ठोलिया, श्री भागचन्दजी छाबड़ा श्री सुरज्ञानीलालजी लुहाड़िया, श्री बलभद्रजी जैन, श्री महेशचन्द्रजी काला श्री सुभाषजी काला, एवं अन्य सभी सदस्यों का आभारी हूं जिनके सहयोग से सभा का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो रहा है।

इस वर्ष महावीर जयन्ती के अवसर पर विभिन्न समिति के संयोजकों एवं उनकी समिति के सदस्यों कि जिनका नाम स्मारिका में अन्यत्र प्रकाशित है, का भी मैं पूर्ण आभारी हूं जिनके कारण ही इस वर्ष यह आयोजन सफल हो सका है।

सम्पूर्ण समाज का विशेषकर श्रद्धेय श्री राजरूपजी टॉक, श्री हीराचन्दजी वैद, श्री प्रवीणचन्द्रजी छाबड़ा, श्री देवेन्द्रराजजी मेहता, श्री नरेशकुमारजी सेठी, श्री निहालचन्दजी जैन श्री कैलाशचन्दजी चौधरी आदि का जो सहयोग मिलता रहा है जिसके परिणाम स्वरूप ही हम आगे की मंजिल तलाश करते रहते हैं।

सभा कुछ नये कार्यक्रम शीघ्र ही हाथ में लेने को है। समाज के सहयोग से ही उनकी सफलता सम्भव हो सकेगी।

अन्त में मैं मनलाइट प्रिंटर्स के व्यवस्थापक श्री महावीरप्रसादजी जैन का भी अत्यन्त आभारी हूं जिनके सतत् प्रयत्नों से स्मारिका समय पर प्रकाशित हो सकी है।

स्मारिका को काफी रोचक एवं सुन्दर बनाने का प्रयास किया गया है फिर भी कोई कमी रही हो तो इसकी जिम्मेवारी मेरी ही मानी जानी चाहिए। आशा है पाठक स्मारिका को पसन्द करेंगे। भगवान महावीर मुझे सन्मार्ग से अडिग न होने दें इसी भावना के साथ—

राजकुमार काला अध्यक्ष
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला स्मारिका के सम्पादक पं० भंवरलाल पोल्याका का उनकी साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओं के लिये रजतप्लेट भेंट कर अभिनन्दन करते हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-निवेदन

स्मारिका प्रकाशन की जो परंपरा श्रद्धेय गुरुवर्य पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने सन् 1962 में प्रारंभ की थी उसका यह 15 वां अंक पाठकों के हाथों में है। गुरुवर्य द्वारा लगाया हुआ यह पौधा न केवल निर्विघ्न अपना बाल्यकाल पूरा कर चुका है, अपितु, उसकी सुवास भी अब महकने लगी है। यह सब ही के सम्मिलित प्रयासों और सहयोग का फल है किसी एक को इसका श्रेय नहीं जाता।

मेरे सम्पादन काल का यह दसवां अंक है। 60 वर्ष की आयु मैंने पूर्ण कर ली है और स्वास्थ्य ठीक न रहने से शरीर की शक्ति निरन्तर क्षीण होती हुई समाप्ति की ओर अग्रसर हो रही है शायद आगामी अङ्क तक इतनी शक्ति भी न रहे। यदि गार्हस्थिक समस्याओं का समाधान संभव हुआ तथा अपेक्षित सहयोग मिल सका तो खण्डेलवाल जैन श्रावक जाति के इतिहास के कुछ अनुद्घाटित पृष्ठों को प्रकाश में लाना चाहता हूँ। और भी कुछ लिखने का विचार है लेकिन इच्छाएं पूर्ण हों आवश्यक नहीं। मेरे सम्पादन काल में मुझे सभी ओर से भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है क्या रचनाकारों का, क्या साथियों का और क्या प्रेस का; उन सबके प्रति आभार से मेरा मस्तक नत है।

भविष्य में भी स्मारिका इससे भी अधिक उपयोगी बनकर पाठकों के हाथों में पहुँचती रहे, पं० साहब द्वारा प्रवाहित ज्ञान गंगा का यह प्रवाह कभी सूखे नहीं, सतत्-प्रवाहित होता रहे जिसकी शीतल शांति प्रदाता लहरों में स्नान कर पाठक गण मानसिक सुख शांति प्राप्त करते रहें ऐसी हार्दिक कामना है।

मुझे यह स्वीकार करने में जरा भी संकोच नही कि भरपूर साधन और सहयोग मिलने पर भी मैं स्मारिका को वह रूप नहीं दे पाता जिसकी कल्पना मेरे मस्तिष्क में है। इसके बहुत से कारण हैं जिनमें मेरी अक्षमता और अयोग्यता भी एक कारण तो है ही।

इस वर्ष भी बहुत सी रचनाएं स्मारिका में अपना स्थान नहीं पा सकीं। उनमें कुछ तो बहुत ही महत्वपूर्ण थीं किंतु समय और साधन दोनों ही सीमित हैं। उन सबसे मैं एतद् हेतु क्षमा प्रार्थी हूँ और अप्रकाशित रचनाएं लौटा रहा हूँ। भविष्य में चाहे कोई भी सम्पादन करे मेरी उन सबसे विनम्र प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार अपना सहयोग उसे प्रदान करते रहें। मेरे सहयोगी श्री पदमचंद शाह तथा श्रीराजमलजी बेगस्या तो मेरे अनुजसम है उनका तो मैं क्या धन्यवाद करूं, मेरे आशीर्वाद मेरी शुभ कामनाएँ उनके साथ हैं। श्री राजकुमारजी काला अध्यक्ष तथा श्री बाबूलाल सेठी मंत्री भी प्रत्येक समस्या का बड़ी तत्परता से निदान करते हैं और प्रत्येक संभव सहयोग को तत्पर रहते हैं। सभा के अन्य सारे सदस्य ही मेरे साथ बड़ा प्रेमभाव रखते हैं उनका सबका भी हृदय से मैं आभार मानता हूँ तथा इस सुदीर्घकाल में हुई त्रुटियों, भूलों तथा अपराधों के लिये शुद्ध हृदय से क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं भविष्य में कहीं भी रहूँ या कुछ भी करूं इसी प्रकार स्नेह और सहयोग मुझे प्राप्त होता रहेगा इसी विश्वास के साथ :

❀ भंवरलाल पोल्याका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

आज से 2576 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अपने जन्म से इस वसुंधरा को पवित्र किया था। उनके जन्म से न केवल नर ने अपितु स्वर्ग के देवों और नरक के नारकियों ने भी सुख और शांति का अनुभव किया था। तीस वर्ष महावीर गृहस्थावस्था में रहे। जनकल्याण की भावना उन में प्रारंभ से ही थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वह और दृढ़ हो गई तथा इसी भावना से प्रेरित हो उन्होंने जंगल का रास्ता लिया। 12 वर्ष तक कठोर साधना के पश्चात् विचार-मंथन से जो नवनीत निकला साररूप में शब्दों में उसे यों व्यक्त किया जा सकता है—

1. जिस प्रकार तुम्हें जीवित रहने का अधिकार है विश्व के अन्य प्राणियों को भी है अतः स्वयं जीवो और दूसरों को जीने दो।

2. मनुष्य की इच्छाएं अपरिमित हैं और उपभोग के साधन सीमित अतः आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो।

3. सचाई अनन्तधर्मा है। जो बात एक दृष्टिकोण से सत्य है दूसरे दृष्टिकोण से वह गलत भी हो सकती है। पूर्ण सत्य कहा नहीं जा सकता केवल जाना जा सकता है। अतः आग्रही मत बनो।

आग्रह झगड़े की जड़ है।

महावीर के इन सिद्धान्तों का जो महत्व उस समय था उससे कहीं अधिक आज है। उनके बताये मार्ग पर चल कर ही जीवन में सुख शांति का अनुभव किया जा सकता है।

भगवान महावीर के लोकोपकारी उपदेशों का जन-जन में प्रचार प्रसार करने के पवित्र उद्देश्य को लेकर स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की सत्प्रेरणा से सन् 1962 में राजस्थान जैन सभा ने भ० महावीर के पुण्य जन्मावसर पर एक स्मारिका प्रकाशन का निश्चय किया था जो अद्यावधि चालू है।

स्मारिका का 15 वां अंक पाठकों को प्रस्तुत है। पं० चैनसुखदासजी के स्वर्गवास के पश्चात् इसका सम्पादन पं. भंवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य करते आ रहे हैं। आपकी निःस्वार्थ साहित्य सेवा अनूठी एवं अनुकरणीय है सभा ने आपका गत वर्ष महावीर जयन्ती पर सार्वजनिक सभा में समारोह के अवसर पर आयोजित विशाल जन समुदाय के सम्मुख अभिनन्दन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभा के मंत्री श्री बाबूलाल सेठी
भाषण करते हुए

क्षमापन पर्व समारोह 1977

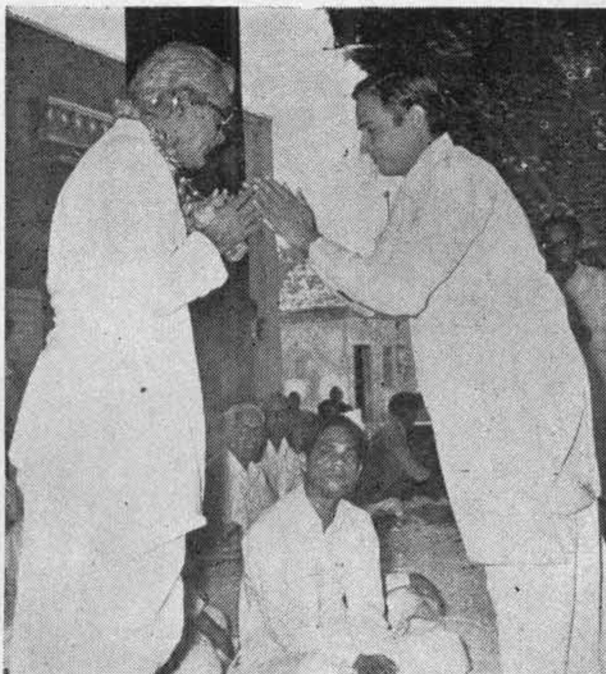

श्री राजकुमार काला अध्यक्ष राजस्थान
जैन सभा मुख्यअतिथि श्री भैरोंसिह
शेखावत मुख्यमंत्री राजस्थान का
स्वागत करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्वस्थ होते हुए भी इस वर्ष भी इन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार किया एवं काफी अल्प समय में दिन रात परिश्रम कर इस कार्य के सम्पादन में जिस कर्त्तव्यनिष्ठा और लगन का परिचय दिया है उसके लिये मेरे पास श्री पोल्याकाजी का आभार प्रकट करने हेतु शब्द नहीं मिल रहे हैं। आपके सम्पादकीय लेख एवं लेखों पर टिप्पणियाँ आपकी विद्वत्ता, निस्पक्षता एवं निडरता की द्योतक हैं जो आप स्वयं को ज्ञात हो जायगा।

इसके अतिरिक्त वे लेखकगण एवं कवि भी हमारे अत्यधिक साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपनी रचनायें स्मारिका में प्रकाशनार्थ भेजीं। स्थानाभाव से कुछ रचनायें स्मारिका में स्थान नहीं पा सकीं इसके लिये हम क्षमा प्रार्थी है।

आर्थिक सहयोग के बिना किसी भी प्रकार का प्रकाशन कार्य संभव नहीं है। स्मारिका की अर्थ व्यवस्था सभा द्वारा विज्ञापन के माध्यम से ही की जाती है एतदर्थ एक प्रबन्ध समिति का गठन किया गया जिसके संयोजन का दायित्व श्री सुमेरकुमारजी जैन पर डाला गया। इस वर्ष इस कार्य में श्री जैन के अतिरिक्त सर्व श्री राजकुमारजी काला, देवेन्द्रराजजी मेहता, देशभूषणजी सौगाणी, ज्ञानचन्दजी जैन, मुन्नीलालजी जैन, कैलाशचन्दजी बैद, विद्याविजय काला, कपूरचन्दजी पाटनी, भागचन्दजी छाबड़ा, प्रकाशचन्दजी ठोलिया, आदि ने जो सहयोग दिया उसे भुलाया नहीं जा सकता। अर्थ संग्रह हेतु जो सहयोग सर्वश्री देवकुमारजी शाह, कैलाशचन्दजी सौगानी, कैलाशचन्दजी गोधा, सुरज्ञानीचंदजी लुहाड़िया, ताराचन्दजी साह, विनयकुमारजी पापड़ीवाल, लल्लूलालजी जैन, भागचंदजी छाबड़ा, राजेन्द्रकुमारजी बिल्टीवाला, ज्ञानचंदजी जैन, आदि ने जो अथक परिश्रम करके दिया उनके प्रति आभार प्रकट किये बिना भी नहीं रह सकता।

विज्ञापन दाताओं के अनुदान का ही यह फल है कि लागत से भी अत्यन्त अल्प मूल्य पर स्मारिका पाठकों के हाथों में पहुँचती है। यह पुण्य कार्य विज्ञापन दाताओं के सहयोग के बिना संभव नहीं है। इस वर्ष जिन संस्थानों ने अपने विज्ञापन प्रदान कर हमें सहयोग प्रदान किया है उनका हम हृदय से आभार मानते हैं तथा भविष्य में भी उनसे इसी प्रकार के सहयोग की आशा करते हैं।

स्मारिका का प्रस्तुत अंक कैसा है यह निर्णय करना पाठकों का कार्य है। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इसमें रहने वाली त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते रहें जिससे कि तदनुरूप उनमें सुधार होता रहे। इस वर्ष की स्मारिका पर आपका अभिमत साग्रह आमंत्रित है।

स्मारिका का मुद्रण कार्य मूनलाइट प्रिंटर्स ने किया। मुद्रण की अवधि में आने वाले कई व्यवधानों के बावजूद स्मारिका का समय पर प्रकाशित होना उनके अथक परिश्रम एवं सहयोग के बिना संभव नहीं था। इस हेतु संस्थान के मालिक श्री महावीरप्रसादजी जैन तथा उनके सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं।

● बाबूलाल सेठी
मंत्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा जयपुर

संक्षिप्त परिचय

● बाबूलाल सेठी
मंत्री
राजस्थान जैन सभा

राजस्थान जैन सभा जयपुर जैन समाज का एक मात्र ऐसा प्रतिनिधि संगठन है जो जैन समाज के सभी वर्गों को संगठित कर उसके सर्वांगीण विकास में सतत प्रयत्नशील है। लगभग 25 वर्ष पूर्व दिनांक 16 अक्टूबर 1953, को समाज के जागरूकनवयुवकों ने आपसी मतभेदों को मिटाकर, संस्थाओं के नाम एवं पदों का मोह त्याग कर राजस्थान जैन सभा की स्थापना की थी। यह वर्ष सभा का रजत जयन्ती वर्ष है।

विशुद्ध धार्मिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं को प्रधानता देकर वास्तविक धर्म का मर्म समझाते हुए जैन समाज की साहित्यिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के हेतु आवश्यक कार्य करना ही सभा का एक मात्र लक्ष्य है। इन लक्ष्यों की पूर्ति हेतु सभा का स्वयं का एक संविधान है जो राजस्थान सोसाइटीज एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत है।

जनमानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से पर्यूषण पर्व, क्षमापन समारोह, महावीर जयन्ती समारोह तथा निर्वाणोत्सव पर विशेष समारोह तथा समय-समय पर व्याख्यानों-प्रवचनों के आयोजन एवं साहित्य प्रकाशन सभा की मुख्य गतिविधियाँ रही हैं।

गत वर्ष में किये गये कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(अ) समारोह :

(1) महावीर जयन्ती समारोह :

समस्त जैन समाज के सहयोग से यह समारोह 26 मार्च, 1977 से 2 अप्रैल 77 तक निम्न कार्यक्रमों के रूप में मनाया गया :

26 मार्च, 1977 को प्रातः सी स्कीम स्थित महावीर स्कूल के प्रांगण में 'भगवान महावीर की देन' विषय पर निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसमें श्री जिनेन्द्रकुमार सेठी प्रथम तथा संजय जसौरिया द्वितीय रहे। श्री नासिर हुसैन खां का प्रयास भी प्रशंसनीय रहा।

30 मार्च, 77 की रात्रि को बड़े दीवानजी के मंदिर में भजन संगीत संध्या का आयोजन श्री तेज-करण जी सा. डंडिया की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। श्री राजरूपजी सा. टांक विशेष अतिथि थे। विभिन्न संस्थाओं के सभी आयु वर्ग के व्यक्तियों ने आध्यात्मिक भजन एवं गीत प्रस्तुत किये।

31 मार्च, 77 की रात्रि को आत्मानन्द सभा भवन में 'जीवन और अहिंसा' विषय पर भाषण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे बैठे हुए :—सर्वश्री अरुणकुमार सोनी, सुभाष काला, महेशचन्द काला

कुर्सी पर :—सर्वश्री रमेशचन्द गंगवाल, सुरज्ञानीचन्द लुहाडिया, कपूरचन्द पाटनी, ताराचन्द शाह, राजकुमार काला, सुमेरकुमार जैन, बाबूलाल सेठी, कुमारी प्रीति जैन, राजेन्द्रकुमार बिल्टी वाला

खड़े हुए :—सर्व श्री प्रकाशचन्द ठोलिया, तेजकरण सौगानी, शान्तिकुमार गोधा, लल्लूलाल जैन, बलभद्र कुमार जैन, ज्ञानचन्द जैन, भागचन्द छाबड़ा, ज्ञान प्रकाश बख्शी, सूरजमल सौगानी

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतियोगिता का आयोजन प्रो. प्रवीणचन्दजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। जिसमें विभिन्न शिक्षण संस्थाओं की छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। कुमारी मंजु प्रथम, श्री सुभद्र पापड़ीवाल द्वितीय तथा रोहित मोदी तृतीय रहे।

1 अप्रेल, 1977 को प्रातः प्रभात फेरी निकाली गई जिसमें विभिन्न भजन मंडलियों ने सक्रिय सहयोग दिया। रात्रि को लाल भवन में श्रीमती आशा गोलेछा की अध्यक्षता में एक महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें डा० चन्द्रकांता डंडिया ने विशिष्ट अतिथि के रूप में सम्मेलन को सम्बोधित किया। इस अवसर पर विभिन्न महिला वक्ताओं ने अपने विचार प्रकट किये तथा विभिन्न संस्थाओं ने भजन, नृत्य संवाद आदि के कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

2 अप्रेल 77 को प्रातः $6\frac{1}{2}$ बजे महावीर पार्क से एक विशाल जुलूस प्रारम्भ हुआ जिसमें लगभग 25-30 हजार का जन समुदाय सम्मिलित हुआ। जुलूस में विभिन्न शिक्षण संस्थाओं एवं मंडलों द्वारा भगवान महावीर के सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह व स्याद्वाद के संदेश से संबंधित झांकियां एवं एक सुसज्जित रथ में 'जिनवाणी' जुलूस के विशेष आकर्षण रहे। महिला मंडलों द्वारा एक ही वेश भूषा में एवं पूर्ण अनुशासन बद्ध भजन प्रस्तुतीकरण भी एक भव्य आकर्षण रहा। जुलूस के दृश्य का आँखों देखा हाल बड़े ही रोचक ढंग से श्री बुद्धिप्रकाशजी भास्कर ने प्रसारित किया।

जुलूस नगर के प्रमुख बाजारों में होता हुआ रामलीला मैदान में पहुंचकर एक सार्वजनिक सभा में परिवर्तित हो गया। सभा में कुमारी प्रीति के मंगलाचरण के पश्चात् श्री मांगीलालजी जैन न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, राजस्थान ने झंडारोहण किया। इस अवसर पर जन समुदाय को संबोधित करते हुये उन्होंने कहा कि भगवान महावीर के उपदेशों के अनुसार आचरण द्वारा ही विश्व सुख और शान्ति का मार्ग अपना सकता है।

इस अवसर पर पूज्य साध्वी श्री मणिप्रभाजी, मुनि श्री रूपचन्दजी तथा आचार्य श्री संभवसागरजी के भी प्रवचन हुये। आचार्य श्री संभवसागरजी ने कहा कि धर्म किसी व्यक्ति विशेष का नहीं परन्तु जो वैसा आचरण करे उसका ही है। मुनिश्री रूपचन्दजी ने कहा कि श्वेताम्बर मन्दिर या दिगम्बर मन्दिर तो मिलते है पर जैन मन्दिर नहीं। श्री नाथूलालजी जैन सदस्य लोक सेवा आयोग ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि मनुष्य जन्म से नहीं बरन् पुरुषार्थ से भगवान बनता है और प्रत्येक प्राणी प्रयास द्वारा यह पद प्राप्त कर सकता है।

रात्रि को 8 बजे एक वृहद् सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन श्री रणजीतसिंहजी कूमट, जिलाधीश जयपुर की अध्यक्षता में किया गया जिसमें विभिन्न शिक्षण संस्थाओं व मण्डलों ने बड़े ही आकर्षक नाटक, भजन और नृत्य प्रस्तुत किये। विशिष्ट अतिथि श्री हीराभाई एम. चौधरी ने इस अवसर पर विजेताओं को पुरस्कार वितरित किये।

(2) दशलक्षण पर्व समारोह:—

भौतिकता के द्वन्द्व फन्द से व्याप्त एवं आकुलित मानव को आध्यात्मिकता का रसास्वादन करा कर शान्ति का आभास कराने की दृष्टि से प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया गया। समारोह का उद्घाटन श्री त्रिलोकचन्दजी जैन, उद्योगमंत्री, राजस्थान ने किया। पं. अभयकुमारजी जबलपुर वालों ने दश धर्मों पर प्रतिदिन मार्मिक प्रवचन एवं श्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशचन्दजी जैन, डा० डी. कुमार, पं० भंवरलाल पोल्याका, श्री मोहनलालजी जोशी, डा० नरेन्द्र भानावत, श्री विद्यानन्दजी काला, डा० मूलचन्द सेठिया, श्री प्रवीणचन्दजी छाबड़ा, श्री तेजकरणजी डंडिया, श्री कपूरचन्दजी पाटनी, श्री निहालचन्दजी पाण्ड्या, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। श्री महावीर दि. जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, पद्मावती कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय, वीर बालिका संघ, श्री महावीर दि. जैन बालिका विद्यालय एवं श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय द्वारा संवाद व भजन आदि प्रस्तुत किये गये।

(3) **क्षमापन पर्व समारोहः—**

सदा की भांति विश्व प्रेम की भावना को जागृत करने हेतु सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह, दिनांक 29 सितम्बर, 1977 को प्रातः $7\frac{1}{2}$ बजे रामलीला मैदान में श्री त्रिलोकचन्दजी जैन उद्योग मंत्री की अध्यक्षता में मनाया गया। इस अवसर पर मुख्यअतिथि श्री भैरोंसिहजी शेखावत मुख्य मन्त्री राजस्थान ने जन समुदाय को संबोधित करते हुए कहा कि हमारी क्षमा शाब्दिक व औपचारिक मात्र न होकर वास्तविक एवं हृदय से होनी चाहिये। आध्यात्मिक प्रवक्ता पं० अभयकुमारजी ने कहा कि तत्वज्ञान के अभ्यास द्वारा हम कषायों का शमन करें ताकि क्रोध व बैर उत्पन्न ही न हो। अध्यक्षीय भाषण करते हुये श्री जैन सा. ने कहा कि इस महान पर्व पर बैर भाव उत्पन्न न करें एवं जरूरत मन्द व्यक्तियों की सहायता करें।

(4) **शोध प्रबन्ध के आपत्तिजनक अंश पर विरोधः—**

वीणा जैन नामक शोध छात्रा ने पी. एच. डी. की उपाधि हेतु दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध विभाग में प्रस्तुत अपने शोध प्रबन्ध में अहिंसा के प्रतिष्ठापक भगवान महावीर का अपने जीवन काल में मांस भक्षण करने एवं जैन मुनि अकाल आदि विशेष परिस्थिति में अपने जीवन रक्षार्थ मांस मछली आदि के सेवन का उल्लेख करने को सभा के तत्वावधान में दि. 24 सितम्बर 77 की आयोजित समस्त जैन समाज की सभा में विरोध किया गया एवं केन्द्रीय सरकार एवं विद्यालय को इस आपत्तिजनक अंश को शोध ग्रंथ में से निकालने हेतु निवेदन किया।

(5) **रजत जयन्ती समारोहः—**

16 अक्टूबर 1977 को सभा के रजत जयन्ती वर्ष के प्रवेश अवसर पर प्रातः एक सामूहिक पूजन का दिग. जैन नशिया विजयरामजी पांड्या में आयोजन किया गया एवं रचनात्मक कार्यों के किये जाने हेतु विचार विमर्श किया।

(6) **शोक सभाः—**

27 अक्टूबर 77 को समाज शिरोमणी साहू शांतिप्रसादजी के असामयिक निधन पर एक शोक सभा का आयोजन दि. 30 अक्टूबर को प्रातः महावीर पार्क में किया गया। सर्व प्रथम सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला ने साहू साहब के चित्र को माल्यार्पण किया। इस अवसर पर समाज की 23 संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने साहू सा. के द्वारा किये गये कार्यों पर प्रकाश डालते हुए भावभीनी श्रद्धाजलियां अर्पित की। अन्त में 2 मिनट का मौन रख कर सामूहिक श्रद्धांजली अर्पित की गई।

(7) **महावीर निर्वाणोत्सव समारोहः—**

11 नवम्बर 1977 को बड़े दीवान जी के मन्दिर में निर्वाण दिवस की सांध्य बेला में आयोजित किया गया। जिसमें डा० हुकमचंदजी भारिल्ल एवं पं० मिलापचन्दजी शास्त्री ने समारोह की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमापन पर्व समारोह 1977

राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री शेखावत सभा को सम्बोधित करते हुए

श्री राजकुमार काला अध्यक्ष राजस्थान जैन सभा समारोह के अध्यक्ष श्री त्रिलोकचन्द जैन उद्योग मंत्री राजस्थान का स्वागत करते हुए

राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री भैंरोंसिंह शेखावत, मुख्य अतिथि तथा श्री राजकुमार काला अध्यक्ष राजस्थान जैन सभा मंत्रणा करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only library.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्ता पर प्रकाश डालते हुये सभा को क्रियात्मक ठोस कार्यों एवं संगठन द्वारा समाज का धार्मिक कर्त्तव्यों की ओर आकृष्ट करने का दायित्व पूर्ण करने को कहा। इस अवसर पर भजन व कविता आदि भी प्रस्तुत किये गये।

(8) **जैन मेला—**

दि. 18 दिसम्बर 77 को महावीर स्कूल सी-स्कीम के प्रांगण में एक 'जैन मेले' का आयोजन किया गया। इस अवसर पर कला प्रदर्शनी आयोजित की गई जिसका उद्घाटन श्री तेजकरणजी सा. डंडिया ने किया। समाज के सभी आयु के सदस्यों के लिये विभिन्न खेल कूद प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। जिसका उद्घाटन श्री सुरेन्द्रकुमारजी जैन ने किया। इसमें प्रौढ़ महिलाओं एवं पुरुषों की संगीत—कुर्सी दौड़ एवं बच्चों की फैन्सी ड्रेस, शो का कार्यक्रम विशेष आकर्षण रहे। विजेताओं को श्री सुमेरकुमार जैन द्वारा पुरस्कार वितरण किये गये। इस अवसर पर बाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ नवरंग बाल विद्यालय के सहयोग से बूट पालिस का भी आयोजन रखा गया। सबसे वयोवृद्ध श्री चिरंजीलालजी सा. वैद को शाल भेंट कर उनका अभिनन्दन किया गया। इस अवसर पर समाज की विभिन्न सहयोगी संस्थाओं ने अपनी अपनी स्टालों पर लागत मूल्य पर पेय व भोज्य सामग्री उपलब्ध करायी। लाटरी द्वारा महाराजा, महारानी व राजकुमार-राजकुमारी का भी चयन किया गया। शाम को सभी ने अपने-अपने मिठाई रहित भोजन से सहभोज किया।

(9) **जैन मुनियों पर किये गये उपद्रवों की तीव्र भर्त्सना:—**

दि. 3 व 4 जनवरी 78 को तिरुची में असामाजिक तत्वों द्वारा आचार्य श्री निर्मलसागरजी एवं उनके संघ पर असामाजिक तत्वों द्वारा किये गये उपद्रवों के प्रति विरोध प्रकट करने हेतु दिनांक 28 जनवरी, 78 को समस्त जैन समाज की एक सभा आयोजित की गई जिसमें किये गये उपद्रवों की घोर भर्त्सना की गई एवं संबंधित व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही हेतु केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के संबंधित अधिकारियों से निवेदन किया गया।

अनौचित्यपूर्ण करारोपण का विरोध

ग्राम पंचायत श्री महावीरजी ने पंचायत के आय के साधन बढ़ाने के नाम पर तीर्थ यात्री कर (50 पैसे प्रति यात्री) चुंगीकर व वाहन कर लगाने के जो अनौचित्यपूर्ण निर्णय लिये हैं उसका विरोध प्रकट किया गया एवं राज्य सरकार से निवेदन किया गया कि वे इस संबंध में शीघ्र हस्तक्षेप कर शीघ्र ही ग्राम पंचायत श्री महावीरजी को बाध्य करें कि वे करारोपण संबंधी आदेश वापिस लें।

(ब) साहित्य प्रसार:—

स्व. पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से सभा ने 1962 से भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और वह सभा का एक नियमित प्रकाशन बन गया। इसमें जैन दर्शन, इतिहास, संस्कृति और साहित्य पर अधिकृत विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख व कविताएं रहती हैं प्रारम्भ में स्मारिका का सम्पादन पूज्य पंडित साहब ने स्वयं किया और पं० जी के स्वर्गवास के पश्चात् इस गुरुतर कार्य का दायित्व श्री भंवरलालजी पोल्याका द्वारा उठाया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर लघु पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य भी सभा ने किया जिसमें 108 मुनि श्री विद्यानन्दजी एवं डा० हुकमचंदजी भारिल्ल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा लिखित पुस्तकों का एवं भजनावली आदि का प्रकाशन विशेष उल्लेखनीय हैं।

(स) सामाजिक गतिविधियाँ:—

जैन सभा की गतिविधियाँ केवल समारोह आयोजन एवं साहित्यप्रचार तक ही सीमित नहीं हैं अपितु जब भी सामाजिक क्षेत्र में कोई समस्या उत्पन्न हुई सभा ने आगे आकर यथासम्भव समाधान करने का प्रयत्न किया है। राजस्थान विधान सभा में प्रस्तुत नग्न विरोधी बिल को वापिस कराने तथा राजस्थान ट्रस्ट में आवश्यक संशोधन कराने, राज्य सरकार से अनन्त चतुर्दशी एवं संवत्सरी का ऐच्छिक अवकाश स्वीकृत कराने, सांगानेर में जमीन से प्राप्त जैन मूर्तियों को समाज के सुपुर्द कराने तथा आयकर में हुये संशोधन से समाज को अवगत कराने पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम की जानकारी देने एवं विरोध प्रकट करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

समाज में व्याप्त कुरूढ़ियों और कुरीतियों के विरुद्ध भी यह सभा सदैव जागरूक रही है। समाज में सगाई एवं विवाह आदि के अवसर पर दहेज की मांग, ठहराव आदि को सदैव बुरी दृष्टि से देखती रही है और इन बुराइयों को दूर करने में सदैव प्रयत्नशील है।

युवकों को नैतिकता और धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये सभा शिक्षण शिविर लगाने की योजना रखती है। वर्तमान परिस्थिति के सन्दर्भ में धार्मिक ज्ञान के प्रसार के लिये आवश्यक वाचनालय प्रारंभ करने का भी विचार है। योग्य छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्तियां देने तथा असहाय विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु औद्योगिक प्रशिक्षण देने की भी एक योजना विचाराधीन है। नवयुवकों को पश्चिमी सभ्यता से परे हटाने के लिए सात्विक एवं सांस्कृतिक क्लबों की स्थापना तथा विचार गोष्ठियों द्वारा सामाजिक कुरीतियों के प्रति जागृति करना भी सभा के लक्ष्य हैं।

सभा की आर्थिक स्थिति तथा संगठनात्मक पहलू सुदृढ़ नहीं है इस कारण चाहते हुये भी सभा अपने लक्ष्यों को पूर्ण करने में असमर्थ रही है। आप सबके तन-मन-धन के सहयोग से आशा है भविष्य में लक्ष्यों को प्राप्त करेगी।

सभा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न आयोजनों व कार्यक्रमों में जहाँ कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्यों का सहयोग रहा है वहां सर्वश्री देवेन्द्रराजजी मेहता, हीराचन्द वैद, तिलकराज जैन, निहालचंद जैन, राजरूप टांक, हीराभाई एम. चौधरी, पं. मिलापचन्द शास्त्री, केवलचन्द ठोलिया, जसवन्तसिंह सांघी, डा० हुक्मचंद भारिल्ल, पन्नालाल बांठिया, मूलचन्द पाटनी, रमेशचन्द पापड़ीवाल, प्रकाशचन्द जैन, तेजकरण डंडिया, माणिक्यचन्द्र जैन, सूरजमल बैद, नवीनकुमार बज, सौभाग्यमल रांवका, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, विनयकुमार पापड़ीवाल, देशभूषण सौगानी, रामचरण जैन, अशोक लुहाडिया, देव कुमार साह, कैलाशचन्द सौगानी, राजकुमार जैन, राजकुमारजी बरड़िया, ताराचन्दजी चौकड़ायत, अशोककुमारजी पांड्या मुन्नीलालजी अजमेरा, सुरेन्द्रकुमारजी जैन आदि के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता। श्री वीर सेवक मण्डल और अन्य सभी शिक्षण संस्थाओं भजन मण्डलियों आदि का भी सभी कार्यक्रमों में पूर्ण रचनात्मक सहयोग रहा है। सभा सभी व्यक्तियों एवं संस्थानों के प्रति आभार प्रकट करती है।

समाज के प्रत्येक सदस्य से सभा को तन, मन एवं धन द्वारा सहयोग एवं सुझाव की अपेक्षा के नम्र निवेदन के साथ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

卐

सभा के उपाध्यक्ष श्री ताराचन्द साह महावीर जयन्ती पर विशाल सभा को सम्बोधित कर रहे हैं।

卐

क्षमापन पर्व समारोह 1977

卐

श्री प्रकाशचन्द ठोलिया संयुक्तमंत्री राजस्थान जैन सभा जयपुर विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए

卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती स्मारिका, 1977
लोकदृष्टि में

प्रात: स्मरणीय श्रद्धेय गुरुवर स्व० पं० चैनसुखदासजी की प्रेरणा से उन्ही के सम्पादकत्व में राजस्थान जैन सभा ने इस स्मारिका का प्रकाशन 16 वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया और तब से यह महावीर जयन्ती के पावन अवसर पर दो वर्षों को छोड़कर प्रतिवर्ष निरन्तर प्रकाशित हो रही है।

श्रद्धेय गुरुवर के पश्चात् उन्हीं के योग्य शिष्य आदरणीय अग्रज श्रीमान् भंवरलालजी पोल्याका के कंधों पर इस स्मारिका के संपादन का भार आया जिन्होंने सफलतापूर्वक पिछली एक दशाब्दी से इसको वहन किया हुआ है।

यह स्मारिका भारत भर में निकलने वाली स्मारिकाओं में अपना शीर्ष स्थान रखती है। विद्वानों ने इसे सिर आंखों पर उठा के रखा है। इस सम्बन्ध में हर वर्ष उच्च कोटि के विद्वान् व पाठक गरण तथा समाचार पत्र पत्रिकायें अपनी सम्मतियां प्रकट करते हैं तथा श्री. पोल्याकाजी को बधाईयां देते हैं किन्तु श्रद्धेय गुरुवर की भांति ही स्व-प्रशंसा से दूर रहने वाले श्री. पोल्याका जी ने कभी इन सम्मतियों को प्रशस्तियों को स्मारिका में प्रकाशित नहीं कराया। इस वर्ष मेरी बाल-हठ ने अग्रजजी को सहमत करा ही लिया है। 1977 की स्मारिका के सम्बन्ध में कुछ उद्गार प्रस्तुत हैं।

राजमल जैन बेगस्या
सहायक सम्पादक

"यह पत्रिका शोध स्तर की है।

प्राय: सभी लेखकों के लिये परिचयात्मक टिप्पणियां लिखकर सम्पादक ने पत्रिका को बहुत ही उपयोगी बनाया है। पत्रिका को चार खण्डों में विभाजित कर संपादक ने सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

पत्रिका की साज सज्जा एवं छपाई सुन्दर है। सम्पूर्ण पत्रिका जैन कला, संस्कृति एवं साहित्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण प्रदान करती है"

नवभारत टाइम्स दि. 1 जून 1977

"इसमें अनेक विद्वानों के लेख हैं जो सबके सब पठनीय तथा मननीय हैं ऐसी विद्वत्तापूर्ण तथा सुरुचिपूर्ण स्मारिका निकालने के लिये, राजस्थान जैन सभा बधाई की पात्र है"

जयपुर इतवारी पत्रिका दि. 15 मई 1977

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"कुल मिलाकर भारत के प्रसिद्ध जैनाजैन विद्वानों द्वारा लिखित 82 लेख तथा कवितायें इसमें है। लेखों पर प्रधान सम्पादक के परिश्रमपूर्वक लिखे गये टिप्पण हैं जो लेखों की विषय–वस्तु के समझने में सहायक हैं। सम्पादकीय भी पठनीय है। पग पग पर सम्पादक की सूझ-बूझ और परिश्रम का दिग्दर्शन होता है"

दैनिक नवज्योति जयपुर दि. 28–8–77

"महावीर जयन्ती पर्व पर यों तो अनेक स्मारिकायें प्रकाशित हुई किन्तु राजस्थान जैन सभा जयपुर की यह साहित्यिक स्मारिका सामग्री की दृष्टि से बेहतर है।

प्रकाशन की छपाई, सफाई सुन्दर है"

राष्ट्रदूत दैनिक जयपुर 11 सित० 77

"उर्दू में पूर्ण विकसित चन्द्र को चौदहवीं का चांद कहा जाता है, स्मारिकाओं में प्रस्तुत स्मारिका सचमुच पूनम के चांद जैसी ही है।

भव्य मुखपृष्ठ, उत्तम मुद्रण, साथ ही उच्च कोटि के सम्पादन से समृद्ध यह वृहत्काय स्मारिका जैन साहित्य के वर्तमान प्रकाशनों में अपना स्थान बनायेगी इसमें सन्देह नहीं।

प्रधान सम्पादक महोदय के श्रम की छाप पूरी स्मारिका पर दिखाई देती है"

युगवीर साप्ताहिक पटना 26 मई 77

"बड़े आकार की लगभग 300 पृष्ठों की प्रस्तुत स्मारिका कुल मिलाकर एक शोध ग्रन्थ का रूप लिये हुये है। अधिकांश निबन्ध न केवल उपयोगी हैं, अपितु स्थायी मूल्यों के हैं। स्मारिकाएं बहुत प्रकाशित होती हैं, लेकिन वे मात्र तात्कालिक प्रयोजन तक सीमित रह जाती हैं। लेकिन प्रस्तुत स्मारिका अपना चिरन्तन मूल्य बनाये रखेगी। निश्चित ही सम्पादक व प्रकाशक अपने श्रम तथा मनीषा के लिये बधाई के पात्र हैं।"

कथालोक मासिक दिल्ली मई 1977

"प्रस्तुत स्मारिका का सातत्य अपनी एक विशेषता है। स्व० पं. चैनसुखदासजी का यह बिरवा सिंचित होता रहता है, यह राजस्थान जैन सभा का कीमती योगदान है। सम्पादक निष्ठा-पूर्वक प्रतिवर्ष बिना किसी विवाद में पड़े, साधना-तपस्या पूर्वक संपादन करके एक पठनीय वस्तु प्रदान करते हैं।

सामग्री का चयन सुरुचिपूर्ण, खोजपूर्ण तथा ज्ञानवर्धक है।"

श्रमण मासिक वाराणसी मई 1977

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इसके पांच खण्डों में अन्तिम खण्ड के 90 पृष्ठ केवल विज्ञापनों के हैं, जिससे राजस्थान जैन सभा और इसके कार्यकर्त्ताओं की लोकप्रियता का परिचय मिलता है।

लेखों पर प्र० सम्पादक की गागर में सागर की सी टिप्पणियां उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत **विशेषांक** पठनीय एवं संग्रहणीय है।"

सम्मति वाणी मासिक इन्दौर, मई1977

"यह वार्षिक स्मारिका साहित्य सेवा में निष्ठा और लगन के साथ 14 वर्ष से अग्रसर है। **सुयोग्य सम्पादक महोदय ने इसके स्तर को सदैव सुरक्षित रखा है।**

इतने सुन्दर बोधपूर्ण साहित्य का संकलन करने के लिये सम्पादक का प्रयत्न सराहनीय है।"

सन्मति संदेश मासिक, नई दिल्ली जुलाई 77

"जयपुर में वीर जयन्ती पर स्मारिका प्रकाशन की परम्परा का प्रारम्भ पूज्य गुरुदेव पं० चैनसुखदासजी द्वारा किया गया था, उसी कड़ी में यह 14 वां पुष्प है। प्रस्तुत सभी लेखों के रचनाकार अधिकारी विद्वान हैं फलतः यह स्मारिका सन्दर्भ ग्रंथ के रूप में मानी जानी चाहिये। हर दृष्टि से स्मारिका पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। लेख मंगाकर सुन्दर ढंग से चयन करना, प्रत्येक लेख को पूरा पढ़कर उसका संक्षिप्त सार लिखना और वह भी अल्प समय में-सचमुच यह कार्य भाई पोल्याकाजी के कठिन परिश्रम का द्योतक है।

प्रत्येक पुस्तकालय में इसका संग्रह अपेक्षणीय है।"

वीर वाणी पाक्षिक जयपुर–3 मई 1977

"उत्तमोत्तम लेखादि से युक्त जयपुर में प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली यह वृहत्काय स्मारिका वास्तव में बेजोड़ होती है। लेखों पर प्रारम्भिक सम्पादकीय परिचयात्मक टिप्पणी सुन्दर तथा महत्वपूर्ण होती है। इसी प्रकार की टिप्पणियां कविताओं पर भी होनी चाहिये।

निश्चय और व्यवहार नय के सम्बन्ध में सम्पादकीय सुन्दर है।"

ज्ञान कीर्ति लखनऊ (तीसरा अंक)

विद्वानों, मनीषियों से प्राप्त पत्र

"स्मारिका बहुत सुन्दर निकली है। उसमें आपने बड़ी उपयोगी सामग्री का संचय किया है। भगवान महावीर के जीवन और सिद्धांतों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—उसके पीछे आपका परिश्रम और सूझबूझ है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये।"

यशपाल जैन
संपादक–जीवन साहित्य
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मेरा अभिमत है कि यह तो 'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति ......'वाली उक्ति चरितार्थ करती है। वर्ष में एक ही अंक निकालते हैं, पर मानसिक भोजन इतना उत्कृष्ट और सुस्वादु रहता है कि जिसका रसास्वादन महिनों तक आनन्द विभोर किये रहता है।"

कुन्दनलाल जैन
एम. ए (संस्कृत, हिन्दी) एल. टी. साहित्य शास्त्री
प्रिन्सिपल शिक्षा निदेशालय, दिल्लीप्रशासन, दिल्ली।

"स्मारिका का स्तर पूर्व स्मारिकाओं जैसा ही है, बल्कि यह स्मारिका उनसे भी अधिक सामग्री और विचार प्रदान करती है। कई लेख बड़े ही महत्वपूर्ण और नये चिन्तन को लिए हुए हैं।

स्मारिका के समस्त लेख चुने हुये हैं। आपका सम्पादकीय और सम्पादकीय टिप्पणियां मर्मस्पर्शी हैं। आपको भी मेरा हृदय से धन्यवाद।

इस यज्ञ की आरम्भक राजस्थान जैन सभा को भी कम साधुवाद नहीं, उसका यह प्रयास श्रेयस्कर है।

डा. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, वाराणसी।

"विपुल सामग्री जुटाई है आपने। प्रत्येक लेख में सम्पादकीय टिप्पणी उल्लेखनीय है। इस सुन्दर प्रयास के लिये आप निश्चित ही बधाई के सुपात्र हैं।"

डा. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया
एम. ए. पीएच. डी., डी. लिट्
मानद संचालक, जैन शोध अकादमी
आगरा रोड, अलीगढ़।

"महावीर जयन्ती स्मारिका पढ़कर निहाल हो गया। साहित्यिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक व शोध सामग्री की अनुपम थाती संजोये स्मारिका का जितना भी बखान करूं थोडा है। सर्वाङ्गीण सुन्दर सलोनी यह स्मारिका यथा नाम तथा गुण की गरिमा से समलंकृत है। कृपया साधुवाद स्वीकार करने का कष्ट करें।"

डा. शोभनाथ पाठक
एम. ए. पीएच. डी. साहित्यरत्न
मेघनगर (म. प्र.)

"महावीर जयन्ती स्मारिका 1977 अपनी पूर्व परम्परा में रहते हुये भी एक उज्ज्वल प्रयत्न है। यह हमें शोध सामग्री ही प्रदान नहीं करती, वरन विशाल राष्ट्र में भगवान महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के पालन एवं अनुपालन की गतिविधियों का सचित्र ब्योरा भी प्रस्तुत करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह पत्रिका भारत के जैन समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती है।"

डा. जयकिशनप्रसाद, खण्डेलवाल
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, प्राचीन
भारतीय इतिहास एवं संस्कृति आदि)
एलएल. बी. पीएच. डी.
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
आर. बी. एस. कालेज, आगरा।

"पूर्व परम्परानुसार 1977 की स्मारिका भी एक श्रेष्ठ उपलब्धि है। ऐसी स्मारिका अन्यत्र दुर्लभ है। सामग्री अतीव स्तरीय तथा वैविध्यपूर्ण है। मेरा साधुवाद स्वीकार कीजिए। आप की साधना अत्यन्त गरिमामयी है।"

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
एम. ए. पीएच. डी.
असिसटेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

"स्मारिका में उच्च स्तरीय एवं ज्ञानवर्धक लेखों का संग्रह है। आपका परिश्रम सार्थक हुआ। आगामी स्मारिका को कुछ नवीन दुर्लभ सामग्री से आपूर्ण बनाने का प्रयत्न करेंगे। मेरी राय है कि आप राजस्थान में जैन धर्म एवं साहित्य पर अधिकाधिक सामग्री संचित करें। कार्य कुछ कठिन एवं श्रम साध्य है।"

डा. निजाम उद्दीन
हिन्दी विभागाध्यक्ष
इसलामिया कालेज, श्रीनगर।

"प्रतिवर्ष की भांति ही इस वर्ष की स्मारिका भी अनूठी है। लेख पठनीय, एवं शोध छात्रों के लिये उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक लेख पर दी गई आपकी टिप्पणी लेख के विषय को सुस्पष्ट करने में सहायक है। सम्पादन में किया गया आपका परिश्रम पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। बहुत कम संपादक इस प्रकार का श्रम करते हैं।"

प्रो. डा. बासुदेव शास्त्री
साहित्याचार्य, विद्यावारिधि (पीएच. डी.)
साहित्यविभागाध्यक्ष
राज० महाराजा आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
जयपुर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि आपके कुशल सम्पादन में राजस्थान जैन सभा जयपुर की यह महावीर जयन्ती स्मारिका अपना आकार-प्रकार. नियमितता एवं स्तर बनाये रखने में सफल रही है। इस वर्ष की स्मारिका में भी प्रभूत पठनीय सामग्री है। बधाई स्वीकार करें।"

विद्यावारिधि **डा. ज्योतिप्रसाद जैन**
सम्पादक--जैन सन्देश (शोधाङ्क), मथुरा
चार बाग, लखनऊ

"सम्पूर्ण स्मारिका महत्वपूर्ण लेखों और उत्कृष्ट कविताओं से परिपूर्ण है। लेखों के साथ प्र. सम्पादक की पारखी टिप्पणियों ने तो अंक में चार चांद लगा दिये हैं।

इतनी विशाल उपयोगी स्मारिका के लिये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें।"

श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि'
रामपुर यू. पी.

"स्मारिका सदृश प्रकाशनों को बुद्धिजीवी वर्ग के लिये नये चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करने के लिये निश्चय ही उपयोगी कहा जा सकता है। आप जयपुर से इस परम्परा का जनोपयोगी प्रकाशन कर सतत निर्वाह कर रहे हैं, इसका हर्ष है।

मेरी पुनः शुभकामनाएं।"

(कैप्टेन सेठ मर) **भागचन्द सोनी**
अजमेर।

"मेरे हृदय की डिक्शनरी नये विशेषण खोज रही है जो स्मारिका के उपयुक्त प्रतीत हो। हां, अग्रज जी, आपका अनुभव और सूझबूझ का धरातल, मुझे ही क्या, भारत के अन्यान्य बुद्धिजीवियों को चौंकाने लगा है।

आप सोच रहे होंगे "मैं लगातार प्रशंसा कर रहा हूं।" सच मैं दोष निकालने का भी आदी हूं, आज तक किसी को मैंने बक्शा नहीं है। चाहता था कि आप पर भी दोषारोपण करूं पर आपके सधे मन-मस्तिष्क ने अवसर ही प्रदान नहीं किया, बस यही दोष है आपका।

मेरी बधाई की ध्वनि उस ओर भी मुखरित हो रही है, जहां श्री राजकुमारजी काला, बाबूलालजी सेठी एवं सभा की सम्पूर्ण कार्यकारिणी कार्यरत है। यह सात्विक बधाई डा. नरेन्द्र भानावत और श्री रमेशचन्द्र गंगवाल की ओर भी जाती है।"

सुरेश 'सरल'
(कई पुस्तकों के लेखक, सम्पादक)
गढा फाटक, जबलपुर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"महावीर जयन्ती स्मारिका 1977 ग्रंथ रत्न प्राप्त हुआ। पढकर देखकर मन गद् गद् हो गया और कुछ काव्य पंक्तियां लिखने को उत्साहित हुआ जो प्रेषित हैं।

गूंथ गूंथ कर सुधर सजाई,
महावीर यश की मणिमाला।
एक नहीं पूरी पंक्तियां
पढ़कर मन में हुआ उजाला।।
बड़ा परिश्रम, बड़ी योजना,
कितने दिन में सफल बनाई।
यह स्मारिका या कि स्मारक,
बनकर एक पत्रिका आई।।
सुन्दर साज अनोखी सज्जा
भूरि भूरि मन को ललचाये।
एक बार प्रारम्भ किया तो,
बार बार अध्ययन कराये।
राजस्थान जैन संगम की
यह कृति अनुपम आकर्षण है।
'पोल्याका' जी के पावनतम,
अनुभव का मंजुल दर्पण है।"

श्री घासीराम 'चन्द्र'
साहित्यरत्न
कमलागंज, शिवपुरी (म. प्र.)

"इतने थोडे समय में इतनी सारी महत्त्वपूर्ण सामग्री को इतने सुचारु ढंग से प्रकाशित करने में आपने जो कठिन कार्य किया है, वह वास्तव में बड़ा प्रशंसनीय है। सामग्री जैन कला, साहित्य एवं धर्म में रुचि रखने वालों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।"

डा. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, गाजियाबाद
कीपर राष्ट्रीय संग्रहालय,
नई दिल्ली।

"प्रस्तुत अंक में इतिहास, संस्कृति और साहित्यिक विषयों की सामग्री विशेष सराहनीय है। समयोचित 'स्मारिका' प्रगति पर है और आगे भी यही परम्परा बनी रहे ऐसी मेरी कामना है।"

पं० उदयचन्द शास्त्री, इन्दौर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मुख्य पृष्ठ पर जैन दर्शन के भावदर्शक और पंच कल्याणकों के सामूहिक भाव चित्रों की सूझ-बूझ एक अनोखी छटा है। साहित्यिक विविधा का समावेश स्मारिका में रखा गया है। हमारा एक सुझाव है कि रेखाओं द्वारा बोध वृत्तचित्रों को और समाहित किया जाये।"

पं० प्रेमचन्द 'दिवाकर,' शास्त्री
श्रीवर्णी स्नातक परिषद,
सागर (म. प्र.)

"राजस्थान जैन सभा का यह स्तुत्य कार्य जन-मानस को एक आध्यात्मिक क्रांति की दिशा देता है। लेख मौलिक और पुनरावृत्ति के दोष से मुक्त, ज्ञान पिपासा के शामक तथा शीर्षस्थ विद्वानों के हैं।

कविता के क्षेत्र में अवश्य कुछ लचीली बन पड़ी। मेरी विनय है कि अच्छे गीतकार से आप रचनायें आमन्त्रित करें और गद्य की भांति पद्य के स्वरूप को निखारें तो स्मारिका में वही सौन्दर्यता आजायेगी जैसे नवोढा के सोलह शृङ्गार से वह महक उठती है।"

प्रो. निहाल जैन,
नौ गांव (म. प्र.)

"समस्त रोचक साहित्य विधाओं से युक्त यह एक विशिष्टतम कृति बन गई है। स्मारिका को अपना साहित्यिक व भावनात्मक सहयोग देने हेतु सदैव तत्पर हूं।"

कुमारी उषा किरण
खमरिया, जबलपुर।

"स्मारिका आपने बहुत अच्छी निकाली। दिन प्रतिदिन आप उसका स्तर ऊंचा कर रहे हैं। रचनायें केवल तात्कालिक पढ़ने की ही नहीं हैं किन्तु स्थाई रूप से कुछ रचनायें उपयोगी तथा सन्दर्भ के रूप में काम आने योग्य होने से संग्रहणीय बन गई है। आपका हार्दिक अभिनन्दन। आशा है आप भविष्य में भी उसका स्तर इसी प्रकार बढ़ाकर सत्साहित्य में वृद्धि करेंगे।"

(स्व०) रिषभदास रांका, पूना
सम्पादक–जैन जगत, बम्बई।

"स्मारिका 1977, पांच भागों में अत्यन्त सुन्दर छपाई, सफेद कागज एवं उच्च कोटि के विद्वानों के लेखों से शोभित आकर्षक आवरणयुक्त अत्यन्त उपयोगी, धार्मिक तथा ऐतिहासिक उत्तम सामग्री के भरपूर है। मैं आपको तथा राजस्थान जैन सभा को स्मारिका के प्रकाशन पर हार्दिक बधाई भेंट करता हूं।"

दिगम्बरदास जैन, एडवोकेट
सहारनपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"स्मारिका माला का 14 वां मणिया मिला। बड़ी आभा है इसमें। अपने लघु परन्तु मार्के की टिप्पणी-तरंगों से उसे और भी निखार दिया है। कई ऐसे लेख हैं इसमें जो बड़े ही श्रम शोध के साथ तैयार किये गये हैं। कई नये उदीयमान लेखकों को सामने लाये हैं आप। आपके द्वारा स्मारिका सम्पादन क्या है एक मिशन है। बधाई।"

प्रतापचन्द जैन, आगरा

"स्मारिका सम्पादन और प्रकाशन की दृष्टि से अपने आप में पूर्णतया सफल है और उसके लिये आप सभी बधाई के पात्र हैं। इस स्मारिका में जहां सर्वाङ्ग सुन्दर शोध-मूलक दृष्टि के लिये उत्तेजक स्थिति दर्शक निबन्ध हैं वहां भावपूर्ण कलात्मक कवितायें भी हैं, एक कहानी और एक एकांकी भी है। अंग्रेजी विभाग की रचनायें भी बड़ी ज्ञानवर्धक हैं।"

लक्ष्मीचन्द 'सरोज' एम. ए.
सम्पादक–जैन संस्कृति
बजाज खाना, जावरा (म. प्र.)

"स्मारिका का आकार-प्रकार, साज-सज्जा एवं विषय वस्तु सब कुछ भव्य एवं स्पृहनीय है। अपनी अस्वस्थता के बावजूद आपने इसे सजाया संवारा है। इसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं। कुछ लेख स्तर के हैं तथा उनका गवेषणात्मक महत्व है। कुल मिलाकर स्मारिका भगवान महावीर सम्बन्धी विभिन्न सूचनाओं से भरपूर है, बधाई।"

डा. हरेन्द्रप्रसाद वर्मा,
रीडर–भागलपुर वि. वि.
भागलपुर।

"स्मारिका गौरवपूर्ण ऐतिहासिक परम्परा को लेकर एक शोध ग्रन्थ बन गई है। सुयोग्य सम्पादन एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण ने चार चांद लगा दिये हैं। अनेक-अनेक धन्यवाद के साथ।

ज्ञानचन्द 'ज्ञानेन्द्र'
साहित्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य
बाना (सागर) म. प्र.

"आपका प्रतिवर्ष का यह कार्यक्रम बहुत ही सराहनीय है। जिस कार्यकुशलता के साथ स्मारिका प्रकाशित की है, वह वास्तव में प्रशंशनीय है।

स्मारिका के लेखों से जो अल्प समय में अनेक विषयों की जानकारी मिलती है वह कई वर्षों के अध्ययन के बाद भी नहीं मिलती। स्मारिका के लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। आपको इस सफलता के लिये हार्दिक बधाई।"

पंडित लाड़लीप्रसाद जैन
सवाई माधोपुर (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आपने इस वृद्धापन में भी जैन समाज की जो सेवा की है और कर रहे हैं, वन्दनीय है। प्रतिवर्ष की स्मारिका इसका प्रमाण है, स्मारिका की छपाई-सफाई, लेखों का चयन प्रूफ आदि इतने मुश्किल काम हैं कि अच्छे से अच्छा नौजवान एक बार किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाय। मगर आप प्रतिवर्ष इसे एक नये आकर्षण के साथ पेश करते हैं। इसे देखकर श्रद्धा से माथा झुक जाता है, बधाई स्वीकारें।

हास्यकवि **हजारीलाल जैन** 'काका'
(बुन्देल खण्डी) सकरार (जिला झांसी)

"यह एक संदर्भ ग्रन्थ का रूप धारण कर गई है। कुछ लेख तो बड़े ही महत्व के हैं। कलेवर और सामग्री दोनों ही दृष्टियों से इसका स्थान स्वतः सर्वोपरि सिद्ध होता है।"

शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी
एम० ए० (पुरातत्व एवं संस्कृति)
पुरातत्व संग्रहालय, लखनऊ।

"स्मारिका एक प्रकार से इतिहास, कला, साहित्य, और धर्म-दर्शन का संदर्भ ग्रन्थ है।"

जिनवाणी (मासिक) जयपुर, नवम्बर, 1977

"प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी जैन सभा की यह वार्षिक स्मारिका न केवल विज्ञापनों से भरी है, बल्कि चार खण्डों में हिन्दी अंग्रेजी की अच्छी रचनाओं का सुन्दर संकलन एवं सम्पादन भी है। ....प्रथम एवं द्वितीय खण्ड के कुछ निबंध तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।............ स्मारिका पठनीय है।

जैन जगत, बम्बई, मई 1977

'स्मारिका के नियमित प्रकाशन और इसमें आने वाली महत्वपूर्ण सामग्री के कारण इसका महत्व बढ़ गया है। उच्च कोटि की सामग्री का चयन और उस पर सम्पादकीय टिप्पणियां स्वतः ही पाठक को एक बार पढ़ना प्रारंभ करने के पश्चात् पूर्ण स्मारिका का पठन न हो जाने तक छोड़ने का मन नहीं करता।.................

वल्लभ सन्देश, जयपुर
जुलाई 1977

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चमकते सितारे जो अस्त हो गये

यह वर्ष जैन शासन के लिये शुभ नहीं कहा जा सकता। इस वर्ष में दिगम्बर जैन समाज के शिरोमणि साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन हमें बिलखता छोड़कर चले गये। जिनवाणी के तपःपूत कट्टर सुधारक पं० परमेष्ठीदास जैन और प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलाल जैन, सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं समाज को कार्तकर्त्ताओं की सुन्दर टीम देने वाले प्राणिमात्र के सेवक श्री रिषभदास राँका, पं उदय जैन तथा प्राच्य साहित्य के प्रकाशक श्री सुन्दरलाल जैन हमारे बीच नहीं रहे। ये ऐसे व्यत्तित्व थे जिन पर समस्त जैन समाज को नाज था। ये व्यक्ति नहीं अपितु स्वयं में मूर्त संस्थाएं थे। इनके अभाव की समाज में पूर्ति होना सम्भव नहीं।

श्रावक शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद जैन

अनभिषिक्त सम्राट्, श्रावक शिरोमणि, दानवीर और समाज के कर्णधार साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन के बारे में कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो नही जानता हो। सरस्वती और लक्ष्मी के इस वरदपुत्र का गत 27 अक्टूबर को प्रातः हृदय गति रुक जाने से स्वर्गवास हो गया। आपके जीवन में धर्म, कर्म, अर्थ और मोक्ष की निरुपम संगति थी।

प्रेय व श्रेय के समान उपासक स्व० साहू जी का जन्म उत्तर प्रदेश के अंतर्गत नजीबाबाद के साहू घराने में 1912 में हुआ। आपके पितामह श्री सलेक चंद साहू थे। पिता श्री दीवानचंद जी और मातुश्री मूर्तिदेवी थीं।

आपका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा। यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अन्य वृष्टियों से भी। वे सभी सद्गुण और सद्वृतियां आप में विकसित हुईं, जो सफलता के शिखर तक पहुंचने के लिए आवश्यक हैं।

उद्योग के क्षेत्र में आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गंभीर अध्ययन किया तथा विविध विषय क्षेत्रों में निरंतर गवेषणाएँ कराईं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहूजी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा और सूझबूझ, संगठनक्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है।

विगत वर्षों में देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय–संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं : फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इंडियन चेम्बर आफ कामर्स, इंडियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, ईस्टर्न यू. पी. चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, आल आर्गनाईजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्पलायर्स। इसी अवधि में भारतीय श्रम-व्यवस्था सम्बन्धी नियम बनते समय आपने उद्योग-धन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण स्वर्गीय पं. जवाहरलालजी ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति गठित की थी, उसमें देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको इसका सदस्य बनाया गया।

साहू साहब की भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन में भी आंतरिक रुचि थी। भारतीय कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र में भी वे साधिकार चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा में वह अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकास-उन्नयन की दशा में आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् 1944 में भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापना एवं स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उनकी कार्य-प्रवृत्तियां विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और अब तक 11 पुरस्कारों के निर्णयों की कार्यविधि में अनवरत रुचि एवं मार्ग दर्शन, उनकी दूरदर्शिता एवं क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चेरीटेबल सोसायटी तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं की भी संस्थापना की। वैशाली, प्राकृत जैन धर्म एवं अहिंसा शोध-संस्थान की तथा प्राचीन तीर्थों एवं मन्दिरों आदि के जीर्णोद्धार में प्रचुर अर्थदान दिया है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगंबर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई तथा अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता, अखिल भारतवर्षीय दिगंबर जैन परिषद् एवं मारवाडी रिलीफ सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारों संप्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर 2500 वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्याध्यक्ष थे भारत की संपूर्ण दिगंबर जैन समाज की ओर से गठित ऑल इंडिया दिगंबर भगवान महावीर 2500 वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगालप्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप में आपने देश-व्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगाल की समितियों में भी आपने महत्वपूर्ण पदों का दायित्व तन्मयता से संभाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर' तथा 'श्रावक-शिरोमणी' की उपाधियों से सम्मानित किया।

आपके स्वर्गवास से सामाजिक इतिहास का एक युग समाप्त हो गया।

समाज सेवी श्री रिषभदास रांका

भारत जैन महामण्डल के प्राण, जैन समाज के सुप्रसिद्ध नेता, जैन जगत मासिक के सम्पादक, स्वतंत्रता सेनानी, समाज सेवी श्री रिषभदास रांका गत 10 दिसम्बर को इस असार संसार से महा-प्रयाण कर गये।

स्व० रांकाजी ने 75 वर्ष के सफल जीवन में राष्ट्र, साहित्य एवं मानवता की उल्लेखनीय सेवाएं की हैं। आप कर्मयोगी थे। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे प्रसन्न भाव से निष्काम कर्म में संलग्न रहे। पिछले कई महिनों से आप ब्लेडर के कैंसर की बीमारी से ग्रस्त थे किन्तु समभाव से हंसते-हंसते न उसे केवल सहन ही कर रहें थे बल्कि अपने दृढ़ मनोबल से स्वाध्याय, लेखन आदि का बम्बई अस्पताल में भी प्रतिदिन आठ-दस घंटे कार्य करते रहें। पिछले दिनों उपचार हेतु जब वे अस्पताल में थे तब उनसे 'वल्लभ संदेश' मासिक द्वारा प्रकाश्य 'जैन एकता' विशेषांक के लिए उनके विचार चाहे थे। उन्होंने अपने विचार अविलम्ब भेजे। मैं तो विश्वास भी नहीं कर सकता कि मृत्यु-शैया पर लेटे रांकाजी अपने पत्रों के जवाब इतने जल्दी कैसे दे पाते थे ? यह उनका दृढ़ मनोबल ही था जिसके कारण वे रोग पर भी अप्रमत्त भाव से विजयी हो चुके थे।

आंध्र के तूफान पीड़ितों की सेवार्थ इस बीमारी में भी जाने के लिए आप व्याकुल थे लेकिन चिकित्सकों ने आपको अनुमति नहीं दी।

आपको गाँधीजी, जमनालालजी बजाज, विनोबा भावे जैसे महानतम राष्ट्रीय विभूतियों का सम्पर्क मिला और अपने इन शीर्षस्थ नेताओं के निदेशन में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिय. और अनेकों बार जेल भी गये।

अनेकों अखिल भारतीय स्तर की संस्थाओं में आप सक्रिय पदाधिकारी रहे। गौसेवा और सर्वोदय के लिए आपने अपना जीवन लगा दिया। जैन समाज की एकता के लिए आपने भारत जैन महामण्डल के तत्वावधान में कार्य किया। भगवान महावीर 2500 वाँ निर्वाण महोत्सव समारोह में आपका योगदान स्मरणीय रहेगा।

आपकी सामाजिक, सांस्कृतिक गतिविधियों से प्रभावित होकर ही आपका 1974 में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बम्बई महानगरी में अभिनन्दन किया जाकर आपको एक लाख रुपये की थैली भेंट की गई जिसमें आपने अपने पास से कुछ राशि मिलाकर सेवा कार्यों हेतु एक न्यास बनाकर इस राशि के उपयोग की घोषणा की। यह आपके त्याग व प्राणीमात्र की सेवा का प्रतीक है। ★

महान समाज सुधारक एवं जिनवाणी पुत्र

पं० परमेष्ठीदास जैन

उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द के शब्दों में पं० परमेष्ठीदासजी राष्ट्र की निधि थे। प्रकाण्ड विद्वान, अ० भा० दिग० जैन परिषद् के मुख-पत्र 'वीर' के सम्पादक स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रणीय यौद्धा, कई ग्रंथों के लेखक तथा अनुवादक, सुधारवादी नेता तथा स्पष्ट प्रवक्ता पं० परमेष्ठीदास जैन का गत 13 जनवरी को उनके निवास स्थान पर असामयिक निधन हो गया।

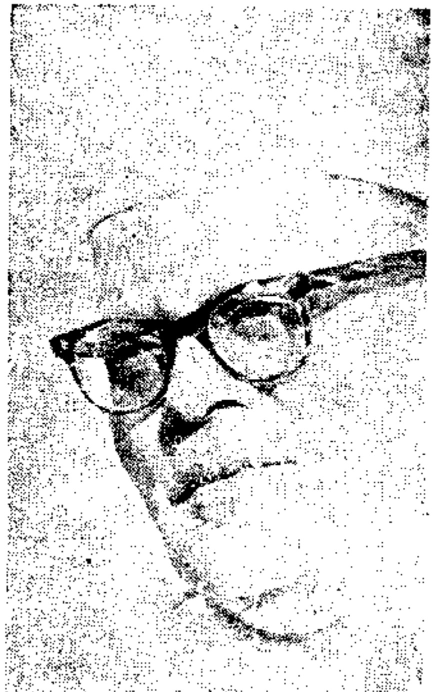

पण्डितजी का जन्म झांसी मण्डल में महरोनी ग्राम में सन् 1907 में हुआ। सन् 1928 में आप सिद्धान्त शास्त्री तथा न्यायतीर्थ परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। आपने जैन मित्र, लोक जीवन, वीर का सम्पादन किया। 17 से भी अधिक पुस्तकों का आपने अनुवाद, लेखन अथवा सम्पादन किया।

गुजरात की प्रसिद्ध संस्था 'राष्ट्र भाषा प्रचारक मण्डल' की स्थापना आपके ही सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई थी। सन् 1942 के स्वतन्त्रता संग्राम में आपने सपत्नी जेल यात्रा की। साबरमती जेल में आप सत्याग्रहियों को हिन्दी तथा जैन धर्म की शिक्षा देते रहे। महात्मा गांधी, काका कालेलकर, श्रीमन्नारायण और मावलंकर जैसे राष्ट्रीय नेताओं के निकट सम्पर्क में रहने का उन्हें गौरव प्राप्त था।

राष्ट्र सेवा के साथ ही आपने समाज सुधार की दिशा में भी कार्य प्रारम्भ किया और कट्टर विचारों के सुधारक होने के कारण समाज सुधारकों में अग्रगणीय पंक्ति में रहे। साधुओं के शिथिलाचार का आपने डट कर विरोध किया। चर्चासागर समीक्षा, सुधर्म श्रावकाचार समीक्षा, दान समीक्षा जैसी पुस्तकें लिखकर आपने जाली ग्रंथों का भण्डाफोड किया। समयसार व मोक्षशास्त्र की आपने विस्तृत टीकाएं की। दस्साओं को पूजा का अधिकार दिलाया। मृत्यु-भोज जैसी प्रथाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विरोध में खुलकर अपने विचार व्यक्त किये । 'जैन धर्म की उदारता, शीर्षक पुस्तक में आपने जैन धर्म का सच्चा और उदार स्वरूप जनता के समक्ष रखा ।

साहित्य सेवा के संदर्भ में आपको 'वीर निर्वाण भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया गया । शिवपुरी के श्री नेमीचन्द गौंदवाले आपका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित कर रहे थे लेकिन दैव को यह स्वीकार नहीं था अब वह स्मृति-ग्रंथ होगा ।'

प्रज्ञा चक्षु

पं० सुखलाल जैन

प्रज्ञा चक्षु पं० सुखलालजी का दुःखद देहावसान 97 वर्ष की अवस्था में गत 2 मार्च को अहमदाबाद में हो गया । आप पिछले एक सप्ताह से किडनी एवं रक्तचाप के रोग विशेष पीड़ित थे । उपलब्ध श्रेष्ठ उपचार व्यवस्थाओं के पश्चात भी आपको बचाया न जा सका ।

पण्डितजी भारतीय दर्शन शास्त्र और संस्कृति के प्रकाण्ड पण्डित, समर्थक, चिन्तक और सुप्रसिद्ध लेखक थे । सरस्वती के इस वरद पुत्र के अवसान पर देश के चिन्तन जगत में गहरा शोक छा गया ।

आपके निधन पर प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी भाई देसाई ने एक शोक संदेश में कहा कि पं० सुखलालजी के अवसान से देश ने भारतीय विद्या के एक अत्यन्त विद्वान और असाधारण दार्शनिक को खो दिया है । पण्डितजी ने गांधीजी के एक साथी की तरह गुजरात विद्यापीठ के पुरातत्व मन्दिर के विकास में सराहनीय सहयोग दिया था । पंण्डितजी अपने पीछे विद्या और वर्चस्व की ऐसी विरासत छोड गये हैं जिसका लाभ इस देश के नागरिकों को सदैव मिलता रहेगा ।

आपकी प्रेरणा से ही पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की स्थापना हो सकी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और गुजरात विद्यापीठ के माध्यम से आपने अनेकों विद्वान शिष्यरत्न समाज को समर्पित किये जो आज आपके अभाव की पूर्ति में आगे शोध-खोज के मार्ग दर्शक होंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० उदय जैन

कानोड़ के जवाहर विद्यापीठ एवं जैन शिक्षण संघ के संस्थापक संचालक पं० उदय जैन का दि० 27 नवम्बर 77 को 64 वर्ष की अवस्था में हृदय, गति रुक जाने से देहावसान हो गया।

इनका जन्म नाम वृद्धिचन्द था। सन् 1936 में राजस्थान के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता श्री माणिक्यलाल वर्मा के साथ सम्पर्क हुआ। मृत्यु भोज जैसी कुरीतियों का सक्रिय विरोध किया। साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध सफल आवाज उठाई अक्टूबर सन् 1940 में प्रतापोदय स्कूल की स्थापना की। सन् 1942 में प्रजामण्डल आन्दोलन में जेल यात्रा की। सन् 1952 तक राजनीति में सक्रिय रहने के पश्चात संन्यास ग्रहण कर अपना सम्पूर्ण जीवन संस्था को समर्पित कर दिया। भगवान् महावीर की जीवन और सिद्धान्तों पर लिखी इनकी 'वीर विभूति' नामक पुस्तक इनके स्वतन्त्र लेखन तथा चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती है।

श्री सुन्दलाल जैन

प्राच्य विद्या के प्रकाशक

भारतीय प्राच्य विद्या के प्रमुख प्रकाशक, समाज सेवी सरस्वती के पुजारी लाला सुन्दरलाल जैन का गत जनवरी माह में स्वर्गवास हो गया। प्राच्य विद्या के ग्रंथों के प्रकाशन में आपका वरेण्य स्थान था। प्राच्य ग्रन्थों के प्रकाशन के क्षेत्र में आपने भारत तथा विदेशों में भी महान यश अर्जित किया। आप मैं. मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन गृह के संस्थापक थे। एक हजार से भी अधिक उच्च स्तर के ग्रंथों के प्रकाशन का श्रेय इस संस्थान को है जिसने लालाजी के निर्देशन में महत्वपूर्ण प्रगति की। भारतीय प्राच्य विद्या के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे चिर-स्मरणीय एवं श्रद्धा-पात्र रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम

खण्ड

महावीर : उनका दर्शन एवं इतर दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर वन्दना

● डा० पन्नालाल : साहित्याचार्य:
सागरम् ।

हिंसादिपापानलदग्धविश्वं
शमामृतेन प्रशमय्य शान्तम् ।
चकार यस्तं प्रणमामि नित्यं
वीरं सुधीरं मनुजौघ हीरम् ॥१॥

एकान्तवादेन हतं समस्तं
जगत् समुद्धर्तुमना मनस्वी ।
स्याद्वादपीयूषपयोदवृष्ट्या
तुष्टं व्यधाद्यस्तमहं नमामि ॥२॥

आदाय पाणौ शुक्लाभिधानं
ध्यानं कृपाणं विधिवैरिणस्तान् ।
हत्वा द्रुतं येन शिवस्य राज्यं
प्राज्यं सुलब्धं स जिनोऽत्र जीयात् ॥३॥

कुवादिवादाद्रि समूहसानु--
प्रचण्डवज्रं तिमिरौघभानुम् ।
नमामि वीरं गुणिभिः सनाथं
पादानतामर्त्यसमूहनाथम् ॥४॥

प्रचारितायां भुवि येन नित्यं
साम्यस्रवन्त्यां सहसावगाह्य ।
प्राप्नोति सौख्यं जनता जगत्यां
तं वीरनाथं प्रणमामि सम्यक् ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी क्षेत्र में व्याप्त बुराई को जड़ से उखाड़ डालने हेतु किया गया प्रयत्न क्रान्ति कहलाती है। जब बुराई का समूल उच्छेद हो जाता है तो वह क्रान्ति सफल कहलाती है। महावीर ने क्रान्ति के लिए व्यक्ति तथा समष्टि दोनों क्षेत्रों को चुना। व्यक्तिगत क्रान्ति में वे पूर्ण सफल हुए क्योंकि उन्होंने आत्मिक मलों को दूर कर उसका शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया था। समष्टि के उत्थान के लिए उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का मार्ग बताया तथा समाज संगठित रूप से एक परिवार की भाँति रह सके इसके लिए चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने अनेकान्त तथा वाणी के क्षेत्र में स्याद्वाद का प्रतिपादन किया। निश्चय ही ये सिद्धान्त हैं जिनका पालन यदि समष्टि करे तो धरा पर ही स्वर्ग का निर्माण हो सकता है, उसे अन्यत्र ढूंढने की आवश्यकता नहीं।

—पोल्याका

महावीर : आत्मक्रान्ति और जनक्रान्ति के आईने में

● डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्राध्यापक हिन्दी विभाग
राज. वि. वि., जयपुर

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी महावीर का जन्म दिवस है। उन्होंने साधना और पुरुषार्थ के बल पर आत्मा पर लगे समस्त कर्मदलिकों को नष्ट कर, निर्मल और निर्विकार परमात्म स्थिति प्राप्त कर अपने जन्म को सार्थक बनाया। महावीर ने यह सार्थकता अर्थात् निर्वाण जिस दिन प्राप्त किया उसे हम दीपावली पर्व के रूप में मनाते हैं। जन्म से निर्वाण की यह साधना अथवा यात्रा एक प्रकार से जागरण की यात्रा है। यह जागरण मुख्यतः आत्म केन्द्रित होकर भी जनजागृति का मूल है। इसी बिन्दु पर व्यक्ति और समाज, आत्म धर्म और समाज धर्म परस्पर मिलते हैं और एक दूसरे को पुष्ट और कल्याणक बनाते हैं।

जैन धर्म में मुख्य बल आत्म जागृति पर दिया गया है। व्यक्ति तब तक देहासक्त अथवा देहपरायण बना रहता है, तब तक उसकी जागृति वास्तविक जागृति नहीं कही जा सकती। वह एक प्रकार की सुषुप्ति की अवस्था है। जब वह देहातीत होकर आत्मपरायण बनता है तब उसमें वास्तविक जागृति थिरकने लगती है। पर्युषण पर्व की साधना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का निर्वाण दिवस प्रधान रूप से आत्म-जागरण की ओर उन्मुख करते हैं। पर महावीर जयन्ती, आत्म जागृति से प्राप्त शक्ति और प्रकाश का जन जागृति में उपयोग करने का अवसर प्रदान करती है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि जैन धर्म मूलतः जनक्रान्ति और आत्मक्रान्ति का धर्म रहा है। जब ये दोनों क्रान्तियां समानान्तर चलती हैं तब आत्म धर्म और समाज धर्म में सन्तुलन बना रहता है पर जब यह सन्तुलन बिगड़ता है तब स्थिति के अनुसार आत्म धर्म अथवा समाज धर्म में से किसी एक को प्रधानता देनी पड़ती है। मेरी दृष्टि से पर्युषण पर्व की साधना और महावीर के निर्वाण दिवस की आराधना, उपासना में हमारा बल आत्मधर्मिता को जागृत करने पर विशेष रहता है। यदि हम महावीर जयन्ती को मनाते समय समाजधर्मिता पर विशेष बल देते हुए, जन जागृति का आह्वान कर सकें और उसके अनुरूप रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकें तो हम महावीर की विचारधारा को सही परिप्रेक्ष्य दे पायेंगे।

भगवान महावीर के सिद्धान्त जन जागृति में अटूट प्रेरणा स्रोत बन सकते हैं। उनका अहिंसा का सिद्धान्त अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए दूसरों के अस्तित्व की स्वीकृति पर बल देता है। जैसी आपकी आत्मा है वैसी दूसरे प्राणी की भी है, जैसा संवेदन आपको प्रिय लगता है वैसा दूसरे को भी। अतः मन, वचन और कर्म से आप कोई ऐसा काम न करें जिससे दूसरे को कष्ट हो अथवा उसकी स्वतंत्रता में बाधा पड़े। अहिंसा का यह सिद्धान्त वैयक्तिक रूप से जीने की ऐसी पद्धति निर्धारित करता है कि जिसमें व्यक्ति किसी दुःख का कारण न बन पाये और अपने जीवन व्यवहार को, शील-स्वभाव के इस प्रकार गठित करें कि उसके रोम-रोम से प्रेम, करुणा और मैत्री का स्रोत अविरल फूटता रहे। आज व्यक्ति यांत्रिक बन गया है। उसमें हार्दिकता का अंश कम होता जा रहा है। वह अपनों के बीच रह कर भी पराया बन गया है, उसकी दिशाएं और रिश्ते खो गये हैं। ऐसी स्थिति में महावीर का अहिंसा व्रत और मैत्री भाव राग से परे, सबको अनुराग में बांधता है।

आज के अर्थ प्रधान युग में अहिंसा की सम्यक् परिपालना अपरिग्रह की भावना को आत्मसात किये बिना नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति परिग्रह की मर्यादा न करे और अहिंसा की साधना करने का व्रत ले तो वह कभी पूर्ण नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने आज से अढाई हजार वर्ष पूर्व जब आर्थिक समस्या इतनी जटिल नहीं थी, अपरिग्रह के महत्व को हृदयंगम कर लिया था। अहिंसा महाव्रत की निर्बाध साधना के लिये ही उन्होंने वैभव सम्पन्न, ऐश्वर्यपूर्ण सम्पूर्ण राजपाट को त्याग कर आकिंचन व्रत ग्रहण कर लिया था। आज के संदर्भ में महावीर द्वारा प्रतिपादित परिग्रह परिमाण व्रत की सर्वाधिक सार्थकता यही है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह न करे, उसके पास आवश्यकता से अधिक जो सम्पत्ति हैं उसे वह अपने स्वामित्व की न समझे वरन् समाज की समझे और लोक कल्याण के लिये उसका निष्काम भाव से विसर्जन करदे।

यह बड़ी विडम्बना है कि महावीर के तथा-कथित अनुयायी आज अत्यधिक परिग्रही हैं। उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने अपने परिग्रह की मर्यादा बांध रखी हो और आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का उपयोग वे जनकल्याण के लिये करते हों। आवश्यकता इस बात की है कि परिग्रह परिमाण व्रतधारी श्रावकों की संख्या अधिकाधिक बढ़े।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को केवल चल-अचल सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत, सम्प्रदाय, हठवादिता आदि को भी परिग्रह माना। विचारों की एकांगिता और संकीर्णता के दायरे से व्यक्ति मुक्त हो, यह उसकी मूल्यवान् स्वतन्त्रता है। इस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये उन्होंने अनेकांत दर्शन की प्रतिष्ठा की। अनेकान्त दर्शन का मूलहार्द है—जो कुछ तुम सोचते हो या देखते हो वही सच नहीं है, दूसरे जो सोचते हैं और देखते हैं वह भी सच हो सकता है, ऐसा समझ कर किसी एक ही बात पर अड़े न रहो। अपनी बात पर दूसरों की दृष्टि से भी चिन्तन करो। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अतः किसी एक धर्म को देख कर या समझकर उसके समस्त धर्मों को देखने या समझने की भूल मत करो। जब कभी सत्य का अखण्ड रूप में दर्शन करना हो तब अपने को विरोध की स्थिति में रखकर सत्य को परखो। तब सत्य का जो रूप निखरेगा वह अखण्ड और पूर्ण होगा। भगवान् महावीर ने इस स्थिति को "सम्यक्" कहा है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पूर्व "सम्यक्" विशेषण की इस दृष्टि से गहरी अर्थवत्ता है। आज ज्ञान का, दर्शन का और चारित्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक बना है, पर उसमें से 'सम्यक्त्व' गायब हो जाने से वह सर्वकल्याणकारी नहीं बन पा रहा है।

महावीर जन्मजात क्रान्ति पुरुष थे। उन्होंने विचार और आचार दोनों धरातलों पर आत्मक्रांति के साथ-साथ जनक्रान्ति की। उनकी क्रान्ति के साथ अहिंसा और अभय का अद्भुत मेल था, स्वतंत्रता और समानता की अनूठी संधि थी। महावीर की वह क्रान्ति जनक्रान्ति बन कर जन-जीवन में फूटे, आज इसकी अपेक्षा है। इसके लिये आवश्यक है कि हम धार्मिकों के जीवन में ही क्रान्ति न लावें वरन् धर्म को भी क्रान्ति के वाहक के रूप में प्रतिपादित और मूल्यांकित करें। महावीर जयन्ती मनाने की सार्थकता इसी बात पर निर्भर है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणिमात्र का साध्य मुक्ति है। जिस मार्ग पर चल कर मुक्तिलाभ किया जा सकता है वह साधन कहलाता है तथा उस मार्ग का ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। साधारणतः भौतिक शरीर के छूटने को मुक्ति माना जाता है किन्तु वह तो भौतिक होने से एक न एक दिन छूटता ही है। वास्तविक मुक्ति है तैजस और कार्मण शरीरों से छुटकारा जिनके कारण आत्मा जन्ममरण के चक्कर में अनादि काल से घूम रहा है। प्राणिमात्र में समभाव रखना साधना का केन्द्र बिन्दु है और तप वह प्रक्रिया जिससे आत्मा के कार्मिक बन्धन ढीले होते हैं। स्व में केन्द्रित होना ही प्रतिक्रमण है तथा मूर्च्छा टूटने पर जो प्राप्त होता है वह ही महाव्रत हैं। यह है वह विज्ञान जिसे महावीर ने स्वयं जाना तथा उसकी साधना कर साध्य को पाया तथा जिस मार्ग पर चलने के लिए जनता को उपदेश दिया। इसी का वैज्ञानिक विवेचन अपनी विशिष्ट शैली में मान्य लेखक ने इस निबन्ध में प्रस्तुत किया है। जिसे पढ़कर पाठक अपने आपको लाभान्वित अनुभव करेंगे ऐसी आशा है।

—पोल्याका

वैज्ञानिक की आंख से—

भगवान महावीर के दर्शन

● श्री निहालचन्द जैन
व्याख्याता शा० उ० मा० वि० नौगाँव (म प्र०)

भीतर से बाहर की ओर—

अगर हमें भगवान महावीर को समझना है तो उन्हें बाहर से न समझें बल्कि भीतर से जानें। बाहर का परिचय हमें कथ्य की ओर ले जाता है, सत्य की ओर नहीं। सभी चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमायें, स्वरूप में एक जैसी होती हैं। क्या इतने लम्बे समय के अन्तराल से होने वाले तीर्थंकर, रूप में एक जैसे होंगे ? फिर एक जैसे स्वरूप करने का क्या तात्पर्य है ? इसका एक ही अर्थ यह हो सकता है कि तीर्थंकर जैसे दिव्य पुरुषों का बाह्य विसर्जित हो जाता है। फिर उनका बाह्य शरीर कोई महत्व नहीं रखता। क्योंकि उन सभी तीर्थंकरों की आत्मायें एक ही चिन्तमय धरातल को प्राप्त हो गयी थीं। अतः हमने बाहर का रूप भी अन्तर को उजागर करने के लिये एक जैसा बना दिया है। तो इस अन्तर्दृष्टि से ही भगवान महावीर को समझें तभी ये हमारी ज्ञान-क्रान्ति में प्रेरक बन सकते हैं। अन्यथा हमारी बाह्य दृष्टि 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने के साधनों को ही साध्य मानकर यह कहती रहेगी कि केवल ज्ञान के लिए 'दिगम्बरत्व' चाहिये। अथवा अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी ने अपनी उत्कृष्टता में साधा था। महावीर को जानने के ये सब बाह्य रूप हैं कि उन्होंने घर छोड़ा था, राजमहल छोड़े थे, और सारी विभूति छोड़ी थी।

क्षुद्र ज्ञान ही घर और दीवार की सीमाओं को जानता है। जहां विराट ज्ञान आ गया वहाँ उनके खड़े होने का दायरा भी अनन्त बन जाता है उनका घर भी अनन्त बन जाता है और उनका जीवन भी अनन्त ही हो जाता है। सच तो यह है कि विराट को भोगने का सामर्थ्य एक क्षुद्र चित्त में नहीं हो पाता इसलिये वह दीवारों से घिरे क्षेत्र को घर मान बैठता है। महावीर जैसे आत्म-पुरुषार्थी, जिनकी जन्म से निर्वाण तक विजय की भाषा रही, से स्पष्ट है कि यदि वे ब्राह्मण भी होते तो क्षत्रिय कहलाते। क्योंकि क्षत्रिय-धर्म है, विजय पाना, झुकना नहीं।

महावीर स्वामी ने बारह वर्ष जो तपश्चर्या की थी उसकी उपलब्धि 'वीतरागता' थी। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि उस वीतराग-उपलब्धि की उप-उत्पत्तियाँ थीं। जैसे गेहूँ के साथ भूसा उसका बाइ-प्रोडक्ट होता है, वैसे ही जब वीतरागता फलित होती है तो कुछ अशुद्ध अवस्थायें अपने आप विसर्जित हो जाती हैं। वीतरागता एक अनुभूति है जो अन्तर में पैदा होती है और सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि उसकी अभिव्यक्तियां हैं।

केवल ज्ञान का क्या अर्थ है ? जहां ज्ञान ने स्वयं के कर्तापन का भाव मिटाकर केवल दृष्टापन का भाव रख लिया, वही ज्ञान, केवल-ज्ञान बन जाता है। क्योंकि जब तक कर्त्तव्य का भाव है, तब तक स्वामित्व है, भोगने की सज्ञा है। फिर चाहे ही पुण्य ही क्यों न भोगे, प्रेम ही क्यों न करे उस कर्त्तापन में विकल्प आयेगा और विकल्प चाहे कैसा भी क्यों न हो वह बांधता है। बांधने वाला परतन्त्र है और परतन्त्रता दुख का मूल है। लेकिन जहां दृष्टा भाव हैं, जहां साक्षी भाव हैं वहां फिर बंधना नहीं होता। वह फिर विकल्पों की कसक में नहीं आ पाता।

साधना का केन्द्र बिन्दु—'सामायिक'

भगवान महावीर की साधना का केन्द्र बिन्दु है—'सामायिक'। यदि हम वैज्ञानिक सन्दर्भ में इस 'सामायिक' शब्द का विश्लेषण करें तो भगवान महावीर से बड़ा और कोई वैज्ञानिक दिखाई नहीं पड़ता। संसार की प्रत्येक वस्तु तीन आयाम में होती हैं वे हैं – लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई। लेकिन आत्मा की एक और दिशा है जो चेतना की दिशा है, वह है,—'समय'। जो अस्तित्व का चौथा आयाम है। जो आइन्सटीन और मिन्को ने अस्तित्व की परिभाषा इन्हीं चारों आयामों के जोड़ से की है। इस बात का पहला बोध आज से 2500 वर्ष पहिले भगवान महावीर स्वामी को हुआ था कि 'समय' चेतना की दिशा है। जो तत्व सदा से है और सदा रहेगा – वह समय है। समय की धारा में संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तित हो रही है, परन्तु यह स्वयं अपरिवर्तनीय है। यही अकेला शाश्वत सत्य है जो सदा था और सदा रहेगा। इसलिये भगवान महावीर ने आत्मा को 'समय' शब्द से व्यवहृत किया। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक ने परमाणु का विश्लेषण एक इलेक्ट्रॉन के रूप में किया। उसी प्रकार महावीर स्वामी ने चेतना का विश्लेषण एक अन्तिम खण्ड या अणु के रूप में किया है जिसका नाम—समय है। समय वर्तमान का तथाकथित क्षण (एक माइक्रोसेकेण्ड) उसका भी कुछ लाखवाँ हिस्सा होता है, तो इलेक्ट्रान की भांति दिखाई नहीं देता। भगवान महावीर कहते हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस दिन आप इतने शान्त और निर्मल बन जायें कि वर्तमान का वह अत्यल्प समय का कण भी झलक जाये तो आप सामायिक में प्रवेश कर गये होते हैं।

तपश्चर्या—एक वैज्ञानिक प्रक्रिया स्वरूप में—

भगवान महावीर की तपश्चर्या का हेतु कर्मों से निर्बंध होकर अपने सहज चैतन्य स्वरूप को प्राप्त कर लेना था। भगवान महावीर ने 'काया-क्लेश' अर्थात् काया के मिटाने को तप कहा। मगर उनका मतलब इस पौद्गलिक काया को कष्ट देने या मिटाने से नहीं था। जो अनन्त बार नष्ट हुई, उसे मिटाने में कौनसी साधना है? उनका काया से तात्पर्य था वह सूक्ष्म शरीर जिसे उन्होंने 'कार्माण शरीर' कहा है, जो उस बाह्य शरीर और आत्मा को जोड़ने का माध्यम अनन्त जन्मों से बनी हुई है और जिसे आज तक नहीं मिटाया जा सका है। तप का अर्थ उन्होंने ऐसी गर्मी से लिया है जो भीतर-साक्षी भाव से पैदा होती है और जिससे यह सूक्ष्म शरीर पिघलने लगता है। तैजस और कार्माण शरीर ऊर्जा (Energy) के रूप में हमारी चेतन शक्ति (आत्मा) से सम्बद्ध है।

जिस प्रकार रेडियो तरंगों में विद्युत तरंगें और चुम्बकीय तरंगें एक साथ एक-दूसरे के अभिलम्ब अविनाभावी रूप के साथ-साथ रहती हैं, और उनमें बीजभूत शब्दों को पैदा करने की शक्ति प्रसुप्तावस्था में रहती है। ठीक इसी प्रकार ये तैजस और कार्माण शरीर भी तरंगों के रूप में चैतन्य शक्ति को अपने में बांधे हुये हैं। यही तरंगें कर्मों के आस्रव और बंध तथा संवर और निर्जरा की प्रक्रियायें करती रहती हैं।

यहां थोड़ा 'कर्म सिद्धान्त' को भी विज्ञान के आधुनिकतम तरंग सिद्धान्त से देख लें जिससे उपर्युक्त आस्रव या निर्जरा की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। ये 'कार्माण शरीर' कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं के विशिष्ट समूह के रूप में होते हैं जो चैतन्य या जीव को प्रभावित करने की एक विशेषता रखते हैं। जैसे आकाश की अनन्त विद्युत चुम्बकीय तरंगों में से एक निश्चित बारम्बारता की तरंगों को रेडियो-रिसीवर का ओसिलेटर अपने में उसी प्रकार की तरंगों को उत्पन्न कर विद्युतीय साम्यावस्था के सिद्धान्त से प्राप्त करता है। ठीक ऐसी ही घटना आत्मा में कार्माण स्कन्धों के आकर्षित होने में होती है। विचारों और भावों की अनवरत शृंखला के परिणामस्वरूप मन, वाणी और शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिसे जैन दर्शन में योग संज्ञा दी गई है। अर्थात् योग-शक्ति से आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध रखने वाले 'कार्माण शरीर' के परमाणु में कम्पन होते हैं और यह कार्माण शरीर एक ओसिलेटर की भांति कार्य करने लगता है। जो Electrical resonance के सिद्धान्तानुसार लोकाकाश में उपस्थित समान बारम्बारता या तरंग-लम्बाई की कार्माण-तरंगों को आकर्षित कर ग्रहण करता रहता है और इस प्रकार कार्माण शरीर का संगठन कभी भी स्खलित नहीं हो पाता है।

तपश्चर्या—वह प्रक्रिया है जो इस कार्माण शरीर के ओसिलेटर की कम्पन प्रक्रिया को ढीली बनाता है जो कि योगों की सरलता या मन, वाणी और क्रिया की चंचलता को समेटने से होता है। यह स्वयं में कर्त्तव्यपन के विसर्जन और साक्षी-भाव के सृजन से सम्भव होता है। यहां से कार्माण शरीर का पिघलना प्रारम्भ हो जाता है और जितने अनुपात में कार्माण शरीर की तीव्रता कम होगी, तैजस शरीर भी उसी अनुपात में विरल होता जायेगा। यही प्रतिक्षण की संवर प्रक्रिया है। अर्थात् तपश्चर्या से संवर की घटना होती है। साक्षी भाव की एक ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरमावस्था आती है जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं, यहां योगों की प्रवृत्ति एकदम बन्द हो जाती है और फिर कार्मारण-शरीर संरचना में नवीन कार्मारण तरंगों का आना तो समाप्त हो ही जाता है, वरन् इसका संगठन भी बिखरने लगता है, यही निर्जरा है। और सम्पूर्ण-कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष है। मोक्ष कोई स्थान विशेष नहीं है। यह स्थिति विशेष है, जहां आत्मा से वे सूक्ष्म कार्मारण और तैजस शरीर भी समाप्त हो जाते हैं। इन्हीं सूक्ष्म शरीर को पिघलने में लगा हुआ श्रम तपश्चर्या है और पिघलने की जो प्रक्रिया है, ध्यान है।

महावीर एक बड़ी खोज—

विज्ञान सीधे नियम पर निर्धारित है और वह कार्य कारण, सिद्धान्त पर खड़ा है। धर्म भी विज्ञान है। धर्म है, चेतना विज्ञान। बाहर जो है, उसकी खोज विज्ञान है, भीतर जो है, उसकी खोज धर्म है। अतः धर्म भी कार्य कारण सिद्धांत पर खड़ा है। विज्ञान कहता है कि भगवान से हमें लेना-देना नहीं। हम तो प्रकृति का नियम खोजते हैं। ठीक यही बात भगवान महावीर ने चेतना से कही है कि हम नियन्ता को बिदा करते हैं। उन्होंने आत्म पुरुषार्थ को महत्ता दी और कहा कि हम जो कर रहे हैं, वही हम भोग रहे हैं, अच्छा या बुरा भोगना कोई भाग्य का लिखा या किसी नियन्ता का दिया नहीं बल्कि हमारे कार्य का फल है। कार्य और उसके फल में सीधा सम्बन्ध है जो उसी क्षरण से मिलना प्रारम्भ हो जाता है।

कुछ पारिभाषिक शब्द—नये सन्दर्भ में —

भगवान महावीर स्वामी ने श्रावक के लिये 'प्रतिक्रमण' बताया है। प्रतिक्रमण का साधारण अर्थ है आक्रमण को वापिस कर देना। सामान्य रूप से हमारी चेतना, मित्र में, शत्रु में, धन में, मकान में, पत्नी में, बेटे आदि में फैली रहती है। जितनी अधिक आसक्ति, चेतना का बाहरी फैलाव उतना ही अधिक होता जाता है। यहां प्रतिक्रमण से तात्पर्य है—सारी चेतना को समेट लेना अपने भीतर। 'सामायिक' में प्रवेश से पूर्व हमारी चेतना अपने 'स्व' में आ जाये तभी सामायिक की सीढ़ी चढ़ी जा सकती है। 'स्व' में केन्द्रित होना ही प्रतिक्रमण है। वह चेतना के फैलाव को स्वयं के केन्द्र पर सघनीभूत कर लेना है। जिससे इसका उपयोग आत्म-स्थिति वा आत्म-दर्शन के लिये किया जा सके। इसी हेतु श्रावक के लिये प्रतिक्रमण करने का विधान है जो ध्यान में जाने का पूर्व चरण है।

भगवान महावीर—महाव्रती कहलाते हैं। महाव्रत क्या है? मूर्च्छा के टूटते ही जो उपलब्ध होता है, वह महाव्रत है। अभ्यास कर साधी गई वस्तु या व्रत से हम अपनी मूर्छा नहीं तोड़ सकते। क्योंकि अभ्यास से साधे हुये व्रत में भी एक संघर्ष है, मन के खिलाफ चलने की एक व्यवस्था है। जब वस्तुओं से हमारा लगाव ही छूट जाये तब वह स्थिति ही अमूर्च्छा की स्थिति है और ऐसी स्थिति में विस्फोट की भांति महाव्रत उपलब्ध होता है।

ऊपर भगवान महावीर की साधना के सन्दर्भ में कुछ बातें कहीं हैं। जैसे विज्ञान जीवन से अलग नहीं है उसी प्रकार साधना भी जीवन से अलग कोई वस्तु नहीं। साधना तो जीवन में धर्म के फूल हैं जो स्वयं को सुवासित तो कर ही देते हैं वातावरण को भी सुगन्धमय बना देते हैं। ऐसे कुछ साधना के तथ्यों को वैज्ञानिक परिभाषा में बांधकर उन्हें आज के नये सन्दर्भों में देखा है ताकि धर्म से उपेक्षित युवा पीढ़ी इन सिद्धान्तों और विश्वासों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न कर सके। ◆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण दो प्रकार के होते हैं। एक सामान्य जो सब में समान रूप से मिलते हैं। दूसरे विशेष जिनसे एक की दूसरे से विशेषता ज्ञात होती है, पहचान होती है, उसकी परख होती है। व्यक्ति की विशेषता उसे दूसरे व्यक्तियों से पृथक् पहचनवाती है। प्रस्तुत लेख में भ. महावीर के व्यक्तित्व को शास्त्रीय, आयुर्वेदीय, मनोविज्ञान आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से जांचा परखा गया है और लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि महावीर के व्यक्तित्व का वर्णन शब्दों द्वारा करना सम्भव नहीं है और उसकी दृष्टि में उसकी यह असफलता में ही महावीर के व्यक्तित्वमापन की सफलता अन्तर्निहित है।

—पोल्याका

महावीर-व्यक्तित्व-मापन

श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम ए.
बजाज खाना, जावरा (म. प्र.)

यद्यपि व्यक्तित्व के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों ने काफी ऊहापोह किया परन्तु उसकी सर्वमान्य परिभाषा अभी भी स्वीकृत नहीं हुई है। जनसाधारण व्यक्ति को वह प्रभावीशक्ति मानते हैं, जो दूसरों के हृदय जीतती है, उसका विश्वास प्राप्त करती है, उन्हें प्रभावित करती है।

व्यक्तित्व शब्द व्यक्ति से बना है। विचार के इस बिन्दु से व्यक्तित्व से तात्पर्य उन गुणों से है, जिनके आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर लेखा जा सकता है। यह अन्तर व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य व्यावहारिक गुणों पर आधारित होता है। हां तो व्यक्तित्व-व्यक्ति का गुण, उसकी भाववाचक संज्ञा है।

कपिल के सतोगुणी

कपिल मुनि ने सांख्य शास्त्र में व्यक्तित्व के सूचक तीन गुण माने हैं:—

(1) सतोगुण (सत्व)
(2) रजोगुण (रजस्)
(3) तमोगुण (तमस्)

जब तीनों गुण समान परिमाण में रहते हैं तब प्रकृति अपनी सुप्त अवस्था में होती है पर साम्यावस्था भंग होते ही प्रकृति जागृतावस्था में आती है। सामान्यतया तो प्रत्येक पदार्थ और व्यक्ति में ये तीनों गुण पाये जाते हैं पर जिस अनुपात में ये गुण जिस व्यक्ति में जैसे होंगे, उनके अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होगा।

भगवद् गीता के 14वें अध्याय में भी सत्व रजस् और तमस् के आधार पर मनुष्य का व्यक्तित्व बनने की बात कही गई है।

जिन व्यक्तियों में सत्व या रजोगुण की अधिकता मानी गई है, उनमें सौम्य और शान्ति विराज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान रहती है। कारण, सत्व हलका और प्रकाशक है, इसलिये सत्व पदार्थ हलके होते हैं। सत्व से युक्त व्यक्ति-सुख और दुख दोनों अवस्थाओं में सम रहते हैं।

भगवान महावीर परमवीतरागी थे। क्षमा और मृदुता की मूर्त्ति थे। आर्जव और शौच के स्रोत थे। सत्य और संयम के केन्द्र थे। तप और त्याग के प्रतीक थे। आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के ज्वलन्त आदर्श थे। उन्होंने अनुगामियों को सामायिक या समभाव की साधना करने का सुखद सन्देश दिया था। सर्वदा समता के सदन में सुख से निवास करने की सलाह दी थी। वे चंचलता और उत्तेजना से रहित थे, अत एव अपने जीवन में आगत अनेक उपसर्गों और परीषहों (स्व-परकृत उपद्रवों) को जीतने में समर्थ हुये। वे आलस्य से परे थे, अत एव 'संयमः खलु जीवनम्' की शिक्षा अपने जीवन में सिद्धान्त और व्यवहार से दे सके थे।

हां तो कपिल मुनि के सांख्यशास्त्र की दृष्टि से महावीर के व्यक्तित्व का मापन एक शब्द में 'सतोगुणी' होगा।

आयुर्वेद के पूर्ण पुरुष

आयुर्वेद के आचार्यों से आदर्श व्यक्तित्व के विषय में परामर्श लें तो वे अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर कहेंगे कि

सम दोष समग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः—

प्रस्तुत सूत्रस्वरूप पंक्ति का सुविशद पर संक्षिप्त स्पष्टीकरणयों किया जा सकेगा कि

क. समदोष—शरीर में वात (स्नायु संस्थान) पित्त (रक्त संस्थान) और कफ (मलसंस्थान) की समान अवस्था हो।

ख. समग्नि–पाचक अग्नि की समानता।

ग. समधातु—शरीर में रस रक्त आदि धातुएं न कम हों न अधिक।

घ. सममल—मल-मूत्र पसीना आदि न कम आना न अधिक।

ङ. समक्रिया—शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में समता।

च. प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः—आत्मा और इन्द्रिय तथा मन की प्रसन्नता, बाहर-भीतर खुशहाली की उजियाली।

भगवान महावीर का शरीर परम औदारिक था, अतएव वातपित्त कफ जनित विकारों से परे था। आहार की बात तो फिर भी उनके लिये थी पर निहार की बिलकुल नहीं। उनका उत्कृष्ट शारीरिक संहनन और संस्थान विश्व में एक ही था, इसलिये वे मल-मूत्र-पसीना जैसी सर्वसाधारण बाधाओं से परे थे। उनके जीवन की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में जो समता या एक-रूपता थी, उसी के कारण राजकुमार महावीर क्रान्तिकारी शान्ति प्रिय महावीर बने। चूंकि शरीर और शरीर जनित भोग-उपभोगों के प्रति उनके मन में तीव्र विरक्ति थी, इन्द्रिय रूपी अश्वों को उन्होंने वश में कर लिया था. इसलिए वे अपने मन और आत्मा की दृष्टि से पूर्णतया प्रसन्नता–निराकुलता-निश्चितता लिए थे।

हां तो आयुर्वेद की दृष्टि से महावीर व्यक्तित्व मापन पूर्ण पुरुष या अलौकिक पुरुष के अनुरूप होगा।

परसोना से परे दिगम्बर

व्यक्तित्व (Personality) पर्शनेलिटी शब्द की व्युत्पत्ति यूनान की भाषा (ग्रीक) के परसोना Persona) शब्द से मानी जाती है। परसोना उस बाहरी वेशभूषा को कहते थे, जिसे प्राचीन यूनान के लोग नाटक खेलते समय पहनते थे। इस दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से व्यक्तित्व केवल बाहरी आवरण मात्र ठहरता है। व्यक्तित्व की यह परिभाषा सुस्पष्टतया अपूर्ण है। कारण, व्यक्तित्व का सम्बन्ध बाहर-भीतर दोनों ओर से है। नाटक में पात्र के लिये वेशभूषा के साथ अभिनेयता भी अपेक्षित है। दुहरा व्यक्तित्व तो क्या ? एक भी पूर्ण व्यक्तित्व इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता है वैसे अपूर्णतया दोनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं।

हां तो भगवान महावीर परसोना से परे परम दिगम्बर थे। वे एक ऐसे क्रान्तिकारी राजकुमार थे जो जीवन पर्यन्त राजा नहीं बने पर फिर भी राजाओं के राजा बन सके। उन्होंने कलिंग देश के राजा जितशत्रु की कन्या यशोदा से तो विवाह नहीं किया पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपूर्व निधियां लिये उस मुक्ति श्री का वरण अवश्य किया कि जिसके बाद उन्हें कुछ भी पाना शेष नहीं रहा और जिसकी अप्राप्ति में सर्वस्व की प्राप्ति जैसी जीवन-साधना भी नितान्त निरुद्देश्य थी। वे शरीर से आत्मा और शिव की दिशा में बढ़ने लगे तो उन्होंने समग्र राजश्री-देवी परसोना को भार समझ कर त्याग दिया और अधिक क्या कहें ? सिर पर केश तक नहीं रखे। परसोना से परे, बाह्य और आभ्यन्तर के परिग्रह से रहित भगवान महावीर परम दिगम्बर हुए और लज्जा-स्त्री जैसे बाईस परीषहों को जीतने में समर्थ हुये। उनका परसोना दिगम्बरत्व था।

आत्मविद सामाजिक संस्कारी

दार्शनिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व की व्याख्या करें तो व्यक्तित्व आत्मज्ञान का ही दूसरा नाम है। यह पूर्णतया प्रतीक है। विचार के इस बिन्दु से महावीर आत्मविद थे। उन्होंने अदृश्य हुई अनन्त दर्शन, ज्ञान, बल और सुख मूलक शक्तियों की अपने मानवीय जीवन में उपलब्धि की थी। आत्म बोध की दिशा में अग्रसर होकर, साधना की सफलता का सूचक केवलज्ञान उन्होंने पाया। उसके आधार पर ही उन्होंने एक दो नहीं बल्कि तीस बरसों तक आत्मवत्सर्वभूतेषु और आत्मा सो परमात्मा बनने का दिव्य सन्देश सारे संसार को दिया।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकेगा कि व्यक्तित्व-उन सब तत्वों का संगठन है, जिनके द्वारा व्यक्ति को समाज में कोई स्थान प्राप्त होता है। इसलिए हम व्यक्तित्व को सामाजिक प्रवाह कह सकते हैं। विचार के इस बिन्दु से महावीर पूर्णतया सामाजिक हैं। जब वे संसार में कुण्डग्राम के सुसज्जित राज-भवन में थे तब वे राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला की आँखों के तारे थे। वे प्रजा के लिये वर्धमान थे। उनके नाना चेटक थे तो मौसा श्रेणिक थे। अनेकानेक राजा, अपनी पुत्री का पाणिग्रहण संस्कार उनके साथ कर कृतकृत्य हो जाना चाहते थे; और जब राजमहल छोड़कर परम ज्योति बने, वन में उच्चकोटि के योगीश्वर बने। बारह वर्षीय विकट साधना के पश्चात्—उन्होंने समवशरण या धर्म सभा में जो दिव्य देशना दी, उसमें जिओ और जीने दो की भावना मुखरित हुई। उनका समग्र सन्देश सांसारिक भले कम हो पर सामाजिक तो है ही, इसमें अणुमात्र को भी सन्देह की गुंजायश नहीं है। महावीर द्वारा संकलित विराट संघ में—जो मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका का समुदाय था, उसकी सामाजिक चेतना परम्परा की सीढ़ियों को पार करती हुई अतीत से आज तक बढ़ रही है।

बाहर-भीतर से मुखरित

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का समान महत्व है। राजकुमार मार्टन की दृष्टि से व्यक्तित्व व्यक्ति के जन्म जात तथा अर्जित स्वभाव, मूलप्रवृत्तियों, भावनाओं तथा इच्छाओं आदि का समुदाय है।

विचार के इन बिन्दुओं को दृष्टि में रखते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जा सकेगा कि व्यक्तित्व के निर्माण में वंशानुक्रम के परिवेश की अपेक्षा वातावरण की सामयिक चेतना का ही अधिक योग-दान रहा। महावीर का जन्म हुआ राजसी सम्भ्रान्त परिवार में, किसी भी प्रकार की कमी नहीं, रही सही कमी देवताओं के वस्त्र-आभूषण-भोजन ने पूरी की। यों महावीर अति सुख से पीड़ित थे फलतः वे धर्म के नाम पर यज्ञ की हिंसा को रोकने बढ़े; समाज में तिरस्कृत होती नारी को सम्मान दिलाने चले, भोगमूलक प्रवृत्ति के स्थान पर योगमयी निवृत्ति की प्रतिष्ठा के लिये अग्रसर हुए। विलासी देश और समाज को विरागी बनाने के लिये महावीर ने क्या नहीं किया? ईश्वरवादी समाज को स्वयं ईश्वर बनाने के लिये महावीर ने एक अपूर्व चेतना या देशना दी। दार्शनिक द्वन्द्वों में उलझते हुये बौद्धिक वर्ग को उन्होंने अनेकान्त की वह दीप-शिखा दी कि जिसके विमल प्रकाश में शत्रु मित्र बन सके व विरोध स्वयं निरोध हुआ। महावीर जो जीवन-काल में तीर्थंकर बने उसकी पृष्ठ-भूमि में उनके पिछले व वर्तमान जीवन के संस्कार और स्वभाव मुखरित-वृद्धिगत हुए, यह तो निस्संकोच स्वीकारना होगा।

व्यक्तित्व की विविधा

मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि लिये फ्रायड के मतानुसार इदम् (Id) अहं (Ego) से पर नैतिक मन (Super Ego) भी महावीर को कहा जा सकेगा। कारण, महावीर ने नैतिकता लिये इदं और अहं की अपने जीवन-काल में काफी आलोचना की थी।

युग की दृष्टि से महावीर सामूहिक अज्ञात मन लिये थे। उन्होंने पूर्वजों की विशेषताओं को, जातीय गुण भाव-प्रतिमाओं को अत्यन्त प्रांजल परिष्कृत स्वरूप दिया था। वारेन की दृष्टि से उनके मानसिक संगठन में व्यक्तित्व का विकास दर्शनीय था। रैक्स रॉक की दृष्टि से समाज द्वारा सद्गुणों का समावेश महावीर के व्यतित्व में हुआ। डैशियल की दृष्टि से महावीर के व्यक्तित्व में व्यवहारों का वह समायोजित संकलन है जो उनके अविचलित अनुयायियों को आज भी परिलक्षित हो रहा है। जन्मजात वृत्तियों और बाह्य आचरणों का महावीर में एक अभूतपूर्व ताल मेल है।

तप त्याग और परोपकार की दृष्टि लिये महावीर ब्राह्मण हैं। सत्साहस और सुधैर्य तथा सुवीरता की मूर्त्ति होने से क्षत्रिय हैं। आत्मनिधि से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के कोष होने से वैश्य हैं। सेवक को भी सख्य बना देने की क्षमता लिये, संसार के उद्धार हेतु बीड़ा लिये महावीर अभूतपूर्व शूद्र भी हैं। हिप्नोकेटस के शब्दों में महावीर रक्तवर्ण (कनत्स्वर्णभासो–Sanguine) सदा प्रसन्न व्यक्ति हैं। वार्नर की दृष्टि से उन्हें 'चतुर' की श्रेणी में रखा जा सकता है। क्रोचमर के विचार से वे ऐसथेनिक (A thenic) सिद्धान्त प्रिय व्यक्ति हैं, सिद्धान्त को जीवन में उतारने के पक्षपाती हैं। थार्नड्राइक के मत से महावीर के सूक्ष्म विचारक और स्थूल विचारक (क्रियाशीलता) पर बल देने वाला कहा जा सकेगा। टरमैन की दृष्टि से महावीर प्रतिभाशाली व्यक्तित्व लिये हैं तो जेम्स की दृष्टि से महावीर का व्यक्तित्व नर्म प्रकृतिवाला है। केटल की दृष्टि से वेग हीन (शरमीले अन्तर्मुखी) हैं और युंग की दृष्टि से भी महावीर अन्तर्मुखी व्यक्तित्व लिये हैं तब ही तो तीर्थंकर की प्रशंसा में चित्रंकिमत्र यदि तेत्रिदशॉगनाभिः जैसी पंक्तियां पठनार्थ मिलती है।

स्टीफेन्सन के विचार से महावीर प्रसारक अन्तर्शुखी हैं और स्प्रेंगर की दृष्टि से महावीर ज्ञानात्मक व्यक्तित्व लिये थे। बुहलर के वर्गीकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दृष्टि में रखते हुये महावीर को समाज उदासीन कहा जा सकेगा। भावनाओं के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जावे तो महावीर को आशावादी सर्वदा प्रमुदित प्रफुल्ल व्यक्ति कहा जा सकेगा। महावीर के व्यक्तित्व में आत्मचेतना, सामाजिकता तात्कालिक वातावरण, ध्येय पर दृष्टि अपूर्व अनेकता में एकता की भावना विकेन्द्रित हुई है। महावीर शारीरिक मानसिक-आत्मिक तीनों प्रकार के व्यक्तियों के कुबेर थे। महावीर की निर्वसन सौम्य छवि, आज भी उनकी प्रतिकृतियों में—प्रतिमाओं और चित्रों में अवलोकनार्थ मिलती है।

सूर्य सत्य तो यह है कि जैसे महावीर के गुणों का वर्णन करना जिह्वा द्वारा सहज सरल नहीं है वैसे ही उनके दिव्य भव्य व्यक्तित्व का मापन लेखनी-प्रसूत शब्दों द्वारा कर सकना सम्भव नहीं है। लगता है कि अपनी इस असफलता में ही महावीर व्यक्तित्व मापन की सफलता अन्तर्निहित है।

ज्योतिर्मय ! तुम्हारी प्रतीक्षा है

★ रूपवती 'किरण'

ज्योतिर्मय ! तुम्हारी प्रतीक्षा है। अज्ञान की घनी अंधियारी में अपना लोकोत्तर दिव्य आलोक फैला दो न। ओ महामानव ! तुम एक बार पुनः वही 'जिओ और जीने दो' का परम पावन सन्देश सुना दो। जिससे दिग्दगंत अग-जग गूँज उठे और मानव से लेकर सूक्ष्मतम प्राणियों में भी सुख शांति की लहर धावित हो नवस्पंदन दे दे। मानवता जय जयकार करेगी और मैं चन्द्र के थाल में नक्षत्रों के मोतियों की झालर लगा सूर्य की प्रखर ज्योति से तुम्हारी आरती उतारूँगी।

ओ दिव्यदर्पण ! तनिक अपनी झांकी तो दिखा दो, मैं अपना रूप संवार लूँ। यह निखिल जग अपनी छवि निहार ले। कदाचित् अपना प्रतिबिम्ब देख उसे अपनी सुधि हो आये। वह भटकना छोड़ अपनी राह लौट पड़े। यथार्थतः प्रकाश में खुली आँखों सत्य पर प्रहार असम्भव है। अज्ञानतम में मानव उद्दाम लालसाओं की मधुर श्रेयों प्रलोभनों का आवरण डाल मोहक आकर्षण हृदय में बसाये आंखें मूंद निरन्तर अविवेक के हथौड़े से सत्य पर प्रहार किये जा रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह दुःख और वेदना से थककर चूर चूर हो रहा है। पर न आंखें खुलती हैं, न अधंकार हटता है। दिन प्रतिदिन वासनाओं का उन्माद बढ़ता ही जा रहा है। तन के शृंगार में मन का शृंगार ही छूट गया।

आज मानव के कारूण्य को चुनौती दी है भयंकर सर्वग्रासी भयंकर हिंसक वृत्ति ने। महानाश के प्रलयंकर बादल विश्व के प्रांगण में सदैव मंडराते रहते हैं। उनकी आंशिक वर्षा ही मनुष्य को संत्रस्त किये हैं। विज्ञान के संहारक प्रगतिशील चरणों से धरासंतप्त और प्रकंपित है। क्षमामयी की सहिष्णुता अमर्यादित हो उससे किनारा कर रही है। उसकी असहनशीलता के परिचायक आज के विकराल भूकंप, हहराता हुआ तूफान, विनाशलीला करती हुई जड़ जंगम को लीलती बाढ़ें हैं। क्या करे बेचारी? उसकी घबराहट प्राणियों की मौत बन गई है। आओ प्रभु! धरित्री को समता तो बंधा जाओ। मानवता अपलक तुम्हारा पथ जोह रही है।

सुधाकर! मानव मानव के प्राणों का ग्राहक बन बैठा है। वह उन्मत्त हो ऐसे अस्वाभाविक कार्यों में प्रवृत्त है, जो उसके भाल पर अमिट कलंक की भांति लग चुके हैं। कहां पाऊँ वह विवेक का सद्वारि? कौन सा है वह अथाह सागर? जहां प्रायश्चित के निर्मलजल से यह कलंक धोकर बहा दूँ। मानव का भाल पुनः दिव्य दीप्ति से दमक उठे।

पूँजीपति शोसकों के निगड़ में अखिल विश्व के शोषित मानव कराह रहे हैं। प्रभु! उन्हें तुम्हारे आश्वासन, उद्बोधन की नितांत आवश्यकता है। ताकि वे अहिंसात्मक क्रांति का जयघोष कर विस्तृत भूभाग में विमुक्ति का पथ संवारते हुये सुदृढ़ चरणों से समता के धरातल पर शांति पूर्वक उतर आयें।

हे मानवता के संरक्षक! तुम्हारी मानवता भयभीत है। अहिंसा, सत्य की यहां खिल्ली उड़ रही है। अपरिग्रहवाद का उपहास किया जा रहा है। मानव में ऐश्वर्य का उन्माद जो जागा है। लज्जा निर्लज्जता की मार खाकर अर्धनग्न सी विक्षिप्त पड़ी है। मेरे प्रभु! क्या उसे सहारा दे न उठाओगे?

करुणामय! मानव की अज्ञानता चरम सीमा पार कर गई है। वह शांति पाने के मिस रणचण्डी का आह्वान करता है। पारस्परिक सौहार्द हेतु युद्ध सज्जा का प्रदर्शन एवं समानता लाने के लिये वैभव का संचयन करता है। वह मृतको के लिये संजीवनी की खोज तो कर रहा है, परन्तु जीवित प्राणियों के विध्वंस में प्रतिक्षण संलग्न है।

देव! तुम जिओ और जीने दो का शाश्वत सुमधुर जीवन-संगीत सुनाकर क्या एक बार पुनः समां न बांध दोगे? तुम्हारी ही स्वर-लहरी समष्टि के त्राण-हरण मे समर्थ। तुम्हारे स्मरण मात्र से मेरी हृत्तंत्री के तार तार झनझना उठते हैं। विह्वल हो अस्फुट स्वरों में अधर तुम्हारी जय जयकार का उद्घोष करने लगते हैं। रक्त की एक बूंद प्रतिपल सौ सौ चक्कर खाती हुई अद्भुत लास्यरत हो जाती है। लगता है कब तुम्हारे प्रत्यक्ष दर्शन करूँ। पधारो देव! मैं चंद्र के थाल में नक्षत्रों के मोतियों की झालर लगा सूर्य की प्रखर ज्योति से तुम्हारी आरती उतारूँगी। ज्योतिर्मय! तुम्हारी प्रतीक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत के दार्शनिकों ने इस सृष्टि का कर्ता धर्ता तथा पुरुषों के भाग्य का विधाता ईश्वर है या नहीं आदि प्रश्नों पर पर्याप्त ऊहापोह किया है और कुछ ने उसका अस्तित्व स्वीकारा और कुछ ने नकारा है। चार्वाक, सांख्य, मीमांसक, बौद्ध और जैन ऐसे किसी ईश्वर की सत्ता मानने से इन्कार करते हैं। विद्वान लेखक ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों प्रकार के दर्शनों द्वारा अपने-अपने पक्ष में दिये गये तर्कों की समीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि शरीर, इन्द्रिय और जगत के कारण रूप में 'ईश्वर' नामक किसी अन्य सत्ता की कल्पना व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जैन दृष्टिकोण का समर्थन किया है। लेख परिश्रमपूर्वक लिखा हुआ तत्सम्बन्धी जानकारी से भरपूर है।

— पोल्याका

ईश्वर : परिकल्पित निरर्थकता; आत्मा का परब्रम्हत्व स्वरूप : संत्रस्त एवं निराश मानव हेतु जीवन–विकास की आनन्दमयी एवं वैज्ञानिक दृष्टि

❀ डा० महावीरसरन जैन,
डी. फिल. डी. लिट्. वि. वि. निवास गृह
पचपेढ़ी जबलपुर

इस विशाल पृथ्वी पर जब कोई लघु मानव सृष्टि विधान, जीवों की उत्पत्ति तथा उनके भाग्य का निर्माता आदि विषयों पर विचार करने के लिए उद्यत होता है तथा सृष्टि के विविध जीवों में सुख-दुख की विषमताएं पाता है तो जगत के निर्माता पालक एवं संहारक किसी अदृश्य एवं परम शक्ति के रूप में ईश्वर की कल्पना करके, उसी को जीवों की उत्पत्ति एवं उनके भाग्य विधान का भी कारण मानकर सन्तोष कर लेता है। इसी भावना से अभिभूत हो वह इस प्रकार की विचार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारा अभिव्यक्त करता है कि जीवों का भाग्य ईश्वर के ही अधीन है, वही विश्व नियंता है, वही उन्हें उत्पन्न करता है, संरक्षण देता है तथा उनके भाग्य का निर्धारण करता है।

इन विषयों पर गहराई से विचार करने पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

क्या ईश्वर ही मनुष्य के भाग्य का निर्माता है ? क्या वही उसका भाग्यविधाता है ? यदि कोई मनुष्य सत्कर्म न करे तो भी क्या वह उसको अनुग्रह से अच्छा फल दे सकता है ? मनुष्य के जितने कर्म हैं वे सबके सब क्या पूर्व निर्धारित हैं ? उसके इस जीवन के कर्मों का उसकी भावी नियति से क्या किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है ?

मनुष्य ईश्वराधीन होकर ही क्या सब कर्म करता है या उसकी अपनी स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति भी है जिसके कारण वह अपनी निजी चेतना शक्ति के कारण कर्मों के प्रवाह को बदल सकता है ?

यदि ईश्वर ही भाग्य निर्माता होता तब तो वह मनुष्य को बिना कर्म के ही स्वेच्छा से फल प्रदान कर देता। यह मानने पर मनुष्य के पुरुषार्थ, धर्म, आचरण, त्याग एवं तपस्या मूलक जीवन व्यवहार की सार्थकता ही समाप्त हो जावेगी।

यदि जीव ईश्वराधीन ही होकर कर्म करता होता तो इस संसार में दुख एवं पीड़ा का अभाव होता। हम देखते हैं कि इस संसार में मनुष्य अनेक कष्टों को भोगता है। यदि ईश्वर या परमात्मा को ही निर्माता, नियंता एवं भाग्य विधाता माना जावे तो इसके अर्थ होते हैं कि ईश्वर इतना परपीड़ाशील है कि वह ऐसे कर्म कराता है जिससे अधिकांश जीवों को दुख प्राप्त होता है। निश्चय ही कोई भी व्यक्ति ईश्वर की परपीड़ा शील स्वरूप की कल्पना नहीं करना चाहेगा।

इस स्थिति में जीव में कर्मों को करने की स्वातन्त्र्य शक्ति माननी पड़ती है।

यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि कर्मों को सम्पादित करने की शक्ति या पुरुषार्थ की स्वीकृति मानने के अनन्तर क्या परमात्मा कर्मों के फल का विभाजन एक न्यायाधीश के रूप में करता है अथवा कर्मानुसार फल प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में फलोद्भोग में परमात्मा का अवलम्बन अंगीकार करना आवश्यक है अथवा नहीं ?

तार्किक दृष्टि से यदि विचार करें तो ईश्वर को नियामक एवं पाप पुण्य का फल देने वाला मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण कार्य के सिद्धान्त के आधार पर विश्व की समस्त घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना सम्भव है। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति के नियमों की कोई भी वैज्ञानिक शोध सम्भव न हो पाती।

यह तर्क दिया जा सकता है कि ईश्वर ने ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा की है। इन्हीं के कारण जीव सांसारिक कार्य प्रपंच करता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर के द्वारा ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा हुई होती तो उसमें जागतिक कार्य प्रपंचों में परिवर्तन करने की भी शक्ति होती। हम देख चुके हैं कि यह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि ऐसा होता तो परमकरुण ईश्वर के द्वारा निर्धारित संसार के जीवों के जीवन में किंचित भी दुख, अशान्ति एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्लेश नहीं होता।

यदि हम ईश्वर की कल्पना प्रशान्त, परिपूर्ण राग द्वेष रहित, मोह विहीन वीतरागी आनन्द परिपूर्ण रूप में करते हैं तो भी उसे फल में हस्तक्षेप करने वाला नहीं माना जा सकता। उस स्थिति में वह राग द्वेष तथा मोह आदि दुर्बलता से पराभूत हो जावेगा।

यदि जीव स्वेच्छानुसार एवं सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसमें परमात्मा के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है तथा वह अपने ही कर्मों का परिणाम भोगता है, फल प्रदाता भी दूसरा कोई नहीं है तो क्या उसकी उत्पत्ति एवं विनाश के हेतु रूप में किसी परम शक्ति की कल्पना करना आवश्यक है? इसी प्रकार क्या सृष्टि विधान के लिए भी किसी परम शक्ति की कल्पना आवश्यक है? यदि नहीं तो फिर परमात्मा या ईश्वर की परिकल्पना की क्या सार्थकता है।

कर्तावादी सम्प्रदाय पदार्थ का तथा उसके परिणमन का कर्ता (उत्पत्ति-कर्ता, पालनकर्ता तथा विनाशकर्ता) ईश्वर को मानते हैं। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने ईश्वर की परिकल्पना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परम शक्ति के रूप में की है जो विश्व का कर्ता तथा नियामक है तथा समस्त प्राणियों के भाग्य का विधाता है।

इसके विपरीत चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक, बौद्ध एवं जैन इत्यादि दार्शनिक परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। वैशेषिक दर्शन भी मूलतः ईश्वरवादी नहीं है।

भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते; शेष षड्दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन सांख्य है। इसका परवर्ती दार्शनिकों पर प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन के ईश्वरवाद की मीमांसा आवश्यक है। सांख्य दर्शन में दो प्रमेय माने गये हैं—(1) पुरुष, (2) प्रकृति।

पुरुष चेतन है, साक्षी है, केवल है, मध्यस्थ है, द्रष्टा है और अकर्ता है। प्रकृति जड़ है, क्रियाशील है और महत् से लेकर धरणि पर्यन्त सम्पूर्ण तत्वों की जन्मदात्री है, त्रिगुणात्मिका है, सृष्टि की उत्पादिका है, अज एवं अनादि है तथा शाश्वत एवं अविनाशी है।[2]

ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिकाओं में ईश्वर, परमात्मा, भगवान या परमेश्वर की कोई कल्पना नहीं की गयी है। कपिल द्वारा प्रणीत सांख्य सूत्रों में, ईश्वरासिद्धेः (ईश्वर की असिद्धि होने से) सूत्र उपस्थापित करके ईश्वर के विषय में अनेक तर्कों को प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रमुख तर्कों की मीमांसा की जावेगी :—

(1) कुसुम वच्चमणिः[3]—

सूत्र के आधार पर स्थापना की गयी है कि जिस प्रकार शुद्ध स्फटिकमणि में लाल फूल का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार असंग, निर्विकार, अकर्ता पुरुष के सम्पर्क में प्रकृति के साथ-साथ रहने से उसमें उस अकर्ता पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इससे जीवात्माओं के अदृष्ट कर्म संस्कार फलोन्मुखी हो जाते हैं तथा सृष्टि प्रवृत्त होती है।

यह स्थापना ठीक नहीं है। इसके अनुसार चेतन जीवात्माओं को पहले प्रकृति में लीन रहने की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उन्हें प्रकृति से उत्पन्न मानने पर जड़ को चेतन का कारण मानना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यदि अदृष्ट कर्म संस्कार फल प्रदान करते हैं तो फिर परमात्मा के सहकार की क्या आवश्यकता है ?

(2) अकार्यत्वेपि तद्योगः पारवश्यात्—4

सूत्र के आधार पर स्थापना की गई है कि प्रकृति कारण रूप है, कार्य नहीं है। अनन्त, विभु जीवात्मा पुरुषों के अदृष्ट कर्म संस्कार सहित सर्व संसार प्रकृति में लीन रहता है। चूंकि प्रकृति जड़ है अतएव सृष्टि के लिए उसमें पुरुष के योग की आवश्यकता होती है।

यह तर्क भी संगत नहीं है। हाइड्रोजन के दो एवं आक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से जल बन जाता है। इसमें परमात्म सहकार की अनिवार्यता दृष्टिगत नहीं होती।

यदि सर्व चेतन पुरुषों का सर्वातीत पुरुषोत्तम में लीन होकर सृष्टि के समय उत्पन्न होना माना जावे तो बीजांकुर न्याय से सर्वातीत पुरुषोत्तम सहित समस्त जीवात्माओं की उत्पत्ति नाश की दोषापत्ति करती है।

(3) एक स्थापना यह है कि परमात्मा सर्ववित् एवं सर्वकर्ता है और वह प्रकृति से अयस्कान्तवत् (चुम्बक सदृश्य) सृष्टि करता है। वह प्रेरक मात्र है।

यदि इस स्थापना को माना जावे तो परमात्मा को असंग, निर्गुण, निर्लिप्त, निरीह कैसे माना जा सकता है ?

(4) जिस प्रकार सेना की जय एवं पराजय का आरोप राजा पर किया जाता है उसी प्रकार प्रकृति के क्रियाकलापों का मिथ्या आरोप परमात्मा पर किया जाता है। तत्वतः परमात्मा कर्त्ता नहीं है। प्रकृति ही दर्पणवत् उसके प्रतिबिम्ब को प्राप्त करके सृष्टि विधान में प्रवृत्त होती है।

सृष्टि-विधान में प्रकृति की प्रवृत्ति तर्क संगत है किन्तु पुरुषाध्यास की सिद्धि के लिए पुरुष प्रतिबिम्ब की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। अलिप्त कर्ता की शक्ति से माया रूप प्रकृति का शक्तिमान बनकर जगत की सृष्टि करना संगत नहीं है। युद्ध में राजा सेना सहित स्वयं लड़ता है अथवा युद्ध एवं विजय के लिए समस्त उद्यम करता है। इस स्थिति में राजा को अकर्ता नहीं कहा जा सकता। चेतन, सूक्ष्म, निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार का अचेतन, स्थूल, आशा-विकल्पों से व्याप्त, सविकार एवं साकार प्रकृति जैसी पूर्ण विपरीत प्रकृति का संयोग सम्भव नहीं है। जीवात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध बन्धन के कारण है किन्तु क्या परमात्मा जैसी परिकल्पना को भी बन्धनग्रस्त माना जा सकता है जिससे उसका अशान्त एवं जड़ स्वभावी प्रकृति से सम्बन्ध सिद्ध किया जा सके।

निष्काम परमात्मा में सृष्टि की इच्छा क्यों ? पूर्ण से अपूर्ण की उत्पत्ति कैसी ? आनन्द स्वरूप में निरानन्द की सृष्टि कैसी ? जिसकी सभी इच्छायें पूर्ण हैं, जो आप्तकाम है उसमें सृष्टि रचना की इच्छा कैसी ?

इस प्रकार ईश्वरोपपादित सृष्टि की अनुपपन्नता सिद्ध होती है।

कर्तावादी दार्शनिकों ने विश्व-स्रष्टा की परिकल्पना इस सादृश्य पर की है कि जिस प्रकार कुम्हार घड़ा बनाता है उसी प्रकार ईश्वर संसार का निर्माण करता है। बिना बनाने वाले के घड़ा नहीं बन सकता। सम्पूर्ण विश्व का भी इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार किसी ने निर्माण किया है।

यह सादृश्य ठीक नहीं है। यदि हम इस तर्क के आधार पर चलते हैं, कि प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या द्रव्य का कोई न कोई निर्माता होना जरूरी है तो फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस जगत के निर्माता परमात्मा का भी कोई निर्माता होगा और इस प्रकार यह चक्र चलता जावेगा। अन्ततः इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

कुम्हार भी घड़े को स्वयं नहीं बनाता। वह मिट्टी आदि पदार्थों को सम्मिलित कर उन्हें एक विशेष रूप प्रदान कर देता है।

यदि ब्रह्म से सृष्टि विधान इस आधार पर माना जाता है कि ब्रह्म अपने में से जगत को आकार बनकर आप ही क्रीड़ा करता है तब पृथ्वी आदि जड़ के अनुरूप ब्रह्म को भी जड़ मानना पड़ेगा अथवा ब्रह्म को चेतन मानने पर पृथ्वी आदि को चेतन मानना पड़ेगा।

यदि ब्रह्मा ने सृष्टि विधान किया है तो इसका अर्थ यह है कि सृष्टि विधान के पूर्व केवल ब्रह्मा का अस्तित्व मानना पड़ेगा। इसी आधार पर शून्यवादी कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा, वर्तमान पदार्थ का अभाव होकर शून्य हो जावेगा तथा शांकरवेदांती ब्रह्म को विश्व के जन्म, स्थिति और संहार का कारण मानते हुए भी[7] जगत को स्वप्न एवं माया रचित नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानते हैं।[8] क्या सृष्टि विधान का कारण परमात्मा ही है? क्या सृष्टि की आदि में जगत न था, केवल ब्रह्म था तथा इसका अस्तित्व क्या शून्य हो जावेगा? आदि के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रश्न उपस्थित होते हैं कि सृष्टि की सत्ता सत्य है या मिथ्या है, नित्य है या अनित्य है? जड़ है या चेतन है? यदि परमात्मा से सृष्टि विधान माना जाता है तो या तो परमात्मा की चेतन रूप की परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी आदि को भी चेतन मानना पड़ेगा अथवा पृथ्वी आदि के अनुरूप परमात्मा को जड़ मानना पड़ेगा। सत्य स्वरूप ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानने पर ब्रह्म का कार्य असत्य कैसे हो सकता है? यदि जगत की सत्ता सत्य है तो उसका अभाव कैसा? जगत को स्वप्न एवं माया रचित गन्धर्व नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानना क्या संगत है?

क्या जगत को माया के विवर्त रूप में स्वीकार कर रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत की भांति कल्पित माना जा सकता है? कल्पना गुण है। गुण तथा द्रव्य की पृथकता नहीं हो सकती। स्वप्न बिना देखे या सुने नहीं आता। सत्य पदार्थों के साक्षात् सम्बन्ध से वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है।

स्वप्न में उन्हीं का प्रत्यक्षण होता है। स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञान मात्र होता है अभाव नहीं।

इस कारण जगत को अनित्य भी नहीं माना जा सकता। जब कल्पना का कर्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए अन्यथा वह भी अनित्य हुआ।

जैसे सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं वैसे ही प्रलय में ही जगत के बाह्य रूप के ज्ञान के अभाव में भी द्रव्य वर्तमान रहते हैं। कोयला को जितना चाहें जलावें, वह राख बन जाता है, उस

का बाह्य रूप नष्ट हो जाता है किन्तु 'कोयला' में जो द्रव्य तत्व है वह सर्वथा नष्ट कभी नहीं हो सकता ।

विश्व जिन जीवों (चेतनाओं) एवं पुद्गल (पदार्थों) का समुच्चय है वे तत्वतः अविनाशी एवं आंतरिक हैं । इस कारण जगत को मिथ्या स्वप्नवत् एवं शून्य नहीं माना जा सकता । किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती । किसी भी प्रयोग से नये जीव अथवा नए परमाणु की उत्पति नहीं हो सकती । पदार्थ में अपनी अवस्थाओं का रूपान्तर होता है । इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक मूल तत्व की अपनी मूल प्रकृति है । कार्य कारण के नियम के आधार पर प्रत्येक मूल तत्व अपने गुणानुसार बाह्य स्थितियों में प्रतिक्रियाएं करता है । इस कारण जगत मिथ्या नहीं है । संसार के पदार्थ अविनाशी हैं इस कारण विश्व को स्वप्नवत् नहीं माना जा सकता । ब्रह्माण्ड के उपादान या तत्व अनादि, आन्तरिक एवं अविनाशी होने के कारण अनिर्मित हैं । शून्य से किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता । शून्य से जगत मानने पर जगत का अस्तित्व स्थापित नहीं किया जा सकता । जो वस्तु है उसका अभाव कभी नहीं होता । इस प्रकार जगत सत्य है तथा उसका शून्य से सद्भाव सम्भव नहीं है । इस प्रकार ईश्वर को अनादि अनन्त मानना तर्क संगत है ।

विज्ञान का भी यह सिद्धांत है कि पदार्थ अविनाशी है । वह ऐसे तत्वों का समाहार है जिनका एक निश्चित सीमा के आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता ।

अब प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या परमात्मा या ईश्वर को समस्त जीवों के अंशी रूप से स्वीकार कर जीवों को परमात्मा के अंश रूप में स्वीकार किया जा सकता है ?

आत्मवादी दार्शनिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं । श्री मद् भगवत् गीता में भी इसी प्रकार की विचारणा का प्रतिपादन हुआ है । यह जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, न कभी उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होता है, अपितु यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता । इस जीवात्मा को अविनाशी नित्य अज और अव्यय अर्थात् विचार रहित समझना चाहिए । जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का त्याग करके नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोडकर नवीन शरीरों को ग्रहण करता रहता है । इसे न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है । यह अच्छेद्य, अदाह्य एवं अशोष्य होने के कारण नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है ।[9] इस दृष्टि से किसी को आत्मा का कर्ता स्वीकार नहीं कर सकते । यदि आत्मा अविनाशी है तो उसके निर्माण या उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । इसका कारण यह है कि यह सम्भव नहीं कि कोई वस्तु निर्मित हो किन्तु उसका विनाश न हो । इस कारण जीव ही कर्ता तथा भोक्ता है कर्मानुसार अनेक रूप धारण करता रहता है ।[10]

जैन दर्शन की भांति चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक एवं बौद्ध इत्यादि भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते । न्याय एवं वैशेषिक दर्शन मूलत : ईश्वरवादी प्रतीत नहीं होते । वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं है । न्याय सूत्रों में कथंचित है । इन दर्शनों में परमाणु को ही सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक मूल तत्व माना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है ।[11] सृष्टि की उत्पत्ति 'परमाणुवाद सिद्धांत' के आधार पर मानी गयी है । दो परमाणुओं के योग से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के योग से त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुरणुक और चतुरणुकों के योग से अन्य स्थूल पदार्थों की सृष्टि मानी गयी है ।[12] जीवात्मा को अणु, चेतन, विभु तथा नित्य आदि कहा गया है ।[13] इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में परमाणु को मूल तत्व मानने के कारण ईश्वर या परमात्म शक्ति को स्वीकार नहीं किया गया ।

न्याय में सूत्रकाल में ईश्वरवाद अत्यन्त क्षीण प्रायः था । भाष्यकारों ने ही ईश्वर वाद की स्थापना पर विशेष बल दिया । आत्मा को ही दो भागों में विभाजित कर दिया गया—जीवात्मा एवं परमात्मा ।

'ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव सुख दुःखादि रहितः जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ॥'[14]

इस दृष्टि से आत्मा ही केन्द्र बिन्दु है जिस पर आगे चल कर परमात्मा का भव्य प्रासाद निर्मित किया गया ।

आत्मा को ही ब्रह्म रूप में स्वीकार करने की विचारधारा वैदिक एवं उपनिषद् युग में भी थी । 'प्रज्ञाने ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसे सूत्र वाक्य इसके प्रमाण हैं । ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप है । यही लक्षण आत्मा का है । 'मैं ब्रह्म हूं', 'तू ब्रह्म ही है', 'मेरी आत्मा ही ब्रह्म है' आदि वाक्यों में आत्मा एवं ब्रह्म पर्याय रूप में प्रयुक्त हैं ।

पतंजलि ने ईश्वर पर बल न देते हुए आत्म स्वरूप में अवस्थान को ही परम लक्ष्य, योग या कैवल्य माना है ।

जैन दर्शन भी पुरुष विशेषः ईश्वरः में विश्वास नहीं करता । प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा बनने की शक्ति का उद्घोष करता है । द्रव्य की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है । दोनों का अन्तर अवस्थागत अर्थात् पर्यायगत है । जीवात्मा शरीर एवं कर्मों की उपाधि से युक्त हो कर 'संसारी' हो जाता है । 'मुक्त' जीव त्रिकाल शुद्ध नित्य निरंजन 'परमात्मा' है । 'जिस प्रकार यह आत्मा राग द्वेष द्वारा कर्मों का उपार्जन करती है और समय पर उन कर्मों का विपाक फल भोगती है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्ध लोक में सिद्ध पद को प्राप्त करती है ।'[15]

'आत्मा देव देवालय में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, लेप तथा मूर्ति में भी नहीं है । वह देव अक्षय अविनाशी है, कर्म फल से रहित है, ज्ञान से पूर्ण है, समभाव में स्थित है ।'[16]

'जैसा कर्मरहित, केवलज्ञानादि से युक्त प्रकट कार्य समयसार सिद्ध परमात्मा परम आराध्य देव मुक्ति में रहता है वैसा ही सब लक्षणों से युक्त शक्ति रूप कारण परमात्मा इस देह में रहता है···· तू सिद्ध भगवान् और अपने में भेद मत कर ।[17]

'हे पुरुष ! तू अपने आप का निग्रह कर, स्वयं के निग्रह से ही तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जायेगा ।'[18]

'हे जीव ! देह का जरा-मरण देखकर भय मत कर । जो अजर अमर परम ब्रह्म है उसे ही अपना मान ।'[19]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव का लक्ष्य पर ब्रह्मत्व अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है,

'जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इस प्रकार मैं ही स्वयं अपना उपास्य हूं। अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है।'[20]

'जो व्यवहार दृष्टि से देह रूपी देवालय में निवास करता है और परमार्थतः देह से भिन्न है वह मेरा उपास्यदेव अनादि अनन्त है। वह केवल ज्ञान स्वभावी है। निःसंदेह वही अचलित स्वरूप कारण परमात्मा है।[21]

'कारण परमात्मा स्वरूप इस परम तत्व की उपासना करने से यह कर्मोपाधि युक्त जीवात्मा ही परमात्मा हो जाता है जिस प्रकार बांस का वृक्ष अपने को अपने से रगड़कर स्वयं अग्नि रूप हो जाता है।'[22]

'उस परमात्मा को जब केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, योग निरोध के द्वारा समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, जब वह लोक शिखर पर सिद्धालय में जा बसता है तब उसमें ही वह कारण परमात्मा व्यक्त हो जाता है।'[23]

जैन दर्शन की सृष्टि व्यवस्था के सम्बन्ध में ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का निषेध तथा सर्व व्यापक एक परमात्मा के स्थान पर प्रत्येक जीवन का मुक्त हो जाने पर कार्य-परमात्मा बन जाने संबंधी विचारधारा का प्रभाव परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों पर पड़ा है। वस्तुतः स्वभाव एवं कर्म इन दो शक्तियों के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय एवं जगत के कारण रूप में 'ईश्वर' नामक किसी अन्य सत्ता की कल्पना व्यर्थ है।'[24]

---

1. सांख्य तत्व कौमुदी, कारिका 18, 19।
2. वही–कारिका 11, 12, 14।
3. सांख्य सूत्र 35। प्रकाश 2।
4. सांख्य सूत्र 55। प्रकाश 3।
5. सांख्य सूत्र 56-57। प्रकाश 3।
6. दे. सांख्य सूत्र 58। प्रकाश 3।
7. तैत्तिरीयोपनिषद 3।1; 3।6 और ब्रह्मसूत्र 1।1।2 पर शांकर भाष्य।
8. ब्रह्म सूत्र 2।1।14; 2।2।29; विवेक चूड़ामणि 140; 142; वेदांत सार, पृ. 8।
9. गीता 2।20-24 एवं 2।51 पर शांकर भाष्य।
10. (क) ब्रह्मसूत्र 2।3।33-39। (ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् 4।6। (ग) ईशोपनिषद् 3।
11. तर्क भाषा, पृ. 108।
12. वही–पृ. 181।
13. वही–पृ.152-153।
14. तर्क संग्रह, खण्ड 1।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

15. जहा रागेण कडाणं कम्माणं, पावगो फलविवागो
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ।।
—औपपातिक सूत्र–35 ।

16. देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पई णवि चित्ति
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिय समचित्ति ।।
—परमात्म प्रकाश–123 ।

17. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ।।
—परमात्म प्रकाश–26 ।

18. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमोक्खसि ।
—आचारांग 3।3।119 ।

19. देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि ।।
—पाहुड दोहा 1।33 (मुनि रामसिंह)

20. यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ।।
—समाधि शतक, 31 (पूज्यपाद)

21. देह देवलि जो वसइ दे उ अणाइ अणंतु ।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु ।।
—परमात्म प्रकाश 1।33 (योगेन्दु देव)

22. 'उपास्यमानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः'
—समाधिशतक (पूज्यपाद)

23. ज्ञानं केवलसंज्ञं योग निरोधः समग्रकर्म्महतिः ।
सिद्धिनिवासश्च यदा, परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ।।
—अध्यात्म सार 20।24 (उपाध्याय यशोविजय)

24. तदनुकरण भुवनादौ निमित्त कारणत्वादीश्वरस्य न चैतदसिद्ध्यः
—आप्त परीक्षा 1।51 ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति की वृत्ति

❀ प्रो० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'
एम० ए० (स्वर्णपदक प्राप्त), रिसर्चस्कालर
हिन्दी-विभाग-श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय अलीगढ़।

छठी शती की बात है। एक व्यक्ति धनोपार्जन हेतु दूसरे प्रान्तर गया। दीर्घकाल तक वह घर नहीं लौटा। पत्रों की शृंखला बंध गयी। व्यक्ति उनकी उपेक्षा करता गया।

छः मास के उपरान्त उसका लौटना हुआ। मार्ग में विश्राम हेतु एक धर्मशाला में उसने टिकने का निश्चय किया। रात्रि का दीपक जला। यात्रा की थकान मिटाने के लिए व्यक्ति शैय्या पर लेट गया। वह शैय्या पर लेट कर सुख का आनन्द ले ही रहा था कि समीप अवस्थित कमरे से करुण क्रंदन सुनाई पड़ा। इधर निशा यौवन को प्राप्त हो रही थी उधर क्रन्दन आरोहण को अग्रसर था। व्यक्ति के सुखानन्द में व्यवधान आ पड़ा। उसके वस्तुस्थिति को जानने के लिए परिचारक को भेजा।

परिचारक ने स्थिति का उद्‌घाटन किया—'बाबूजी! निकट के कमरे में एक लड़का ठहरा हुआ है। उसके उदरशूल हो रहा है। इसलिए वह चिल्ला रहा है।'

व्यक्ति ने मौन तोड़ा—अबे ! जा, उसे समझा, वह रोये नहीं। मुझे नींद नहीं आ रही। कह दे।'

परिचारक कह आया पर रोना रुका नहीं अपितु स्वर ने तीव्रता और पकड़ ली। व्यक्ति फुफकार उठा। उसने परिचारक को आदेश दिया—'उसे धर्मशाला से निकाल दो।'

अरण्य न्याय कब नहीं चलता ? परिचारक गए और लड़के तथा उसके सेवक के बिस्तर बाहर फेंक दिए।

रात ढल रही थी। घर के भीतर भी लोग ठिठुर रहे थे। व्यक्ति आराम से सो गया। वह प्रातःकाल उठा।

'ये कहने से नहीं मानते, कुछ आ बीतती है तब मानते हैं'—कहते कहते व्यक्ति ने सुख की सांस ली।

उसका अभिमान सीमा का अतिक्रमण कर गया। वह बोला—'पहले शान्त रहता तो क्यों जाना पड़ता ?'

परिचारक बोला—'बाबूजी ! शान्त तो वह मर कर ही हुआ है।'

क्या, मर गया ?

जी, मर गया !

कौन था वह ?

आप ही जानें !

व्यक्ति उठकर बाहर आया। गांव और पिता नाम को जानकर व्यक्ति के प्राण भीतर के भीतर और बाहर के बाहर रह गए। अब वह अपने पुत्र के लिए आंसू ही बहा सकता था।

सामाजिक जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के कारण मनुष्य कितना क्रूर हो जाता है। निस्संदेह सच्चा और अच्छा जीवन 'जीओ और जीने दो' में व्यञ्जित है।

पीलीकोठी, आगरारोड़, अलीगढ़।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार में मुख्य रूप से दो प्रकार के दर्शन हैं—1. आत्मवादी, और 2. अनात्मवादी। जैन, सांख्य, योग, मीमांसा आदि दर्शन प्रथम श्रेणी में आते हैं और बौद्ध दर्शन द्वितीय श्रेणी में। फिर भी दोनों ही प्रकार के दर्शन इस बात में एक मत हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा मिलता है। दोनों ही प्रकार के दर्शनों ने तीन प्रकार के कर्म माने हैं। इनके नामों में भिन्नता होने पर भी इनके स्वरूप में प्रायः भिन्नता नहीं है। पाश्चात्य दर्शन भी कर्मों का विभाजन इसी प्रकार करता है। जैन, बौद्ध और गीता दर्शनों में माने गए इन तीनों ही प्रकार के कर्मों का विशद तुलनात्मक अध्ययन विद्वान् लेखक ने परिश्रमपूर्वक अपने इस निबन्ध में प्रस्तुत किया है जो इस विषय के अध्येताओं के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

—पोल्याका

जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का अशुभत्व, शुभत्व और शुद्धत्व

● डा० सागरमल जैन,
अध्यक्ष दर्शन विभाग
हमीदिया महाविद्यालय
भोपाल (म.प्र.)

तीन प्रकार के कर्म :—

यद्यपि जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति ठीक है, लेकिन जैनाचार दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियायें समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं, एक को कर्म कहा गया है दूसरे को अकर्म; समस्त साम्परायिक क्रियायें कर्म की श्रेणी में और ईर्यापथिक क्रियाएं अकर्म की श्रेणी में आती हैं। यदि नैतिक दर्शन की दृष्टि से विचार करें, तो प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अति-नैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं, उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा के अनुसार कर्म तीन प्रकार होते हैं[1] ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) 2 पुण्य कर्म और 3 पाप कर्म। बौद्ध विचारणा में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं 1 अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म 2 कुशल या शुक्ल कर्म और 3 अकुशल या कृष्णकर्म। गीता भी तीन प्रकार के कर्म बताती है–1 अकर्म 2 कर्म (कुशल कर्म) और 3 विकर्म (अकुशल कर्म)। जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारणा का ईर्यापथिक कर्म बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म है। इसी प्रकार जैन विचारणा का पुण्य कर्म बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म या कुशलकर्म और जैन विचारणा का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं 1—अतिनैतिक, 2 नैतिक, 3 अनैतिक। जैन विचारणा का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पाप कर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक, शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध विचारणा में अतिनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म का क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

	कर्म	पाश्चात्य आचार दर्शन।	जैन	बौद्ध	गीता
1.	शुद्ध	अतिनैतिक कर्म	ईर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
2.	शुभ	नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म (कुशल कर्म)
3.	अशुभ	अनैतिक कर्म	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म

आध्यात्मिक या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर और शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढ़ना होगा। आगे हम इसी क्रम से उन पर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म : जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक संदर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियों का क्षय करे, वह पाप है[1]। सामाजिक संदर्भ में जो पर पीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीड़नं) वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट की प्राप्ति हो, वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण या दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं, पाप कर्म हैं। मात्र इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण :जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के हैं : 1. प्राणातिपात–हिंसा, 2. मृषावाद-असत्य भाषण, 3. अदत्तादान–चौर्य कर्म, 4 मैथुन–काम विकार या लैंगिक प्रवृत्ति, 5. परिग्रह–ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय वृत्ति, 6. क्रोध–गुस्सा, 7. मान-अहंकार, 8. माया, कपट, छल, षड्यंत्र और कूटनीति, 9. लोभ–संचय या संग्रह की वृत्ति, 10. राग-आसक्ति, 11. द्वेष–घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या। 12. क्लेश–संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि, 13. अभ्याख्यान–दोषारोपण, 14. पिशुनता–चुगली, 15. परपरिवाद–परनिंदा, 16. रति अरति-हर्ष और शोक, 17. माया मृषा-कपट सहित असत्यभाषण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

18. मिथ्यादर्शनशल्य-अयथार्थ श्रद्धा या जीवन दृष्टि[2]।

बौद्ध दृष्टिकोण : बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न 10 प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है[3] :—

(अ) कायिक पाप : 1. प्राणातिपात-हिंसा, 2. अदत्तादान-चोरी या स्तेय, 3. कामेसु-मिच्छाचार-कामभोग सम्बन्धी दुराचार।

(ब) कायिक पाप : 4. मृषावाद-असत्य भाषण, 5. पिसुनावाचा-पिशुन वचन, 6. फरूसावाचा-कठोर वचन, 7. सम्फलाप-व्यर्थ आलाप।

(स) मानसिक पाप : 8. अभिज्जा—लोभ, 9 व्यापाद-मानसिक हिंसा या अहित चिंतन, 10. मिच्छादिट्ठी—मिथ्या दृष्टिकोण।

अभिधम्म संगहो में निम्न 14 अकुशल चैतसिक बताए गए हैं :

1. मोह-चित्त का अन्धापन, मूढ़ता, 2. अहिरिक निर्लज्जता, 3 अनौत्तप्पं-अभीरुतापाप कर्म में भय न मानना, 4. उद्धच्चं-उद्धतपन, चञ्चलता, 5. लोभो-तृष्णा, 6. दिट्ठि-मिथ्या दृष्टि 7. मानो-अहंकार, 8. दोसो-द्वेष, 9. इस्सा-ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना) 10. मच्छरियं-मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), 11. कुक्कुच्च-कौकृत्य (कृत—अकृत के बारे में पश्चाताप), 12. थीनं, 13. मिद्ध, 14. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशयालुपन)।

गीता का दृष्टिकोण : गीता भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख आसुरी सम्पदा के रूप में किया गया है। गीता रहस्य में तिलक ने मनु स्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है[5]।

(अ) कायिक : 1. हिंसा, 2. चोरी, 3. व्यभिचार

(ब) वाचिक : 4. मिथ्या (असत्य), 5. ताना मारना, 6. कटुवचन, 7. असंगत बोलना

(स) मानसिक : 8. परद्रव्य अभिलाषा, 9. अहित चिन्तन, 10. व्यर्थ आग्रह

पाप के कारण : जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—1. राग या स्वार्थ, 2. द्वेष या घृणा और 3. मोह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—1. लोभ (राग), 2. द्वेष और 3. मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

पुण्य (कुशल कर्म) : पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्वार्थ सूत्रकार कहते हैं—शुभाश्रव पुण्य है[6]। लेकिन पुण्य मात्र आश्रव नहीं है, वरन् वह बन्ध और विपाक भी है दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नहीं है वरन् उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र-पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है[7]। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थापना सूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं—पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है[8]। आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधनों में सहायक तत्व हैं। मुनि सुशीलकुमार जैनधर्म नामक पुस्तक में लिखते हैं-पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है[9]। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं-जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्व मुखी होता है अर्थात् आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक-समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है[10]।

जैन तत्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं, पुण्य कहलाती है। साथ ही दूसरी ओर वे पद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियां भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण—भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है[11]। स्थानांग सूत्र में नव प्रकार के पुण्य बताए गए हैं[12] :—

1. अन्न पुण्य : भोजनादि देकर क्षुधार्त्त की क्षुधा निवृत्ति करना।
2. पान पुण्य : तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी मिलना।
3. लयन पुण्य : निवास के लिये स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. शयन पुण्य : शय्या, बिछौना आदि देना।
5. वस्त्र पुण्य : वस्त्र का दान देना।
6. मन पुण्य : मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।
7. वचन पुण्य : प्रशस्त एवं संतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
8. काय पुण्य : रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. नमस्कार पुण्य: गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिये उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्त निकाय में कहा गया है—अन्न, पान, वस्त्र, शैय्या, आसन एवं चादर के दानी पुरुष में पुण्यकी धाराएँ आ गिरती है। अभिधम्मत्थसंगहो में 1. श्रद्धा, 2. अप्रमत्तता (स्मृति), 3. पाप कर्म के प्रति लज्जा, 4. पाप कर्म के प्रति भय, 5. अलोभ (त्याग), 6. अद्वेष-मैत्री, 7. समभाव, 8-9. मन और शरीर की प्रसन्नता, 10-11. मन और शरीर का हलकापन, 11-12. मन और शरीर की मृदुता, 13-14. मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[13]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन और बौद्ध विचारणा में पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है कि जैन विचारणा में संवर निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है। जब कि बौद्ध विचारणा में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं हैं। जैनाचार दर्शन में सम्यक् दर्शन, (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक् चारित्र (शील) को संवर और निर्जरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन में धर्म संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशलकर्म) के अन्तर्गत माना गया है [13]।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी : शुभाशुभता या पुण्य पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। 1– कर्म का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव। 2– दूसरा कर्त्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौनसा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन में आता है[14]। धम्मपद में बुद्ध वचन भी ऐसा ही (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है[15]। बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है, इसका प्रमाण सूत्रकृतांग सूत्र के आर्द्रक बौद्ध सम्वाद में भी मिलता है[16]। जहां तक जैन मान्यता का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। शुभ अशुभ कर्म के बंध का आधार मनोवृत्तियां ही हैं। एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए परन्तु डाक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही भोगी होगा। इसके विपरीत वही डाक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डाक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है[17]। प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं–पुण्य बंध और पाप बंध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है[18]।

इन कथनों के आधार पर तो यह स्पष्ट है, कि जैन विचारणा में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियां ही हैं फिर भी जैन विचारणा में कर्म का बाह्य स्वरूप उपेक्षित नहीं है। यद्यपि निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से मनोवृत्तियां ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं तथापि व्यवहार दृष्टि में कर्म का बाह्य स्वरूप ही सामान्यतया शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रक कुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं जो मांस खाता हो चाहे न जानते हुए भी खाता हो तो भी उसको पाप लगता ही है, हम जानकर नहीं खाते इसलिए हम को दोष (पाप) नहीं लगता ऐसा कहना एक दम असत्य नहीं तो क्या है[19]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है, वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय करती है, उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आंतरिक) दोनों का मूल्य है। उसमें योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रबल कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती है। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं है। मन में शुभ भाव होते हुए पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है—मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? उसकी दृष्टि में **सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्म प्रवंचना और लोक छलना है**। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—कर्म बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं स्वयं करने से, दूसरों से एक कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए, जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बात मानकर पाप में पड़े रहते हैं[20]।

पाश्चात्य आचार दर्शन में भी सुखवादी विचारक कर्म की फल निष्पत्ति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जबकि मार्टिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य रहा हुआ है, एक का आधार लोकदृष्टि या समाज दृष्टि है और दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा परमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है। कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम दोनों का ही मूल्यांकन आवश्यक है।

चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहां कर्म अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहां पुण्य पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वैयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है, उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहां तक शुभ-अशुभ का सम्बन्ध है उसमें "राग" या आसक्ति का तत्व तो रहा हुआ है शुभ और अशुभ दोनों में ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव में कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक होगा। यहां प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं वरन् उसकी प्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण है । राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष के तत्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है । यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा ।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है । उस प्रेम से परार्थ या परोपकार वृत्ति का उदय होता है, जो शुभ का सृजन करती है उसी से लोक मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य कर्म निसृत होते हैं जबकि द्वेष युक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ वृत्ति का विकास करता है, उससे अशुभ, अमंगलकारी पाप कर्म निसृत होते है संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होते हैं वह पुण्य कर्म और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होते हैं वह पाप कर्म ।

जैन आचार दर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक बल देता है, वे सभी समाज सापेक्ष हैं । वस्तुत: शुभ अशुभ वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है । भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि परोपकार पुण्य है और पर-पीडन पाप है' । जैन विचारकों ने पुण्य बन्ध के दान सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है । इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक अमंगलकारी तत्व हैं[21] । इस प्रकार हम कह सकते हैं जहां तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है हमें सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे देखना होगा । यद्यपि बन्धन की दृष्टि से उस पर विचार करते समय कर्ता आशय को भुलाया नहीं जा सकता है ।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार—यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गए व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है । लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए ? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यह है कि जिस प्रकार के व्यवहार को हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं, वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना; यही शुभाचरण है । इसके विपरीत जो व्यवहार हमें प्रतिकूल है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना, अशुभाचरण है । भारतीय ऋषियों मात्र का यही सन्देश है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत्' अर्थात् जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो । संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है ।

जैन दृष्टिकोण-जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है[22] । दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है[23] । सूत्रकृतांग में धर्माधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना, यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है । सभी को जीवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नहीं चाहता, सभी को प्राण प्रिय हैं, सुख शान्तिप्रद है और दुख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[24]

बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण—बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं–जैसा मैं हूं वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूं इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए[25]। धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है, अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे। जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख प्रदान करता है वह मरकर भी सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता, वह मर कर भी सुख को प्राप्त होता है[26]।

गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण–मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है, वही परमयोगी है[28]। महाभारत में अनेक स्थानों पर इसी दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है। उसमें कहा गया है कि जैसा कि अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे[29]। त्याग-दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मान कर व्यवहार करना चाहिए[30]। जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है[31]। जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाए; हे युधिष्ठर! धर्म और अधर्म की पहिचान का यही लक्षण है[32]।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य दर्शन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कान्ट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो। मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के वह सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो[33]। कान्ट के इस कथन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर—जैन विचारणा में शुभ एवं अशुभ अथवा मंगल अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में नव तत्व माने गये हैं जिसमें पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्व के रूप में गिना गया है[34]। जबकि तत्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातों को ही तत्व कहा है वहां पर पुण्य और पाप का स्वतंत्र तत्व के रूप में स्थान नहीं है। लेकिन यह विवाद अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतन्त्र तत्व नहीं मानती है वह भी उनको आश्रय एवं बंध तत्व के अन्तर्गत तो मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आश्रव नहीं है वरन् उनका बंध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आश्रव के दो विभाग शुभाश्रव और अशुभाश्रव करने से काम पूर्ण पूरा नहीं होता वरन् बंध और विपाक में भी दो दो भेद करने होंगे। इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही शायद पाप एवं पुण्य को दो स्वतंत्र तत्व के रूप में मान लिया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य पाप से ऊपर उठ जाने में हैं शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण---ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है---पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं[36] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं---अशुभकर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं[37]। आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण की बेड़ी है और पाप लोह की बेड़ी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं[38]। इसी प्रकार पं० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

पुण्यपाप दोउकरम
बंधरूप दुइ मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो,
बंदू चरन हित जानि[39]॥

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण लक्ष्य दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोड़ना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है, जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना भी जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है–वैसे ही पुण्य भी पाप रूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या अन्य रेचक औषधि मल के रहने तक रहती है और मल निकल जाने पर वह भी निकल जाती है वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म संतति को जन्म नहीं देते हैं। अतः वस्तुतः व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका कर्म शुभ बन जाता है। शेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निसृत होते हैं वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपरोक्त क्रियाए भी जब अनासक्तभाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्मक्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं, चाहे उनका फल सुख के रूप में क्यों नहीं हो। जैनाचार दर्शन में अनासक्त भाव या राग द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का ही कारण समझा गया है। यहां पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जब दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ से शुद्ध कर्म (वीतरागदशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है। भगवान बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं–जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है इस लोक और परलोक (के यथार्थ स्वरूप) को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है जो जन्म मरण से परे हो गया है वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा (तथता) कहलाता है[40]। समिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वंदना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह बुद्ध के प्रति कहता है जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आप पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते[41]। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण—स्वयं गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं 'हे अर्जुन, तू जो भी कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख। इस प्रकार सन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जावेगा और मुझे प्राप्त होवेगा[42]। गीताकार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बुद्धिमान व्यक्ति शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को ही त्याग देता है।[43] सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए पुनः कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है **वह** भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है[44]। डा० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया है। वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ सम स्वर हो कर कहते हैं 'चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बन्धे हो या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनों ही हैं। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में हम बन्धे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।[45] जैन दर्शन के समान गीता भी हमें यही बताती है कि प्रथमतः जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है तदनन्तर वह पुरुष रागद्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक मेरी भक्ति करता है।[46] इस प्रकार गीता भी नैतिक जीवन के लिए अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य आचार दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अनेक विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है ब्रेडले का कहना है कि नैतिकता हमें उससे परे ले जाती है।[47] नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म-पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म–साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा। ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है, उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है। जहां व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुंच जाते हैं, जहां पर क्रिया एवं प्रतिक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहां से ही आरम्भ होती है। यहां पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।[48]

ब्रेडले ने जो भेद नैतिकता और धर्म में किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है यहां आचरण की दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मंगल ही उसका साध्य होता है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)—शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालता है, अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते है कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या कर्मणा बध्यते बन्धुः की उचित सर्वांश सत्य है? जैन, बौद्ध एवं गीता की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बंधन में आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नहीं है। प्रथमतः कर्म या क्रिया के सभी रूप बंधन की दृष्टि से समान नहीं है, फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कर्म (बंधक कर्म) क्या है? और अकर्म (अबंधक कर्म) क्या है? इसके सम्बन्ध में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।[49] कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है, कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समान रूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर अशुद्ध है और कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्यरीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।[50] कर्म का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्त्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियां भी महत्वपूर्ण तथ्य हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कर्मों पर ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है, कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊंगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।[51] वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बंधक और अबंधक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बंधकत्व की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय आचार दर्शन का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

जैन दर्शन में कर्म अकर्म विचार—कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—1. उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और 2 उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कर्म का बंधनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों का कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन विचारणा में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप की विवेचना सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[52] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता यही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का कर्म अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं प्रमाद कर्म है अप्रमाद अकर्म है।[53] प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा में सक्रियता भी अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकतत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय, जो कि आत्मा की प्रमत दशा है किसी क्रिया का कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आश्रव या बन्धन कारक क्रियाएं हैं, वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।[54] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्त्ता के विवेक और मनोवृति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा में बन्धक तत्व की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बांटा गया है। 1 ईर्यापथिक क्रियाएं (अकर्म) और 2—साम्परायिक क्रियाएं (कर्म या विकर्म) ईर्यापथिक क्रियाएं निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएं हैं जो बन्धनकारक नहीं है जबकि साम्परायिक क्रियाएं आसक्त व्यक्ति की क्रियाएं हैं जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएं जो आश्रव एवं बन्ध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएं जो संवर एवं निर्जरा का हेतु है, अकर्म है। जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्त्तव्य अथवा शरीर निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह सहित क्रियाएं। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है बन्धन में डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्त्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण नहीं है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएं या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएं या कर्म कहती हैं, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। आइए जरा इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करें।

बौद्ध दर्शन में कर्म अकर्म का विचार : बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में, विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती समदास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध 'भारत में नैतिक दर्शन का विकास' में किया है।[55] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित से तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों में कर्म के बन्धन कारक होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विपाकोदयी कर्म से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्म विभग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१–वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं है लेकिन उपचित (फल प्रदाता) है : वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म संकल्प जो कार्य रूप में परिणत न हो पाये हैं, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो, लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२–वे कर्म जो कृत है और उपचित भी है : वे समस्त ऐच्छिक कर्म, जिनको संकल्पपूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहां हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

२– वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं : अभिधर्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं :

(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्पपूर्वक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित होते है।

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचार प्रेरित कर्म (आइडियो मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्तिवश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।

(द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो तो उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(इ) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाव कर्म उपचित नहीं होता।

४– वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं : स्वप्नावस्था में गये किए भी कर्म भी इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते।

बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बंधन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धक कारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत् के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नहीं मानता है ऐसे कर्मों को अकृष्ण अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप : गीता भी इस संबंध में गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है ? गीताकार कर्म को तीन भागों में वर्गीकृत कर देते हैं। १– कर्म, २– विकर्म, ३– अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक हैं जबकि अकर्म बन्धन कारक नहीं हैं।

(१) **कर्म**—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।

(२) **विकर्म**—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, विकर्म हैं। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया है जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तामस कहलाता है।[56] साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म कर्त्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं। आसक्ति और अहंकार के रहित होकर शुद्ध भाव दशा में, एवं मात्र कर्त्तव्य सम्पादन में होने वाली हिंसादि (जो देखने में विकर्म से प्रतीत होती है, भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही है।)

(३) **अकर्म**—फलासक्ति से रहित होकर अपना कर्त्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म ही है।

अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार : जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन क्रिया व्यापार को बंधकत्व की दृष्टि से दो भागों में बांट देते हैं। १– बंधक कर्म, और २– अबंधक कर्म। अबंधक क्रिया व्यापार का जैन दर्शन में अकर्म का ईर्यापथिक कर्म। बौद्ध दर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म, तथा गीता में अकर्म कहा गया है। प्रथमतः सभी समालोच्य आचार दर्शनों की दृष्टि में अकर्म क्रिया का अभाव नहीं है। जैन विचारणा के शब्दों में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग द्वेष के, जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं। गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन सकता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ, न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रखने के कारण उसमें वह त्याग रूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह, अकर्म को भी कर्म बना देता है।[49] इसी प्रकार कर्त्तव्य प्राप्त होने पर भय या स्वार्थवश कर्त्तव्य कर्म से मुह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते, परन्तु इस अकर्म दशा में भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[60] जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्त्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है। इस रहस्य को सम्यक्रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि से मनुष्यों से बुद्धिमान योगी है। सभी विवेच्य आचार दर्शनों में कर्म अकर्म विचार में वासना, इच्छा, या कर्तृत्व भाव ही प्रमुख तत्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तृत्व बुद्धि का भाव नहीं तो वह कर्म बन्धन कारक नहीं होता है। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्व नहीं होती है प्रमुख तत्व है कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासना शून्य है, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नहीं रख सकता। पूज्यपाद कहते हैं जो आत्मतत्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।[68] आचार्य अमृतचंद्र सूरी का कथन है—रागादिकि (भावों) से मुक्त होकर आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नहीं है अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते हैं वरन् उसमें कर्त्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है-भावों से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है वह कमल पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता। गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षा रहित है और आत्मतत्व में स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है। गीता का अकर्म जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है, उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना गया है। दोनों में जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचारसाम्य ही विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचारांग सूत्र में कहा गया है 'अग्र-कर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर। ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लेकिन प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओं का वाहक) होता है। गीता कहती है—आत्मविजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म

का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बन्धा हुआ है वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म बन्धन से बन्ध जाता है। गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृतांग के निम्न कथन से भी काफी निकटता रखता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है—मिथ्या दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचार दर्शनों में अकर्म का अर्थ निष्क्रियता तो विवक्षित नहीं है लेकिन फिरभी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवृतिमय सांसारिक कर्म माना जाय तो वह बुद्धि संगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृतिमय कर्म का किया जाना ही सम्भव नहीं है। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लड़ा जा सकता है,[69] लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं है।[70] उसकी दृष्टि में अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की ईर्यापथिक क्रियाएं प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएं ही हैं।[71] गीता में भी अकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप में ग्रहित है। (4/21) आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि में माना है।[72] लेकिन थोड़ी अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन विचारणा में भी अकर्म अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो प्रवृतियाँ प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थंकरों की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याण कारक प्रवृतियां एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म है। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धन कारक नहीं हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—**कर्म और अकर्म** का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए, कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[73] जैन और बौद्ध आचार दर्शन में अर्हत के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थित प्रज्ञ के क्रिया व्यापार को बन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योंकि अर्हत या स्थितप्रज्ञ में राग-द्वेष और मोह रूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है अतः उसका क्रिया व्यापार बन्धन कारक नहीं होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों ही आधार दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है बन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारों पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्वपूर्ण कार्य करता है। कौनसा कर्म बन्धन कारक है और कौनसा कर्म बन्धन कारक नहीं है इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा।[74] पं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1977

जलूस का एक विहंगम दृश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखलालजी कर्म की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नही कर सकते।—यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता।—इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता है।

---

1. अभिधान राजेन्द्र खण्ड 5 पृ० 876 2. बोल संग्रह, भाग 3, पृ० 182
3. बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन पृ० 480 4. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० 19–20
5. मनुस्मृति 12/5–7 6. तत्वार्थ०, पृ० 6/4 7. योगशास्त्र 4/107
8. स्थानांग टी. 1/11–12 9-10. जैनधर्म, पृ० 84 11. भगवती 7/10/12
12. स्थानांग 9, 13. अभिधम्मत्थ संगहो (चैतसिक विभाग) 14. गीता 18/17
15. धम्मपद 249 16. सूत्रकृतांग 2/6/27–42 17. जैन धर्म, पृ० 160
18. दर्शन और चिन्तन खण्ड 2, पृ० 226 19. सूत्रकृतांग 2/6/27–42
20. सूत्रकृतांग 1/1/24–27-29 21. देखिये 18 पाप स्थान प्रतिक्रमणसूत्र
22. अनुयोगद्वार सूत्र 129 23. दशवै० 4/9 24. सूत्रकृतांग 2/2/4/पृ० 104
25. दशवै० 6/11 26. सूत्रनिपात 37/27 27. धम्मपद 129-131-132
28. गीता 6/32 29. म०भा०शा० 258/21 30-31. म०भा०अनु० 113/6–10
32. म०भा० सुभाषित संग्रह से उद्धृत 33. नीति सर्व पृ० 268 से उद्धृत
34. उत्तरा० 28/14 35. तत्वार्थ० 1/4 36. इसि० 9/2 37. समयसार 145-146
38. प्रवचनसार टीका 1/72 39. समयसार टीका पृ० 207 40. सुत्तनिपात 32/11
41. सुत्तनिपात 32/38 42. गीता 9/28 43. गीता 2/50 44. गीता 12/16
45. भगवत् गीता (रा०) पृ० 56 46. गीता 7/28 47. इथिकल स्टडीज, पृ० 314
48. इथिकलज स्टीडीज, पृ० 342 49. गीता 4/16 50. सूत्रकृतांग 1/8/22–24
51. गीता 4/16 52. सूत्रकृतांग 1/8/1–2 53. सूत्रकृतांग 1/8/3
54. आचारांग 7/4/2/1 55. डेवलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इंडिया, पृ० 168-174
56. गीता 27/19 57. गीता 18/17 58. गीता 3/10 59. गीता 3/6
60. गीता 18/17 61. गीता 4/18 62. इष्टोपदेश 41 63. पुरुषार्थ 45
64, उत्तरा० 32/99 65. गीता 4/20 66. आचारांग 1/3/2/4, 1/3/1/110 देखिए आचारांग (संतबाल) परिशिष्ठ पृ० 36–37 67. गीता 5/7, 5/12
68. सूत्रकृतांग 1/8/22–23 69. गीत रहस्य 4/16 (टिप्पणी)
70. सूत्रकृतांग 2–2/12 71. गीता (शां०) 4/51 72. गीता भाष्य
73. गीता रहस्य पृ० 684 74. पीछे देखिए—नैतिक निर्णय का विषय, पृ०
75. कर्मग्रन्थ-प्रथम भाग भूमिका, पृ० 25–26

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री वीर स्तवन

डा० बड़कुल डी. एल. जैन 'धवल' बरेली म.प्र.

म्हारे मन मन्दिर में आन, पधारो महावीर भगवान ।। टेक ।।
हुआ था पाप तिमिर सब दूर, किया मिथ्यात तुम्ही ने चूर ।
तुम्ही तम दूर किया अज्ञान, मिटाई जग से हिंसा आन ।। १ ।।
किया मन इन्द्रभूति का शुद्ध, कहाये गौतम-गणी प्रबुद्ध ।
प्रसारा विश्व अनन्ता ज्ञान, लिया बहु प्राणिन शिवस्थान ।। २ ।।
देखकर ज्योतिष-फल अवरुद्ध, दर्श कर पुष्पक हुआ विशुद्ध ।
तजे सब पोथी पृष्ठ, म्लान, किया तप पाया मोक्ष-सोपान ।। ३ ।।
हुआ आश्चर्य अरण्य-विशाल, कालिया तड़पा दुख से व्याल ।
क्षमा-कर दीना मन्त्र महान् मिला तब उसको स्वर्ग-विमान ।। ४ ।।
करें प्रभु हम विनती कर-जोर, न पावें फिर से जीवन और ।
हो ऐसा 'धवल' आत्मा ज्ञान, कटें अघ पावें मुक्ति-निदान ।। ५ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न ही साधना है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य मुक्ति लाभ है। इस हेतु प्रत्येक दार्शनिक ने साधना पद्धति का निरूपण किया है। महावीर दर्शन की भी अपनी साधना पद्धति है। व्रत, तप, ध्यान, स्वाध्याय, पूजा पाठ आदि सब उसी साधना के अंग हैं। इस साधना पद्धति में छिपे रहस्य का, वास्तविक साधना के स्वरूप का दिग्दर्शन पाठक चिन्तनशील रचनाकार की इस रचना में पावेंगे।

—पोल्याका

जैन साधना का रहस्य

● श्री जमनालाल जैन,
सहसम्पादक 'श्रमण' आई. टी. आई. रोड़
वाराणसी–5

साधना वह वैचारिक प्रक्रिया तथा सामाजिक आचरण अथवा धार्मिक अनुशासन है जिसके अभ्यास द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को सार्थक करना चाहते हैं। व्यक्तित्व की सार्थकता का सर्व प्रथम एवं मूलभूत आधार हमारा शरीर है। हम शास्त्रों का, मत-मतान्तरों का, परम्पराओं का, आध्यात्मिक जागृति का अभ्यास एवं प्रयास करें या न करें, हमें जो शरीर प्राप्त है उसको टिकाए रखने, उसे सक्षम बनाने एवं उससे काम लेने के लिए नितांत आवश्यक है कि उसे साधा जाय। जान अनजान हमारा शरीर जन्म के क्षण से सक्रिय रहता है। प्रकृति इसमें सहायक होती है। माता-पिता का या परिवार का वातावरण इसमें सहायक होता है। शरीर विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मानसिक विकास होता है, बौद्धिक क्षमता बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारी प्रक्रियाएं एवं प्रवृत्तियां भी नए-नए रूप ग्रहण करती हैं। और यह क्रम एक दो वर्ष तक या दस-बीस वर्ष तक ही नहीं चलता, बल्कि मृत्यु के क्षण तक चलता रहता है। यह एक प्रकार की साधना ही है।

जीवन निरन्तर गतिशील है और हमारी आवश्यकताएं इस गतिशीलता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती हैं। प्रारम्भ में यानी बाल्यकाल में हमें इस जीवन की गतिशीलता का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए आवश्यकताएं भी सीमित होती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी गतिशीलता अथवा व्यक्तित्व को समझने लगता है वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताएं भी व्यापक एवं विराट रूप लेती है। खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, पहनने-ओढ़ने जैसी सामान्य प्रतीत होने वाली बातों में भी मनुष्य आगे चलकर काफी सावधान एवं जागरूक होने लगता है और इन बातों की भी आचार संहिता उसके मानस पर छा जाती है। परम्परा, संस्कार, सामाजिक व्यवहार 'नागरिक शिष्टाचार एवं कानून के सन्दर्भ में विकासमान् मनुष्य अपने जीवन का, उसकी गतिशीलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मूल्यांकन करता है एवं उसे सार्थक सिद्ध करने के लिए अपनी सहज क्रियाओं को वैधानिक जामा पहना देता है।

पशु-पक्षियों की इन्हीं सहज प्रवृत्तियों को हम साधना नहीं कहते, क्योंकि उनकी इन सहज प्रवृत्तियों या कार्य-कलापों में कभी कोई विकास नहीं हुआ। सरकस में काम करने वाले या विशिष्ट संस्थानों में प्रयोजनवश प्रशिक्षित पशुओं के व्यवहार-विशेष को साधना अवश्य कह सकते हैं। किन्तु इसकी भी एक मर्यादा है। मनुष्य की ऐसी मर्यादा नहीं है, सीमा नहीं है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कर्म एवं प्रत्येक भावना के साथ विकासशील रहा है और इसी प्रकार उसने ज्ञान-विज्ञान का अतुल्य, अकूत कोष अपने में समाहित करता गया है।

संसार के अनेक धर्मों ने मानवीय क्षमता के विकास को ध्यान में रखकर, अपने-अपने समय में व्यक्तित्व की सार्थकता के कई आयाम उद्घाटित किये। खान-पान तथा चलने-फिरने से लेकर आत्मसिद्धि या परमात्म-प्राप्ति तक; समग्र जीवन को समेटने वाली हजारों-हजार क्रियाओं पर धर्म-प्रवर्तकों ने या अनुभवी महापुरुषों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। छोटी से छोटी क्रिया को भी उन्होंने साधना का स्वरूप दिया। प्रत्येक क्रिया को धर्ममय कहकर उन्होंने क्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा की। इससे क्रियाओं की गरिमा बढ़ी, उनके प्रति सजगता बढ़ी और पारस्परिक व्यवहार में चेतनता का प्रवेश हुआ। जैसे कलाकार पाषाण के कण-कण में विराट सौन्दर्य की अनुभूति करते हुए मूर्ति का निर्माण करके अपनी सम्पूर्ण चेतना-ऊर्जा उसमें उड़ेल देता है और वह मूर्ति हमारे समक्ष जीवन्त हो उठती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की सहज मानी जाने वाली क्रियाओं अथवा प्रवृत्तियों में सम्पूर्ण विश्व की आत्म-सावना का उद्भाव करने का महान प्रयास किया गया है। यह साधारण घटना नहीं है जबकि अर्जुन श्रीकृष्ण से या गणधर गौतम महावीर से साधारण सी प्रतीत होने वाली उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि क्रियाओं के विषय में मार्ग-दर्शन चाहते हैं।

वस्तुत: देखा जाय तो सम्पूर्ण मानव जीवन ही साधना मय है। जीवन अपने में साधना ही है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अद्वितीय होता है, अमूल्य होता है, वैसे ही साधना भी अनन्तरूपिणी है। सामान्यत: समान प्रतीत होने वाली एक छोटी सी दैनिक क्रिया भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती और एक व्यक्ति की भी वह दैनिक क्रिया प्रतिदिन एक सी नहीं रह पाती। ऐसा न हो तो मनुष्य जड़ हो जायेगा, उसके ज्ञान का स्रोत सूख जायेगा, उसका आत्म-दीपक बुझ जायेगा।

फिर भी साधना को भौतिक, नैतिक, एवं आध्यात्मिक इन तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इन्हें हम व्यक्तिपरक, समष्टिपरक एवं आत्म-परक भी कह सकते हैं। भौतिक साधना में वे सब चीजें ली जा सकती हैं, जो शरीर संरचना से लेकर जीवन-संरक्षण तक आती हैं। इनमें किसी सीमा तक शरीर शुद्धि को भी जोड़ा जा सकता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उपभोग के लिए किया जाने वाला प्रयास इसमें आ जाता है। नैतिक साधना का क्षेत्र व्यक्ति से ऊपर उठकर समाज तक बढ़ जाता है। व्यक्ति को समाज में, सबके साथ रहना है, समाज के प्रति उसके अनेक कर्त्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अपने सम्पर्क में आने वालों के प्रति उदारता, मृदुता, विनयशीलता का बर्ताव करना पड़ता है। इन सब के लिए उसे सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक धरातल पर व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब अपने जीवन को तौलता है, तब उसका आचार नैतिक नियमों के पालन में व्यक्ति को अपने परिवार, पास-पड़ौस, गांव तथा राज्य-राष्ट्र के लिए त्याग भी करना पड़ता है, क्योंकि उसके जीवन का विकास भी समाज के अनेकमुखी त्याग पर निर्भर करता है। अहिंसा आदि पांचव्रत, मैत्री प्रमोद आदि भावनाएं परस्पर उपग्रह आदि नैतिक साधना के साधन हैं।

तीसरी भूमिका आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक साधना में व्यक्ति शरीर एवं सामाजिक मर्यादाओं से ऊपर उठ कर ऐसी भूमिका में प्रवेश करता है जहां आसक्ति और आकुलता नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। धीरे-धीरे वह शरीर-शुद्धि करते हुए आत्म शुद्धि की स्थिति को उपलब्ध करना अपना लक्ष्य बना लेता है। मानसिक एवं शारीरिक विकारों को दूर करने के लिए वह आसन ध्यान, प्राणायाम आदि के प्रयोग करता है और अपने अस्तित्व का चिंतन करता है। धार्मिक परिभाषा में ऐसे व्यक्ति साधु-संन्यासी या श्रमण कहे जाते हैं। इनकी आचार संहिता बिलकुल अलग प्रकार की होती है। सम्पूर्ण, जीव सृष्टि एवं प्रकृति के साथ आत्म-भाव स्थापित करने की दिशा में उनकी हर क्रिया इतनी सावधानीपूर्वक होती है कि कभी-कभी अबोध मन को ये सब बातें हास्यास्पद भी लगती हैं। अपने शरीर के प्रति अनासक्त या उदासीन होकर समस्त जीवों के शरीरों में अपने को और अपने में सृष्टि-विग्रह को समाहित करने की यह साधना इतनी सूक्ष्म एवं कठिन होती है कि निरन्तर अभ्यास के बावजूद फिसलने का डर रहता है।

आध्यात्मिक साधना को प्रायः सभी धर्मों ने महत्व दिया है। सबके अपने-अपने मार्ग हैं, विधियां हैं और आचारगत विशेषताएं हैं। जब साध्य ओझल हो जाता है और साधन ही प्रमुख बन जाता है, तब आचार में जड़ता आ जाती है। इस जड़ता के निवारण के लिए भी प्रयास करना पड़ता है। भारतीय धर्मों में वैदिक, जैन और बौद्ध अपनी विशेषता एवं महत्ता रखते हैं। वैदिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वतंत्र चिंतकों के कारण उसमें युगानुकूल प्रवृत्तियों का समावेश होता गया और व्यक्ति को यह स्वतंत्रता रही कि चाहे जिस मार्ग को अपना कर कल्याण साधना करे। जैन धर्म की साधना पद्धति मूल में एक प्रकार की रही, उसके साधनों में यदकदा कुछ हेरफेर होता रहा। जैन साधना का मौलिक आधार दार्शनिक विचार रहा जो वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न है।

वैदिक धर्म ने जहां कर्म, भक्ति, और ज्ञान पर साधना का भवन निर्मित किया वहां जैन धर्म ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता पर बल दिया जैन साधना का लक्ष्य रहा परमात्म-पद की प्राप्ति जब कि वैदिक साधना का लक्ष्य रहा है परमात्मा में लीनता। इसी लिए हम देखते है कि जैन मनीषियों ने वैदिक धर्म के क्रियाकांडो में आरही जड़ता का पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। जटा बढ़ाना, नदी में स्नान करना, श्राद्ध करना, तर्पण करना, सूर्यादि ग्रहण के साथ व्रत-दान करना यज्ञोपवीत धारण करना, आदि सैकड़ों क्रियाओं को साधना का अंग मानने से जैनो ने इनकार करके साधना के क्षेत्र में महान् क्रांति की था इसमें संदेह नहीं।

जैन साधना की गति वीतरागता की ओर है। भौतिक सुखसुविधाओं अथवा बाह्य समृद्धि का जीवन में कोई महत्व यहां स्वीकार नहीं किया गया जो यह मानता है कि मैं सुखी-दुखी हूं, राजा रंक हूँ, सुन्दर-असुन्दर हूं, सम्पन्न-विपन्न हूँ, वह जैन धर्म की दृष्टि में बहिरात्मा है। बहिरात्मा वह जो मोहासक्त है, मिथ्या में जीता है और जिसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने अस्तित्व की यथार्थता का पता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को जैन धर्म बेहोश कहता है। वह मोह की महावारूणी पिये हुए है। वह जानकर भी नहीं जानता, देखकर भी नहीं देखता। जब गुरु प्रसाद से बहिरात्मा को अपने अस्तित्व का, अपने जीवन के मूल्य का ज्ञान होता है और संसार की नश्वरता का दर्शन खुली आँखों से करता है, तो वह इन सबसे विरक्त होकर अंतर्मुख हो जाता है। तब उसे सारा बाह्य वैभव, माया और छलावा लगने लगता है। वह तब निर्ग्रन्थ हो जाता है। समस्त ग्रन्थियों को खोलकर उन्मुक्त हो जाता है। सारे बाह्य सौन्दर्य में उसे विरूपता दिखाई देने लगती है। एक जाज्वल्यमान आत्मा का स्मरण वह करता है। भेद विज्ञान उसमें जाग जाता है, और वह अपना ही दीपक बन जाता है।

जैन-साधना की कुछ पद्धति तो है, पर पद्धति का उपयोग साधन के तौर पर ही किया जाता है। अन्ततः तो सब पद्धतियों से परे होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। पद्धतियां तो फिसलन से, भटकाव से बचने के लिए संकेत मात्र है। पद्धतियां तो अनुभवियों के प्रयोग हैं जिनसे सबक लेकर साधक को अपना मार्ग तय करना है।

प्रश्न यह है कि क्या भौतिकता को अध्यात्म में परिणत किया जा सकता है? भौतिकता की निन्दा करना और उसे छोड़कर जंगल का रास्ता अपना लेना कठिन नहीं है, किन्तु इसमें साधना का सूत्र हाथ से छूट जाता है। पंचेन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में अनेक उपायों का उल्लेख मिलता है और यह भी कि घर छोड़कर अनगार बन जाना चाहिए। अनेक साधक मुनिवेश धारण करके विचरण भी करते हैं। प्रारम्भिक अभ्यास की दृष्टि से इसका महत्व अवश्य है, किन्तु सम्यक्साधना में यह सब बातें गौण हो जाती हैं। सम्यक् साधना में व्यक्ति कहीं किसी से पलायन नहीं करता और न यह अभिव्यक्त होने देता है कि वह किसी भी प्रकार से असामान्य या विशिष्ट है। भौतिक सामग्री या वैभव को सच्चा साधक आत्मभाव से देखता है और उनका उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से करता है। यहां फिर वही बात दोहराने की जो करता है कि कलाकार के लिए पत्थर का छोटा सा कण भी उसकी विशाल एवं व्यापक भगवत् भावना का अंश है। अपने कर्म को व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से सम्पन्न करता है और उसमें उसका स्वार्थ तिरोहित हो जाता है, तब वह केवल कर्म नहीं रह जाता वह अकर्म ही हो जाता है। योगीन्दु देव ने लिखा है—

जहि भावइ तहि जहि जिय जंभावइ करि तंजि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि ण जं जि॥
परमात्मप्रकाश, 2/70

—हे जीव जहां खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किंतु जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा।

जैन श्रमण परंपरा की यह अनोखी विशेषता रही है कि गृहस्थवर्ग से निरंतर संपर्क रखते हुए भी, उनसे प्रतिदिन आहारादि प्राप्त करते हुए भी श्रमण आकांक्षाओं से परे रहते हैं और भ्रामरी-वृत्ति से विचरण करते हैं। फूल से अपनी आवश्यकता भर का पराग ग्रहण करने वाले भ्रमर का जीवन जैन श्रमणों की चर्या के लिए उत्तम दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

जैन धर्म या दर्शन का अपना कर्म सिद्धान्त है। उसका भाग्य या कर्त्तव्य से दूर का भी संबंध नहीं है। यह कर्म सिद्धान्त दार्शनिक निष्पत्ति है जिसके अनुसार व्यक्ति सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के समन्वित मार्ग पर, संतुलनपूर्वक साधना करता हुआ अपने साध्य को प्राप्त करता है। वह त्यागने के लिए कुछ नहीं त्यागता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करने के लिए कुछ ग्रहण नहीं करता। उसका लक्ष्य होता है अपनी चेतना में से सब प्रकार की जड़ता-अजीवता को समाप्त करना अथवा निर्जीवता मात्र को अपनी चेतना या स्फूर्ति द्वारा सजीव बनाकर उसके प्रति समभाव स्थापित करना।

जैनाचार्यों ने व्यर्थ साधनाओं को कोई महत्व नहीं दिया। भौतिकता में रचे-पचे लोगों के लिए ऐसी साधनाएं हैं जो आकर्षण का कारण बन सकती है और जिनमें किसी अनोखी चमत्कृति का दर्शन होता है। वे जन पूज्य भी बन जाते हैं। पानी पर चलना, दीवाल को चला देना, दिन में तारे उगा देना, मनचाही वस्तु को निमिष मात्र में उपस्थित कर देना, भविष्यवाणी करना, दूसरे के मन की बात जान लेना, आग में कूद पड़ना, शूली पर लेट जाना, या शस्त्र क्रिया द्वारा अंग भंग करना, आदि सैकड़ों प्रकार की साधनाओं में लोग वर्षों तक लगे रहते हैं। लेकिन जैन धर्म ने इन प्रक्रियाओं को लोकेषणा कहा है, कषाय कहा है। साधना तो वही उपादेय है जो रागद्वेष से विरत करे पंडित दौलतराम जी ने स्पष्ट कहा है—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिरभजे विषय कषाय, अब तो त्याग निजपद वेइये॥
—छहढाला

सारांश यह कि समस्त चराचर जगत् के प्रति समताभाव रखने की साधना सर्वोपरि साधना है। सापेक्ष अथवा साकांक्ष साधना से भोगैश्वर्य प्राप्त हो सकता है। स्वर्ग तक मिल सकता है, और तो और कल्पनातीत अनुत्तर विमान का सुख भी मिल सकता है। किन्तु निराकुल सुख की प्राप्ति तो साम्यावस्था से ही उपलब्ध हो सकती है। मोक्ष भी अन्ततः अपनी आकांक्षाओं से मुक्त होना ही है। छहढालाकार ने निष्कर्षरूप में लाख टके की बात कही है—

लाख बात की बात यह निश्चय उर लाओ।
छोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ॥

अपनी आत्मा का ध्यान या चिन्तन स्वार्थ नहीं है क्योंकि आत्मा की शक्ति परिमित नहीं है और उसकी ज्योति ब्रह्माण्डव्यापी है। एक आत्मा में सर्वशक्ति का निवास है, इसलिए वह विश्व कल्याण से विपरीत स्थिति नहीं है। भगवान महावीर ने सूत्र रूप में कहा है—जो एक को जानता है वह सबको जानता है। हम सब अपने को पहचान लें विश्व तो तब जाना हुआ ही समझो। लेकिन वास्तविकता यह है कि मनुष्य नानावेश या रूप धारण करके भी अपने को नहीं जान पाता। उसकी आंखें निरन्तर अपने से बाहर, दूर विश्व के मंच पर परिवर्तन-शील दृश्यों को देखने में लगी रहती है, जो कि अपने में एक माया है, ग्रन्थि है। माया के यथार्थस्वरूप को जानने के लिए भी अपने को जानना नितांत आवश्यक है।

जैन आगम-ग्रन्थों में जो कथाएं मिलती हैं, उनका कलागत मूल्यांकन करना, साहित्य मनीषियों का कार्य भले हो, उन कथाओं के भीतर एक शाश्वत सत्य आलोकित है कि मुक्ति की साधना के पथ पर चलने में यात्री बार-बार फिसलता है, खाई-खन्दक में गिरता है, जन्म-जन्मान्तर के अपार दुःख-सागर में डूबता है, कभी-कभी सुख-स्वर्ग में भी भोगैश्वर्य-सम्पदा प्राप्त करता है। परन्तु यह सब तो पथ के अवरोध हैं, शूल कांटे हैं। इससे उत्तीर्ण होने पर ही सिद्धि हाथ लगती है। जब व्यक्ति 'मैं' से मुक्त होकर 'सर्व' का हो जाता है, अपने को शून्य कर देता है—अपने में से कर्त्ताभाव को समाप्त कर देता है। तभी नश्वरता से अविनश्वरता के भवन में चरण धरता है।

जैन-साधना व्यवहार और निश्चय के रूप में द्विविध है। यह द्विविध साधना भी श्रावक धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं श्रमण धर्म के रूप में द्विविध है। श्रावक की साधना व्यवहार प्रधान होते हुए भी उसकी दृष्टि निश्चयमूलक साध्य पर होती है। श्रावक की साधना निश्चय का पूरक होती है, तभी वह एक समय समस्त बाह्यताओं से निवृत्त श्रमण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है—अन्तर्मुख होता है। श्रावक धीरे-धीरे एकादश सोपानों पर चढ़ता है। यह ठीक है कि उसकी यह व्यवहार-साधना खान-पान, तथा स्थूल व्रतों तक सीमित होती है, उसका समूचा व्यवहार परस्पर-सापेक्ष होता है, एवं साँसारिक समस्याओं में आबद्ध भी होता है, किन्तु अनादिकालीन मोहनीय संस्कारों एवं मिथ्यात्वों से ग्रस्त जीवन को एक नई दिशा देते समय ऐसा नैतिक चारित्र भी बड़ा क्रान्तिकारी होता है। श्रावक धर्म की जो आचार-संहिता जैन में प्रतिपतिपादित है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाहर से वह नैतिक दिखती है, जरूर, लेकिन उसके बीज बहुत गहरे गये होते हैं और उनमें विशाल वृक्ष बनने की क्षमता होती है। सामाजिक शिष्टाचार के लिए या राष्ट्रीय चरित्र की एकरूपता के लिए नैतिक उपदेशों से भरी हुई आचार-संहिता मनुष्य को ऊपर-ऊपर से आकर्षित करती है और उसे भी नैतिकता का मुखौटा लगाने की सुविधा मिल जाती है, किन्तु इतने से वह आत्म-विकास की ओर जाने में समर्थ नहीं हो जाता—बल्कि आत्म-वंचक ही अधिक होता है। जैन आचार-संहिता ने कभी शिष्टाचार का नैतिक उपदेश नहीं दिया। श्रावक के व्रतों की विशेषता यह है कि इन व्रतों को स्वीकार करने के उपरांत—इनमें से किसी एक व्रत को भी किसी भी अंश में स्वीकार करने के उपरांत मनुष्य में बदलाव प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि यह व्रत स्वीकृति आत्मशोधन एवं आत्म-शुद्धि के लिए होती है।

जब श्रावक की साधना आत्मशोधन के एक बिन्दु पर पहुंच जाती है तो वहां उसकी समग्र चेतना प्रकृतिस्थ हो जाती है—वह परम दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) हो जाता है। दिगम्बर केवल रूढ़ नग्नता के अर्थ में नहीं, बल्कि सम्पूर्णमना वह दिशाओं के विराट वस्त्र को ओढ़ लेता है। संसार में रहकर भी वह संसार का नहीं रह जाता। श्रमण के लिए जैन शास्त्रों में अट्ठाइस मूलगुणों के पालन का विधान है। वे निरन्तर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हैं। दश धर्मों का पालन करते हैं। मन, वचन, काय का गोपन करते हैं। और चलने, बोलने, खाने-पीने आदि के रूप में पांच समितियों का सावधानीपूर्वक आचरण करते हैं। इस प्रकार की साधना का प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

इस साधना में एक ऐसा तत्व दर्शन अन्तर्भूत है जो साधक को साध्य से विमुख नहीं होने देता। सात तत्व एवं छः द्रव्यमूलक सृष्टि-व्यवस्था का निदर्शन जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इस तत्वज्ञान की आधारशिला पर ही समग्र साधना की इमारत खड़ी है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल नैतिक उपदेशों या कर्मकाण्डों के आधार पर की गई साधना मनुष्य को तपस्वी तो बना सकती है, उसमें सहिष्णुता भी आ सकती है, किन्तु साध्य अस्पष्ट ही रहता है। जैन धर्म के अनुसार साधक के समक्ष साध्य का चित्र स्पष्ट रहता है, और उसी के चतुर्दिक उसकी साधना का चक्रमण होता है।

जैन साधक तप भी करता है। जैन साधक के लिए बारह प्रकार के तपों का विधान है। छः तप बाह्य हैं और छः आभ्यन्तर। बाह्य तपों के द्वारा साधक कभी अनशन करके, कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण करके, कभी किसी रस को तज करके, और कभी शरीर को नियंत्रित करके वासनाओं पर अंकुश लगाता है, अभिलाषाओं को संकोचता है। आन्तरिक तप के द्वारा वह ज्ञान-ध्यान पठन-पाठन-चिन्तन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1977

१०८ आचार्य श्री संभवसागर जी ससंघ मंच पर विराजमान हैं

भाषण प्रतियोगिता का एक दृश्य

विशाल सभा का एक दृश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरत रहता है। तप के ये प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़े मूल्यवान हैं। इनमें बाहरी तपन नहीं है। लोगों को चमत्कृत करके प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभीप्सा नहीं है और व्यर्थता भी नहीं है। शरीर को सताने की अपेक्षा उसे हल्का-फुल्का एवं विकार-विवर्जित बनाने में जो तपस्या सहायक हो, वही करने का इंगित इन तपों में है। ये तप बाहर से दीखते भी नहीं हैं साधक इन्हें प्रदर्शित भी नहीं करता। सूर्य जैसे अपनी किरणों से संसार को प्रकाश के साथ-साथ जीवन देता है, वैसे ही इन द्वादश तपों से साधक अपने में तेज का अनुभव करता है और इस तेज से वातावरण को आलोक मिलता है। ये तप साधक के शरीर-दीप को प्रज्वलित रखते हैं। तपोमय शरीर का दीपक बुझता नहीं है, उसका उत्सर्ग होता है, जो समूचे वातावरण में एक प्रकाश-किरण छोड़ जाता है।

जैन-साधना में आयु की मर्यादा का कोई प्रावधान नहीं है। जिस मानव चेतना में ज्ञान-किरण का उदय हो जाता है, वैराग्य की उर्मि तरंगायमान होने लगती है, वह साधना के पथ पर आरोहण कर जाता है। अनेक उदाहरणों में हम देखते ही हैं कि अल्पवय में ही अनेक पुरुष ज्ञानी एवं संत पुरुष हो गये हैं। ज्ञान आत्मिक ऊर्जा है, वह पोथी-पुस्तकों की चीज नहीं है। कबीर तो कह ही गये हैं कि पोथी-पढ़ कर तो संसार मर ही गया, कोई पण्डित नहीं हुआ। एक तरुण भी श्रमण हो सकता है और एक वृद्ध भी माया-जाल में उलझा रह जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनाथीमुनि की एक ऐसी ही प्रतीक-कथा है। जैन आगमों में अनेक तरुण तपस्वियों की गाथाएं अंकित हैं जो माता-पिता को घर में छोड़कर वन की ओर प्रस्थान कर गये। मूल बात यह है कि आश्रम व्यवस्था निर्माण करके मनुष्य-जीवन को चार खंडों में विभाजित करने की कल्पना ज्ञान अथवा साधना के मार्ग में सहायक नहीं होती। वह तो एक सामान्य एवं स्थूल विधान मात्र है जिसके पीछे मानवीय ज्ञान-शक्ति की अवहेलना है। प्रारंभ के 25 वर्षों तक ब्रह्मचर्याश्रम के पालन का विधान मनुष्य को आगे 'भोग' में ले जाता है, जबकि जैन साधना के अंतर्गत ब्रह्चर्यव्रत का विधान एक बार स्वीकार करने के बाद अत्याज्य है और इसी कारण वह मनुष्य को 'योग' की ओर ले जाता है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संकेत किया है कि 'जीवन एक अमर जवानी है, उसे उस आयु से नफरत है जो इसकी गति में बाधक हो जो दीपक की छाया की तरह जीवन का पीछा करती है। हमारा जीवन नदी की धारा की लहरों की तरह अपने तट से छूता है, इसलिए नहीं कि वह अपनी सीमाओं का बंधन अनुभव करे, बल्कि इसलिए कि वह प्रतिक्षण यह अनुभूति लेता रहे कि उसका अनन्त मार्ग समुद्र की ओर खुला है। जीवन ऐसी कविता है जो छन्दों के कठोर अनुशासन में चुप नहीं होती, बल्कि इससे अपनी आंतरिक स्वतंत्रता और क्षमता को और भी अधिक प्रकट करती है। (साधना, पृष्ठ ६२–६३)

साधना का क्षेत्र-विस्तार असीम है, अनन्त आकाश की भांति। किसी भी एक क्षेत्र या विषय में साधना की ओर बढ़ने पर प्रत्येक जागरूक व्यक्ति अपने को नितान्त अल्प या शून्य ही पाता है। जीवन भर डुबकीयां लगाने पर भी अन्ततः लगता है कि अभी तो विराट के एक बिन्दु का भी स्पर्श नहीं हुआ है। बोलने को तो हम रात-दिन बोलते रहते हैं, लेकिन यथार्थतः बोलने की विशेषताओं या गरिमा से हम अन्त तक अपरिचित ही रह जाते हैं। सर्वाधिक प्राचीन जैनागम आचारांगसूत्र में साधु के लिये आहार प्राप्त करना भी अहिंसा की दृष्टि से एक साधना ही है। पांचो इन्द्रियों से तथा विभिन्न शारीरिक अवयवों से निरंतर काम लेते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इनका क्या उपयोग एवं लाभ है, हम इनके प्रति कितने अन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जान रह जाते हैं ? सांस के बिना जीवन पल भर भी नहीं चल सकता, किन्तु क्या हम श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं अथवा विधियों से परिचित रहते हैं ? यह जानना ही तो साधना है।

साधना की दिशा में कदम रखने का अर्थ है संकल्प करना, एकाग्र होना, अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करना ताकि उपलब्धि का बीज अंकुरित हो सके, वह कठोर अवरोध को भेदकर ऊपर उठ सके और विशाल वृक्ष बन सके। संकल्पपूर्वक सिद्धि ही साधना का फल है। यही बीज की स्वतंत्रता है। हमारे शरीर में परिव्याप्त चेतना विश्व-चेतना का अंश होते हुए भी वह विश्व से पृथक, तुच्छ या लघु नहीं है। उसमें सम्पूर्ण विश्व समाहित है। बूंद छोटी अवश्य है, पर सागर से भिन्न नहीं है।

किसी भी प्रकार की साधना का मूल आधार शरीर होता है। शरीर की सहायता से ही साधना फलवती होती है। साधना से शरीर सक्षम बनता है और शरीर की क्षमता से चेतना में तेजस्विता आती है। जब आत्मा तेजस्वी होती है तो यह तन परमात्मा का मंगलधाम बन जाता है। शरीर के प्रति आसक्ति न रखना आवश्यक है, लेकिन उसके शत्रुता भी अनुचित है। जो लोग शरीर को सताने में साधना देखते हैं, वे केवल बोझ ही ढोते है।'

विशिष्ट अवस्था, विशेष आसन, विशिष्ट प्रकार का आहार-विहार, रहन-सहन, वेश, व्यायाम, प्राणायाम, जप, जाप, स्नान-ध्यान, अथवा प्रयास को प्रायः साधना कहा जाता है। अमुक परिस्थितियों में इस प्रकार की विशिष्टताएं भले ही उपयोगी हों, किन्तु इस प्रकार मनुष्य सहजता से टूटता जाता है और परिणामतः विश्वःप्रकृति से एकरूप नहीं हो पाता। सन्त कबीर ने 'सहज समाधि' की बात कही है। लगता तो यह है कि जीवन में सहज होना ही अत्यन्त कठिन है। असामान्य या कठिन मार्ग अपनाना अपेक्षाकृत आसान प्रतीत होता है। कोरी स्लेट पर बिल्कुल सीधी रेखा खींचना ही कठिन है। जंगल में सीधे बिरवा बहुत कम होते हैं। हमारा जीवन भी अनेक वक्रताओं का घर है। वक्रताओं को मिटाने का नाम ही सहजता है। मन्दिर में जाकर मूर्ति के आगे साष्टांग नमन करना हमारे लिए कठिन नहीं है। पर शयन की सहज क्रिया को ही प्रभु-नमन मानना बड़ा कठिन है। विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने या विश्व में अपने को लीन करने के लिए हमारी भूमिका नदी के प्रवाह की भांति होनी चाहिए कि वह सागर की ओर सहज बही चली जाती है। अंकुर सहज वृक्ष बनता चला जाता है। साधना का भार ढोने पर तो हम श्रमिक ही रह जाते हैं, श्रमण नही बन पाते। शरीर के अंग अपना कार्य कितनी सहजता से करते हैं कि उनके लिए हमें सोचना भी नहीं पड़ता। हम बालक से तरुण और तरुण से प्रौढ़ वृद्ध होते जाते हैं। परन्तु पता नहीं चलता कि यह सब कैसे घटित हो गया। तो साधना हमें करनी है सहजता की, ऋजुता की, भार-विहीन होने की, और तभी हमारा यह तन आत्म दीपक से ज्योतिर्मान होकर हमें वहां पहुचा सकता है जहां आत्मा की अन्तिम परिणति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापों से विरक्त होना व्रत कहलाता है । जैन दर्शन में पाप केवल एक माना गया है और वह है हिंसा । कोई भी क्रिया हो जब तक उसमें हिंसा सम्मिलित न हो वह पाप रूप नहीं हो सकती । झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह हिंसा रूप होने के कारण ही पाप हैं । व्रती होने के लिए निःशल्य अर्थात् माया, मिथ्या और निदान से रहित होना आवश्यक है । अणु व्रत का पालन गृहस्थ और महाव्रत का पालन साधु करते हैं । वे जब प्रवृत्ति रूप होते हैं तो पुण्याश्रव के तथा निवृत्ति रूप होने पर संवर का कारण होते हैं । आज की भौतिक उन्नति से संत्रस्त मानव को भगवान महावीर द्वारा प्रणीत ये महाव्रत किस प्रकार शांति और सुख के प्रदाता हैं इस प्रश्न का उत्तर पाठक निम्न पंक्तियों में पावेंगे ।

—पोल्याका

पांच महाव्रतों की वरीयता

डा० शोभनाथ पाठक
एम. ए., पी. एच. डी. (संस्कृत)
साहित्य रत्न
मेघनगर जिला झाबुआ, म. प्र. 457779

भौतिक चकाचौंध में भटकता हुआ मानव आज अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर भले ही इतराये व अस्थाई सुख की अनुभूति कर उन्मत्त हो जाय पर उसका अंतस् आकुल है, अशांत है, अतृप्त है । अणु की विभीषिका न्यूट्रान की विनाश-लीला, समाज के संमुख महाकाल के समान मुंह बाए खड़ी है । मानवता इस महा प्रलय की कल्पना से ही कांप उठती है ।

ऐसी विषम परिस्थिति में विश्व आज भारतीय संस्कृति की ओर आशा लगाए युग को उबारने की बाट जोह रहा है । तथ्यतः आज वैज्ञानिक उपलब्धियों से हम मानवता को संतुष्ट नहीं कर सकते वरन इसके लिए हमें भगवान महावीर के पांच महाव्रतों की वरीयता को परखना होगा । इसी सम्बल से हम आज आकुल संसार को संवार सकते हैं । महावीर के पांच महाव्रतों की महत्ता पर यहां संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है—

अहिंसा

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के सम्बल से संसार को सवारने वाले महावीर के सिद्धान्त ही युग को उबारने में सक्षम है । आज संसार के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या जीवन को सुरक्षित रखने की है । आयुधों की होड़ में विनाश-कारी अस्त्र-शस्त्र बन रहे हैं । ऐसी विषम परिस्थिति में अहिंसा की गरिमा को समझना नितांत आवश्यक है । अतः हमें भगवान महावीर के आदर्शों, उपदेशों को विश्वस्तर पर प्रसारित प्रचारित करना चाहिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अहिंसा परमो धर्म की"

नींव पर भारतीय संस्कृति पल्लवित पुष्पित हो रही है। भगवान महावीर ने भी 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि:—

उड्ढंअहे य तिरियं,
जे केई तसथावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा,
संति निवाणमाहियं॥

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और तिर्यग्लोक इन तीनों लोकों में जितने भी त्रास और स्थावर जीव हैं उनके प्राणों का विनाश करने से दूर रहना चाहिए। वैर की शांति को ही निर्वाण कहा गया है। यदि केवल इसी विचार को ही मनुष्य अपना ले तो संसार के सभी प्राणी सुख का अनुभव करने लगेंगे। तथ्यतः जितना प्यारा हमें अपना प्राण है, उतना ही दूसरों को भी तो प्रिय है, फिर क्यों हिंसा की जाती है ? क्यों न उन्हें अपने ही समान समझा जाये। महावीर ने यही तो उपदेश युग कल्याण के लिए दिया था।

विरए गामधम्मेहि,
जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुत्तमायाए,
थामं कुव्वं परिव्वए॥

अर्थात् शब्दादि विषयो के प्रति उदासीन बने हुए मनुष्य को इस संसार में विद्यमान जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनको आत्मतुल्य मान, उनकी रक्षा करने में अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए और इसी प्रकार संयम का भी पालन करना चाहिए। मनुष्य विवेकशील प्राणी है अतः उसे स्वयं विचार कर किसी को कष्ट नहीं पहुचाना चाहिए अपितु सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखना ही सुखदायक है। भगवान महावीर ने समझाया है कि—

पुढवी य आऊ,
अगणी य वाऊ।
तण-रुक्ख-बीया य,
तसा य पाणा॥
जे अण्डया जे,
य जराऊ पाणा।
संसेयया जे,
रसया भिहाण॥
एवाइ कायाइं,
पवेइयाइं।
एएसु जाणे,
पडिलेह सायं॥
एएण काएण य आयदण्डे,
एएसु या विप्परियासुविन्ति॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तृण, वृक्ष आदि वनस्पति तथा अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज, इन सभी त्रस प्राणियों को ज्ञानियों ने जीव समूह कहा है। इन सबमें सुख की इच्छा होती है, इस तथ्य को समझना चाहिए। इसे जानकर भी जो इन जीव कायों का नाश करके पाप का संचय करता है, वह बार बार इन्ही प्राणियों में जन्म धारण करता है। अतः अहिंसा के आधार पर विश्व के पोषण-पालन की समस्या पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

सत्य

अपना राष्ट्रीय प्रतीक ही है। "सत्यमेव जयते" भगवान महावीर ने भी इसी सत्य की वरीयता का बखान करते हुए कहा है कि "तं सच्चं भयवं"

अर्थात् सत्य ही भगवान है जो सत्य को अपनाता है वह भगवान के समान हो जाता है महा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर ने असत्य बोलने को पाप मानकर सदा सत्य बोलने का ही आह्वान किया यथा—

मुसावाओ य लोगम्मि,
सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं,
तम्हा मोसं विवज्जए॥

इस जगत में सभी साधु पुरुषों ने असत्यवादन की घोर निंदा की है। अतः असत्य वचन का परित्याग करना चाहिए। यही नहीं वरन् सत्य व मधुर वचन से तो सोने में सुगंध ही पैदा हो जाती है। इसलिए कड़वा वचन न बोलकर सत्य व मधुर वचन ही बोलें यथा—

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि॥

अर्थात् कांटा व कील चुभ जाने पर कुछ देर तक ही दुख होता है पर कठोर वाणी की चोट चिरकाल तक कष्ट पहुंचाते हुए वैर को उपजा कर विनाश की ओर ले जाती है। अतः वाणी पर सदैव संयम रखना चाहिए।

अस्तेय

आज एक दूसरे की संपत्ति व वस्तुओं को हड़पने की प्रवृत्ति कितनी बलवती होती जा रही है जो किसी से छिपी नहीं है। भगवान महावीर की उपदेशों को हृदयंगम करके इस बुराई को मिटाया जा सकता है तभी समाजवाद साकार हो सकता है। महावीर ने स्पष्ट कहा है—

चित्तमंतमचित्तं वा,
अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं वि,
उग्गहंसि अजाइया॥

तं अप्पणा न गिण्हंति,
नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं वि,
नाणुजाणंति संजया॥

अर्थात् कोई भी वस्तु चाहे सजीव हो अथवा निर्जीव, कम हो या ज्यादा, यहां तक कि वह दांत कुतरने तक की सलाई के समान ही छोटी क्यों न हो, उसे बिना उसके स्वामी से पूछे नहीं उठाना चाहिए। यही नहीं वरन दूसरों से भी न उठवाये और न उठाने वाले का अनुमोदन करें। यथा:

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्था वि दुक्खा न विमुच्चई से॥

रूप के संग्रह से असंतुष्ट बना हुआ जीव तृष्णा के वशीभूत होकर अदत्त का ग्रहण करता है और इस तरह प्राप्त वस्तु के रक्षणार्थ लोभ-दोष में फंसकर कपट क्रिया द्वारा असत्य बोलता है। इन कारणों से वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। अतः दुख से मुक्त होकर सुख प्राप्त करने के लिए अस्तेय वृत्ति को परखना आवश्यक है। विश्वकल्याण की कामना से इस उपदेश पर ध्यान देना आवश्यक है।

अपरिग्रह

आज के सर्वोदय सिद्धान्त का महत्व अपरिग्रह की वरीयता में समानिष्ट है शोषण द्वारा धन संग्रह की कड़ी निन्दा की गई है। महावीर ने कहा है—

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्ठिए नरे,
वेराणुबद्धा णरयं उवेन्ति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जो मनुष्य धन को अमृत मानकर विविध पाप कर्मों द्वारा धन की प्राप्ति करता है, वह कर्मों के दृढ़ पाश में बंध जाता है और अनेक जीवों के साथ वैरानुबन्ध कर अन्ततः सारा धन ऐश्वर्य यहीं छोड़ नरक में जाता है जो धन दौलत संसार को पागल बना कर मदमत्त कर देती है तथ्यतः वह विष के समान है। महावीर ने कहा है—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते ।
इम्मम्मिा लोह् अदवा परत्था ।।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे ।
न माइ्य दट्ठ मद्ठमेव ।।

इस लोक व परलोक दोनों में शोषण से कमाया हुआ धन सुखदायक नहीं है। अन्धकार में जैसे दीपक बुझ जाय तो दिखा हुआ मार्ग भी अनदीखा हो जाता है। उसी प्रकार पौदगलिक वस्तुओं के (धनादि) अंधकार में न्याय मार्ग को देखना असंभव हो जाता है। अतः महावीर के इस उपदेश का पालन आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य की वरीयता का तो बखान जितना भी किया जाए थोड़ा है। इस व्रत से ही तो मानव ईश्वर की श्रेणी में पहुंच सकता है। महावीर ने भी कहा है--

"लोगुत्तमं च वयमिणं"

अर्थात् यह व्रत लोकोत्तर है।

यही नहीं वरन—

"बभचेर उत्तमतव, नियम, नाण दंसण चरित्र, सम्मत, विणयमूल"

अर्थात् ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, और विनय का मूल है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले की महत्ता के विषय में महावीर ने कहा है—

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बमयारि नमसंति, दुक्कट जे करेति ते ।।

अर्थात् अत्यंत दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी देवी देवता नमस्कार करते है। विश्व में ब्रह्मचर्य ही स्थायित्व प्रदान करता है। तभी तो कहा गया है—

एस धम्मे धुवे निच्चे,
सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण,
सिज्झस्सन्ति तहावरे ।।

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, शाश्वत है, और जिनदेशित है अर्थात् जिनों द्वारा उपदिष्ट है इसी धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध बन गये बन रहे है और भविष्य में भी बनेंगे।

अतः महावीर प्रतिपादित पांच महाव्रतों की वरीयता को परख अपनाने की नितांत आवश्यकता है। इसी सम्बल से हम आधुनिक युग को संवार सकते हैं। इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1977

मंच पर कार्यकारिणी के सदस्य तथा विशिष्ट अतिथिगण बैठे हैं।

साध्वीश्री मणिप्रभाजी सभा को सम्बोधित करते हुए

मुनिश्री रूपचन्दजी सभा में प्रवचन करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय

खण्ड

म्हारी धरती : म्हारो देश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर-वचन

१. किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है।

२. जीव मरे या जीये इससे हिंसा का सम्बन्ध नहीं है। यत्नाचार-हीन प्रमादी पुरुष निश्चित रूप से हिंसक है। यत्नाचारपूर्वक प्रमादहीन प्रवृत्ति करने वाले को जीव की हिंसा हो जाने मात्र से बंध नहीं होता।

३. सम्यक्ज्ञान का फल शुद्ध चारित्र है।

४. अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल अर्थात् कल्याणकारी है।

५. अप्रमत्त और सावधान रहते हुए सदा हितकारी, मित और प्रिय वचन बोलना चाहिए।

६. परोपकारी लोग अपनी आपत्तियों का विचार नहीं करते।

७. जीव के अच्छे और बुरे भाव ही पुण्य तथा पाप क्रमशः हैं।

८. बांधे हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

९. मन के विकल्पों को रोक देने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

१०. तू ही कर्म करने वाला है, तू ही उनका अच्छा बुरा फल भोगने वाला है तथा तू ही मुक्त होने वाला है फिर कर्मबन्धन से मुक्त होकर स्वाधीन होने का प्रयत्न क्यों नहीं करता।

११. तू स्वयं ही तेरा गुरु है।

★

फर्म-गुलाबचन्द कासलीवाल
35 III भोईवाड़ा, कासलीवाल भवन
बम्बई द्वारा प्रचारित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगलाचरणम्

श्री वर्धमानमनिशं जिनवर्धमानम्
त्वां तं नये स्तुतिपथं पथि संप्रधौते ।
योऽन्त्योऽपि तीर्थकरमग्रिममप्यजैषीत्
काले कलौ च पृथुलीकृतधर्मतीर्थः ॥

देवो वीरजिनोऽयमस्तु
जगतां वन्द्यः सदा मूर्ध्नि मे

—गुणभद्राचार्यः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रशमरति प्रकरण' नामक श्वेताम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ 'तत्वार्थ-सूत्र' के कर्ता आचार्य उमास्वाति की रचना बहुत प्राचीनकाल से मानी जाती रही है। सिद्धसेन गणि, जिनदास महत्तर आदि श्वेताम्बर आचार्यों एवं ग्रन्थकारों ने उसे असंदिग्ध रूप से उमास्वाति की कृति माना है। विद्वान् लेखक ने प्रशमरतिकार की मान्यताओं का तत्वार्थसूत्रकार की मान्यताओं के साथ जो साम्य बताया है वह तो तत्वार्थसूत्र के आधार पर है किन्तु वैषम्य का आधार सूत्र ग्रन्थ न होकर उसका भाष्य है। भाष्य सूत्रकार कृत है अथवा नहीं यह अभी पूर्ण निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। स्वर्गीय जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपने 'श्वेताम्बर तत्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जांच' शीर्षक निबन्ध में, जो उनकी पुस्तक 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' में ग्यारहवां है भाष्य को उमास्वाति कृत न मानने में जो तर्क दिये हैं वे अकाट्य चाहे न हों और कुछ विद्वान् उनसे सहमत न भी हों तो भी वे सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं। अतः भाष्य के आधार पर ही 'प्रशमरति प्रकरण' को उमास्वातिकृत नहीं मानना कम जँचता है फिर भी निम्न निबंध इस दिशा में ऊहापोह के लिए मार्ग प्रशस्त करता है यह भी कम महत्व की बात नहीं है।

—पोल्याका

प्रशमरतिप्रकरणकार तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्त्ता से भिन्न

● डॉ० कुसुम पटोरिया
आजाद चौक सदर, नागपुर

तत्त्वार्थसूत्र जैन तत्त्वज्ञान का संग्राहक, सुन्दर सुव्यवस्थित व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो दोनों ही सम्प्रदायों में आगम-ग्रन्थों की भांति ही समादृत है। तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य स्वोपज्ञ है या अन्योपज्ञ यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है। श्वेताम्बर परम्परा स्वोपज्ञ भाष्य के अतिरिक्त प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रन्थों को उमास्वाति प्रणीत मानती है।

प्रशमरतिप्रकरण 313 कारिकाओं में रचित ग्रन्थ है, जिसमें संक्षेप में जैन तत्त्वज्ञान को गुम्फित किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत भाषा में प्रणीत है। तत्त्वार्थसूत्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने संस्कृत सूत्र शैली में जैन तत्त्वज्ञान को पिरोया है। प्रशमरतिप्रकरण भी संस्कृत में संक्षिप्त शैली में रचित है। प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र से कहीं-कहीं शब्दशः साम्य है।

साम्य—

प्रशमरति-प्रकरण की चार कारिकाओं में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों विद्यमान हैं।

प्रशमरति—सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र—उपयोगो लक्षणम्।[2] स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।[3]

प्रशमरति—उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ॥[4]

तत्त्वार्थसूत्र—सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तद्भावाव्ययं नित्यम्।
अर्पितानर्पितसिद्धेः।[5]

प्रशमरति—एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥[6]

तत्त्वार्थसूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तन्निसर्गादधिगमाद्वा।[7]

प्रशमरति—एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः।
एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्यः इति ॥[8]

तत्त्वार्थसूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।[9]

प्रशमरति—सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥[10]

तत्त्वार्थसूत्र—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[11]

प्रशमरतिप्रकरण की उक्त कारिकाओं में तत्वार्थसूत्र के सूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिये गये हैं। उक्त साम्य प्रशमरतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र के एककर्तृत्व का आभास देता है।

प्रशमरतिप्रकरण की भाष्य के साथ भी काफी समानता है। प्रशमरति में उपयोग को द्विविध साकार एवं अनाकार बताया है।[12] तत्वार्थभाष्य में भी ज्ञानोपयोग को साकार व दर्शनोपयोग को अनाकार शब्दों से उल्लिखित किया है। प्रशमरति में कहा गया है सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में से एक के भी अभाव में मोक्षमार्ग असिद्धिकर है।

तास्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः।[13]

इन्हीं शब्दों का भाष्य में भी प्रयोग है।

एकतराभावेऽप्यसाधनानि।[14]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी चारित्र कभी होता है कभी नहीं किन्तु चारित्र के होने पर सम्यग्दर्शन और ज्ञान का लाभ सिद्ध ही है। इस बात को प्रशमरतिप्रकरण तथा भाष्य में लगभग एक से शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है।

प्रशमरति—पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ॥[15]

तत्त्वार्थभाष्य–एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।[16]

प्रशमरति में शिक्षा, आगम, उपदेशश्रवण अधिगम के तथा स्वभाव और परिणाम निसर्ग के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च ॥[17]

भाष्य में भी ये ही पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं—

आगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।.......निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेशः इत्यनर्थान्तरम्।[18]

तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में अभिनिबोध को उल्लिखित किया है।[19] प्रशमरति में भी मतिज्ञान को अभिनिबोधक कहा है।[20]

संसारानुप्रेक्षा का प्रशमरतिप्रकरण का वर्णन भाष्यानुसारी है—
माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥[21]
भाष्य—माता हि भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति।
भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति ।[22]

इस प्रकार प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र व तत्त्वार्थभाष्य से शाब्दिक साम्य है, जो आपाततः दोनों के कर्ता के ऐक्य की संभावना को जन्म देता है।

वैषम्य—

प्रशमरतिप्रकरण तथा सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र में महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अन्तर है।

(1) **द्रव्य संख्या**—तत्त्वार्थसूत्रकार मुख्य 5 द्रव्य मानते हैं। काल द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में वे उदासीन हैं। श्वेताम्बर पाठ 'कालश्चेत्येके।'[23] तो निश्चित रूप से काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व के विषय में सूत्रकार की तटस्थता को घोषित कर रहा है। दिगम्बर पाठ 'कालश्च' के द्वारा भी सूत्रकार की मान्यता का विश्लेषण करें, तो कह सकते हैं कि सूत्रकार इस विषय में तटस्थ थे।

अजीव द्रव्यों के वर्णन से पाँचवे अध्याय का आरम्भ होता है यहाँ प्रथम सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चारों को अजीवकाय कहा गया है। यहां काल के कायत्व का अभाव होने से उसका परिग्रहण नहीं किया गया। द्रव्याणि[24] व जीवाश्च[25] इन दो सूत्रों के उपरान्त कालद्रव्य का उल्लेख संभव व आवश्यक था, किन्तु यहाँ कालद्रव्य का वर्णन नहीं है। जीवद्रव्य का वर्णन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले के अध्यायों में हो चुका। पाँचवे काल व्यतिरिक्त चार अजीव द्रव्यों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् सूत्रकार द्रव्य का सामान्य लक्षण करते हैं। गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।[26] इसके उपरान्त वे कालद्रव्य का उल्लेख करते हैं।[27] यदि सूत्रकार काल को भी पृथक् द्रव्य मानते, तो अवश्य उसका उल्लेख भी अजीवद्रव्यों की गणना के साथ अर्थात् 'अजीवकाया धर्मा-धर्माकाशपुद्गलाः।[28] के तुरन्त बाद 'द्रव्याणि' सूत्र के पहले करते, अथवा जीवाश्च के साथ अर्थात् उसके तुरन्त बाद करते। इतना नहीं तो कम से कम द्रव्य का सामान्य लक्षण करने के पूर्व अवश्य करते। आ आकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि च।[29] इन दो सूत्रों द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों को एक-एक तथा निष्क्रिय कहा है। काल द्रव्य भी निष्क्रिय है, पर उसकी निष्क्रियता का सूत्रों में कहीं संकेत नहीं है। द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या[30] का विचार करते समय 'नाणोः'[31] अणु को अप्रदेशी कहा है। काल भी अप्रदेशी है, परन्तु *उसका उल्लेख नहीं है। कालद्रव्य की यह उपेक्षा सिद्ध* करती है कि वे काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

भाष्यकार ने तो सर्वत्र द्रव्य को पाँच प्रकार का ही कहा है—एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति।[32] आ आकाशाद् धर्मादीन्येक द्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गलजीवास्त्वनेक-द्रव्याणि।[33]

धर्म से आकाश तक धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य हैं। पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य है। यहाँ भी उन्होंने काल द्रव्य का उल्लेख नहीं किया है।

एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति।............न हि कदाचित् पञ्चत्वं भतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।[34]

कालश्चेत्येके का भाष्य है—एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।[35]

प्रशमरतिकार को निर्विवाद रूप से षड्द्रव्य इष्ट है—

धर्मा-धर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः।
....

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः॥[36]

इस प्रकार द्रव्यों के विषय में सैद्धान्तिक मतभेद है।

(2) जीव के भाव—

तत्त्वार्थसूत्र में जीव के पाँच भाव माने गये हैं। वही भाव भाष्यकार को अभीष्ट है।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।[37]

प्रशमरति—प्रकरणकार ने छह भाव माने हैं। सान्निपातिक भाव का भी परिग्रहण किया है।

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते॥
ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः।
षष्ठश्च सान्निपतिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः॥[38]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3) **ऊर्ध्वलोक—**

प्रशमरतिप्रकरणकार ने ऊर्ध्वलोक को 15 प्रकार का कहा है। ये 15 भेद कौन से हैं, इनका विवरण नहीं है।

देव चार प्रकार के हैं, इनमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क मध्यलोक में रहते हैं। वैमानिक ऊर्ध्वलोक में रहते हैं वे दो प्रकार के हैं कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपपन्न 12 प्रकार के हैं। कल्पातीत में नौ ग्रैवेयक, (दिगम्बर परम्परानुसार नौ अनुदिश) तथा 5 अनुत्तर विमानवासी देव हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धशिला भी ऊर्ध्वलोक में है, जिसमें सिद्धों का निवास है। इस प्रकार 12 कल्पों के बारह, ग्रैवेयकों का एक, अनुत्तर विमानों का एक तथा ईषत्प्राग्भार या सिद्धशिला का एक भेद मिलाकर 15 भेद होते हैं।

टीकाकार ने 12 कल्पों के 10 भेद किये हैं क्योंकि आनत-प्राणत तथा आरण-अच्युत इन युगलों का एक-एक इन्द्र होने से एक-एक भेद है। नौ ग्रैवेयकों के अधो, मध्य तथा उपरितन के भेदानुसार तीन भेद, पाँच महाविमानों का एक भेद तथा ईषत्प्राग्भार का एक भेद मिलाकर कुल 15 भेद होते हैं। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की गणनाओं से ऊर्ध्वलोक 15 प्रकार का होता है।

तत्त्वार्थभाष्यकार तो ज्योतिष्क देवों के एक भेद प्रकीर्णक ताराओं की स्थिति ऊर्ध्वलोक में मानते हैं।

सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तूर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति।[39]

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार उक्त 15 भेदों के अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक का एक भेद और मान रहे हैं, जो कि प्रकीर्णकताराओं का है, जिसका समावेश उक्त 15 भेदों में सम्भव नहीं है।

(4) **संयम के भेदों में अन्तर**—यद्यपि प्रशमरतिप्रकरण तथा तत्त्वार्थ भाष्य दोनों में संयम के 17 भेद प्रदर्शित किये गये हैं, संख्या में समानता होने पर नाम अलग-अलग हैं।

प्रशमरतिप्रकरण में पाँच आस्रवद्वारों से विरति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय तथा तीन दण्ड से उपरति 17 प्रकार का संयम माना गया है।

पञ्चास्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥[40]

तत्त्वार्थभाष्य में ये भेद इस प्रकार हैं—

योगनिग्रहः संयमः। स सप्तदशविधः। तद्यथा पृथिवीकायिकसंयमः, अप्कायिकसंयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्यसंयमः, उपेक्ष्यसंयमः अपहृत्यसंयमः, प्रमृज्यसंयमः, कायसंयमः, वाक् संयमः, मनः संयमः, उपकरणसंयमः, इति संयमो धर्मः।[41]

तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के साथ प्रशमरतिप्रकरण का उक्त साम्य-वैषम्य इस बात को स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्त्ता व प्रशमरति के कर्त्ता एक नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यकार ने अपनी सम्पूर्ण परिचय–परक प्रशस्ति दी है, परन्तु प्रशमरतिकार ने अपना नामोल्लेख भी नहीं किया है। इससे दोनों का रुचि-भेद प्रकट होता है।

इन ग्रन्थों का जो पारस्परिक भावगत साम्य है, उसका कारण तत्त्वज्ञान का एक ही स्रोत से उद्भूत होना संभव है। इसी कारण पारिभाषिक शब्दों में समानता है। शब्दगत साम्य इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्र भाष्य व प्रशमरतिकार के समक्ष विद्यमान थे और वे जिन पूर्वकवियों द्वारा रचित प्रशमजननशास्त्रपद्धतियों का उल्लेख करते है सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र उनमें से एक है।

प्रशमरतिप्रकरणकार स्वयं कहते हैं कि जिनवचनरूप समुद्र के पार को प्राप्त हुए महामति कविवरों ने पहले वैराग्य को उत्पन्न करने वाले अनेक शास्त्र रचे हैं। उनसे निकले हुये श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्ग के अर्थ के अनुसार हैं। परम्परा से वे बहुत थोड़े रह गये हैं, परन्तु मैंने उन्हें रङ्क के समान एकत्र किया है। श्रुतवचनरूप धान्य के कणों में मेरी जो भक्ति है, उस भक्ति के सामर्थ्य से मुझे जो अविमल, अल्प बुद्धि प्राप्त हुई है, अपनी उसी बुद्धि के द्वारा वैराग्य के प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्ग की पगडंडीरूप यह रचना की है।[42]

इन कारिकाओं से स्पष्ट है कि उक्त प्रकरण की रचना विभिन्न विशिष्ट ग्रंथों को लक्ष्य में रखकर उनका सार ग्रहण कर की गई है, उनमें से एक तत्त्वार्थसूत्र व उसका भाष्य भी है। शब्दसाम्य का यही कारण है।

प्रशमरतिप्रकरण अन्यकर्तृक रचना प्रतीत होती है, क्योंकि एक ही व्यक्ति दो ग्रन्थों में दो भिन्न मतों का प्रतिपादन नहीं कर सकता। प्राचीन (सिद्धसेन-हरिभद्र आदि) तथा नवीन विद्वानों में दोनों के एककर्तृत्व की जो भ्रान्ति है, उसका कारण उक्त शब्द साम्य ही प्रतीत होता है। ❀

---

1. प्रशमरतिप्रकरण कारिका 194
2. तत्त्वार्थसूत्र 2–8
3. वही, 2–9
4. प्रशम. 204
5. तत्त्वार्थसूत्र 5–29, 5–30, 5–31, 5–32 (दिगम्बर पाठानुसार)
6. प्रशमरतिप्रकरण कारिका–222।
7. तत्त्वार्थ सूत्र 1–23
8. प्रशमरति 226
9. तत्त्वार्थसूत्र 1–30
10. प्रशमरति 230
11. तत्त्वार्थसूत्र 1–1
12. प्रशमरति 194
13. तत्त्वार्थसूत्र 1–9 का भाष्य
14. प्रशमरति 230
15. तत्वार्थसूत्र 1–1 का भाष्य।
16. प्रशमरति 231
17. तत्त्वार्थ सूत्र 1–1 का भाष्य
18. प्रशमरति 223
19. तत्त्वार्थ सूत्र 1–3 का भाष्य
20. तत्त्वार्थ सूत्र 1–13
21. प्रशमरति 225
22. प्रशमरति 156
23. तत्त्वार्थ सूत्र 2–7 का भाष्य
24. तत्त्वार्थसूत्र 5238

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25. तत्त्वार्थसूत्र 5–2
26. वही 5–3
27. वही 5–36 या 38
28. 5–39
29. वही; 5–1
30. तत्त्वार्थसूत्र 5/6–7
31. वही 5–8,9,10,11
32. वही 5–11
33. सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पृ० 247
34. 5–5 का भाष्य
35. 5–6 का भाष्य
36. 5–38 का भाष्य।
37. प्रशमरति प्रकरण कारिका: 207 व 210।
38. तत्त्वार्थसूत्र 2–1 प्रशमरतिप्रकरण 196 व 197
39. तत्त्वार्थसूत्र 4–14 का भाष्य।
40. प्रशमरति 172
41. तत्त्वार्थसूत्र 9-6 का भाष्य
42. प्रशमरतिप्रकरण: कारिका 5–7

कीमती घोड़ा

★श्री मोतीलाल सुराना
इन्दौर।

राजा ने एक बड़ी रकम देकर उस घोड़े को खरीद कर अस्तबल में भेज दिया पर घोड़े में एक बहुत बड़ी एब थी। वह सदा मनमानी करता था। यदि उस पर कोई बैठता तो बजाय चलने के वह वहीं बैठ जाता या फिर ऐसा भागता कि जंगल में जाकर ही रुकता। खाने के लिये भी उसे अच्छी हरी हरी घास चाहिये थी तथा दिन रात उसे खिलाना चालू रखते तो पूरे समय खाया ही करता। जानकार को जब घोड़े की एब बाबत बतलाया गया तो उसने कहा—इसे लगाम लगाइये तथा अस्तबल से निकाल कर थोड़े समय बाजार में घुमाइये। जानकार के कहे अनुसार करने पर थोड़े दिन में घोड़ा सुधर गया।

हमने भी त्याग तपस्या कर मानव जन्म पाया पर हमारा मन रूपी घोड़ा आज भी मनमानी करता है। खाना पीना तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों में रचापचा रहता है। जानकार उत्तमपुरुष कहते हैं कि इस मन रूपी घोड़े को त्याग एवं संयम की लगाम लगाइये नहीं तो यह जंगल में जाकर पटक देगा। त्याग एवं संयम के साथ धर्म स्थान पर जाकर स्वाध्याय में मन लगाया तो जीवन उन्नत होने में देर न लगेगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने इष्ट के प्रति अनन्य अनुराग भक्ति कहलाती है। वह प्राय: दो प्रकार से की जाती है। अपने आराध्य की जीवन लीलाओं तथा उनके पतितोद्धारक, दीनरक्षक, मुक्तिप्रदाता आदि गुणों का गान करके अथवा आत्मा परमात्मा के अजर, अमर, अक्षत, निरंजन, चिदानन्द आदि विशेषताओं का बखान करके तथा उपास्य और उपासक के एकाकार होने की भावना भा कर। प्रथम भक्ति सगुण और दूसरी निर्गुण भक्ति कहलाती है। यद्यपि जैन ईश्वर को कर्ता, हर्ता, फलप्रदाता सृष्टि का नियन्ता नहीं मानते तथापि वे पंच परमेष्ठियों की भक्ति को अपने इष्ट की प्राप्ति में निमित्त मानते हैं अतः ऊपरी दृष्टि से वैष्णव सगुण भक्ति और जैनों के अपने उपास्य की भक्ति में कोई भेद दिखाई नहीं देता। प्राय: ऐसा कहा जाता है कि जैन भक्ति पदों पर वैष्णव सगुण भक्तों का पर्याप्त प्रभाव है किन्तु बात इससे ठीक उलटी है। कृष्ण और राम वैष्णव सगुण उपासकों के प्रमुख उपास्य हैं और सूर तथा तुलसी प्रमुख उपासक। तुलसी की रामायण जहां जैन स्वयंभू कवि से प्रभावित है वहां सूर के कृष्ण काव्य पर अपभ्रंश के जैन कृष्ण काव्यों का प्रभाव है। कैसे? यह इस निबन्ध से जानिये।

—पोल्याका

सूर के काव्य पर अपभ्रंश-कृष्णकाव्य का प्रभाव

● प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव
संपादक—'परिषद् पत्रिका'
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

अपभ्रंश, भाषा की विकास-परम्परा में भारतीय प्राच्यभाषा की अन्तिम विकसित अवस्था है और यह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से आपाततः सम्बद्ध है। परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्रादेशिकता के सन्निधान के कारण आचार्य हेमचन्द्र (12 वीं शती) ने इसे ग्राम्य अपभ्रंश की संज्ञा दी है। हेमचन्द्र द्वारा सन्दर्भित इसी ग्राम्य अपभ्रंश से हिन्दी का विकास हुआ है। अतएव, प्राचीन हिन्दी कवियों का अपभ्रंश-कवियों की कृतियों से प्रभावित होना या उनका आधार ग्रहण करना काव्य रचना परम्परा की सहज एकसूत्रता का द्योतक है। इसलिए, अपभ्रंश और हिन्दी-काव्यों में समानता स्थापित करने वाली तात्त्विक प्रवृत्तियों का समावेश हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक उज्ज्वल पक्ष है।

अपभ्रंश-भाषा का समय पाँचवीं शती से तेरहवीं-चौदहवीं शती तक दृष्टिगोचर होता है। किन्तु, अपभ्रंश-साहित्य की उपलब्धि आठवीं शती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्रारम्भ होती है और इसका समृद्धि-युग नवीं से तेरहवीं चौदहवीं शती तक है। आठवीं-नवीं शती में प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में स्वयम्भू कवि का आदिम स्थान है। इनके अतिरिक्त, नवीं से तेरहवीं-चौदहवीं शती तक की अवधि में पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनंदी, कनकामर, धाहिल्ल, रइधू आदि अनेक पांक्तेय प्रतिभाशाली कवियों ने अपने वाग्वैभव का विस्तार किया है। इनमें काव्यात्मक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से पुष्पदन्त का नाम धुरिकीर्त्तनीय है।

अपभ्रंश-साहित्य में काव्यसृष्टि की दृष्टि से स्वयम्भू और पुष्पदन्त का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो सूर और तुलसी हिन्दी-साहित्य के गौरवालंकार हैं। साथ ही शोधचाक्षुष अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के महाकवि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के रचना-शिल्प में अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू की रामायण 'पउमचरिउ' के प्रभाव को आत्मसात् किया है, तो महाकवि सूरदास ने पुष्पदन्त की अपभ्रंश-कृति 'महापुराण' के भावशिल्प से अपने काव्यतत्त्व को विशिष्टता प्रदान की है।

महाकवि पुष्पदन्त और महाकवि सूरदास का समय, दार्शनिक मान्यताएं, भाषा-संस्कार, वर्णन-शैली और यहां तक कि काव्य-वस्तु में भी स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगत होता है, फिर भी दोनो के कृष्ण-लीला चित्रण में मूलभूत समानताएं हैं। पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि हैं और सूरदास ने ब्रजभाषा में अपने काव्यों का निबन्धन किया है। पुष्पदन्त का समय दसवीं शती का मध्यभाग है, जबकि देशी राज्यों के बीच सत्ता हस्तगत करने के लिए पारस्परिक संघर्ष चल रहा था और सूरदास ने सोलहवीं शती में, अर्थात् मुगलों के उत्कर्ष-काल में अपनी काव्य-भारती का विस्तार किया था। पुष्पदन्त ने अपने 'महापुराण' में कृष्ण कथा को बीजरूप में उपन्यस्त किया है, तो सूर ने अपने 'सूरसागर' में कृष्ण की लीलामयी कथा को विराट और व्यापक फलक पर उतारा है। हालाँकि, 'सूरसागर' श्रीमद्भागवत गीता पर आश्रृत है, किन्तु सूर ने दसवें स्कन्ध में कृष्ण की ललित लीलाओं को इतना अधिक वैविध्य और विस्तार प्रदान किया है कि वह एक स्वतन्त्र काव्य सृष्टि बन गई है।

'सूरसागर' की कृष्णलीलाओं का पारम्परिक प्रेरणा-स्रोत 'विद्यापति-पदावली' और 'गीतगोविंद' है, ऐसी भी सामान्य धारणा है। किन्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास के पहले भी कृष्णलीला गान की लिखित या मौखिक पूर्व-परम्परा के रहने की ओर संकेत किया है। इसी तथ्य-संकेत के सन्दर्भ में 'महापुराण' में चित्रित कृष्णलीलाओं को देखकर यह बात स्थिर हो जाती है कि ईसा की दसवीं शती में कृष्ण की बाल्य और यौवन की लीलाएं अपने नव्यतम परिवेश में सातिशय लोकप्रिय होने के साथ ही भाषा-काव्य में भी प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पुष्पदन्त ने भी सूरदास की तरह ही कृष्ण की सामान्य बाल-लीलाओं के साथ उनकी मिथकीय, अर्थात् दैवी या पौराणिक लीलाओं का भी वर्णन उपस्थित किया है।

सूर के द्वारा पुष्पदन्त से सीधे प्रेरणा ग्रहण करने की बात विवादास्पद भले ही हो, किन्तु दोनों के कृष्णलीला-वर्णन का न्यूनाधिक मूलभूत समानताओं से इनकार नहीं किया जा सकता। वर्णन में अन्तर केवल सम्प्रदाय-भेद के कारण ही आया है। 'महापुराण' जैन परम्परा का परिपोषक है, तो 'सूरसागर' वैदिक परम्परा के पर्यावरण में प्रस्तुत हुआ है। सच पूछिए, तो जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं की कथाओं की आत्माएं एक हैं, विविधता है तो केवल वचोभंगी का। ज्ञातव्य है कि जैन कथाएं जहां प्रायः लौकिक होती हैं वहां वैदिक या पौराणिक कथाओं में अलौकिकता की स्थापना की परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्णकथा की लोकातिशायिनी प्रियता के कारण पुष्पदन्त ने जैन कृष्ण से सम्बद्ध अपने 'महापुराण' काव्य ग्रंथ में सामान्य धारणा से कुछ विपरीत बातें जोडी हैं। 'महापुराण' की 85–86 वीं सन्धियों में मुख्यतः कृष्णलीला का ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त 87–88 वीं सन्धियों में भी जरा-सन्ध और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के कथा-प्रसंग में श्रीकृष्ण का चरित्र-चित्रण हुआ है।

पुष्पदन्त के अनुसार माता-पिता की कारावास में अवस्थिति के समय यथानिर्धारित सामान्य जन्म-काल के पहले अर्थात् सातवें महीने में होता है। यही कारण है कि कृष्णवध का इच्छुक कंस तत्काल कृष्णजन्म की बात से अनभिज्ञ रह जाता है। वसुदेव नवजात बालक को गोद में उठाते हैं और बलराम उस पर छत्र की छाया करते हैं। एक देव वृषभ का रूप धारण कर अपने सींगों से प्रकाश करता है। कंस के भय से वे तीनों धीरे धीरे चलते हैं। बालक के अंगूठे का स्पर्श होते ही गोकुल के गोपुर का द्वार खुल जाता है। उग्रसेन को यह बताने पर कि यह बालक उन्हें पर्याप्त सुख-समृद्धि प्रदान करेगा, आगे बढ़कर गोद में ले लेते हैं।

कृष्ण की आरती उतारती-सी यमुना नदी कलकल शब्द के साथ बह रही है। पुष्पदन्त कवि के भाव-विमुग्ध यमुना-वर्णन की एक मनोरम झांकी द्रष्टव्य है :

गरुयर त्तु तोउ रत्तंबरु ।
णं परिहइ चुयकुसुमहिं कब्बरु ॥
किण्णरियण सिहरइ णं दावइ ।
विब्भयेहिं णं संसउ भावइ ॥
फणिमणि – किरणहिं णं उज्जोयउ ।
कमलच्छिहिएं कण्डु पलोयई ॥
भिसिणिपत्त थालेहिं सुणिम्मल ।
उच्चाइय णं खलकण-तन्दुल ॥
खलखलंति णं मंगलु घोसइ ।
णं माहवहु पक्खु सा पोसई ॥
बिहिं भाइहिं थक्कउ तीरिणिजलु ।
णं धरणारि विहत्तउ कज्जलु ॥

अर्थात्, यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी अधिक भक्ति-विभोर हो जाय कि वह गेरू के रंग से रंगे जल के कपड़े पहन ले, पानी में गिरे हुए फूलों से अपनी कबरी (जूड़ा) संवार ले, स्नान करती किन्नर-वधुओं के स्तनों द्वारा अपना वात्सल्य प्रदर्शित करे, लहरों के विलास से विभ्रम पैदा करे, जल में रहने वाले नागराज की मणियों की किरणों से अधिक आलोक बिखेर दे, कमल की आंखों से कृष्ण को देखे, अतिशय निर्मल जलकणों के चावलों से भरे कमलिनी के पत्तों के थाल से आरती उतारे, कलकल शब्दों से मंगल की घोषणा करती हुई वह कृष्ण के शरीर का पोषण करे और कृष्ण को मार्ग देने के लिए यमुना नदी का जल गृहिणी के सीमन्त द्वारा विभक्त काले-कजरारे केशपाश की तरह दो भागों में बंट जाय।

सूर ने कृष्णजन्म की घटनाओं को मिथक के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। कृष्ण योगमाया के प्रभाव से देवकी के घर में आते हैं और जन्म के बाद वासुदेव से कह देते हैं कि वे उन्हें गोकुल पहुंचा दें :

अहो वसुदेव जाहु लै गोकुल ।
तुम हो परम सभागे ॥

वसुदेव कृष्ण को गोद में ले जाते हैं और शेष नाग उनपर अपने फणों से छाया करता है। वसुदेव सीधे नन्द के घर पहुंचकर कन्या से बालक का विनिमय कर मथुरा वापस आ जाते हैं और यथावचन वह कन्या कंस को समर्पित कर दी जाती है।

पुष्पदन्त ने इस प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया है। उनके कथ्य में तत्कालीन लोक-विश्वास की अनुध्वनि मुखर है। उनके अनुसार, बालक को लेकर यमुना पार करते ही बलराम को नन्द मिलते हैं। नन्द की गोद में नवजात कन्या है। पूछने पर वे बताते हैं कि उनकी पत्नी यशोदा के द्वारा पुत्र की प्राप्ति के लिए देवी की मनौती मानने के बावजूद पुत्री उत्पन्न हुई। इसलिए, वे उसे वापस करने के लिए देवी के निकट जा रहे हैं। बलराम अवसर का लाभ उठाकर नन्द से कहते हैं—'लो यह पुत्र। देवी ने तुम्हारे लिए ही भेजा है और अपनी पुत्री मुझे दे दो।' बलराम लड़की को लेकर लौट जाते हैं। यहां भी लड़की कंस को सौंप दी जाती है। कंस उसके नाक–कान कटवाकर उसे तलघर में डलवा देता है। कन्या बाद में भिक्षुणी बन जाती है लेकिन वह कृष्ण जन्म के सम्बन्ध में आकाशवाणी नहीं करती। हालांकि 'सूरसागर' में जैसे ही कंस कन्या को पत्थर पर पटकना चाहता है, वैसे ही कन्या उसके हाथ से छूटकर आकाश में उड़ जाती है और कृष्ण जन्म की सूचना देती है। 'महापुराण' के अनुसार, कंस को बहुत बाद में वरुण ज्योतिषी से कृष्ण जन्म का पता चलता है। निस्सन्देह, 'महापुराण' और 'सूरसागर' में कृष्ण जन्म की अलौकिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियां समान रूप से वर्णित हैं, किन्तु उसके कारणों में पर्याप्त भिन्नता है।

'महापुराण' में कृष्ण की बाल–लीलाओं को मानवी और दैवी इन दो रूपों में विभक्त किया गया है। मानवी लीलाओं में धूलिधूसर बालक का गोपियों के हृदय चुराना, मथानी पकड़ना और मथानी को तोड़ देना, अधबिलोया दही बिखेर देना, गोपियों का कृष्ण को पकड़ना और मथानी तोड़ने के बदले में आलिंगन मांगना या दिन–भरके लिए आंगन की कैद दे देना आदि हैं।

बाल–लीला का एक रोचक प्रसंग है। घी के पात्र में अपनी परछांई देखकर कृष्ण उसे बुलाते हैं। यह देख नन्द और यशोदा आपस में हंसते हैं और कृष्ण को अपनी छाती से लगा लेते हैं :

घय भायणि अवलोइवि भावइ।
णिय पडिबिंबु बिट्ठु बोल्लावइ।।
हसइ णंदु लेप्पिणु अवरुण्डइ।
तहु उरयलु परमेसरु मंडइ।।

इसी काव्य-प्रसंग को सूरदास की कारुकारिता के सन्दर्भ में देखिए। बाल–लीला का कितना मनोहारी रूप है! सूर की पंक्तियां हैं :

माखन खात हंसत किलकत।
हरि स्वच्छ घट देख्यो।।
निज प्रतिबिंब निरखि रिस।
मानत जानत आन परेख्यों।।

कृष्ण की दैवी लीलाओं में उनका अलौकिक व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। 'सूरसागर' में कंस को कृष्ण जन्म की सूचना योग कन्या से ही मिल जाती है, अतएव वह प्रारम्भ से ही कृष्ण को विविध प्रकार से उपद्रुत करता है। परन्तु 'महापुराण' के कंस को कृष्ण जन्म की सूचना तब मिलती है, जब कृष्ण का पुण्य–प्रताप परवान चढ़ चुका होता है। कंस के दुःस्वप्न देखने के बाद ज्योतिषी वरुण उसे स्वप्नफल बताने के क्रम में कृष्ण जन्म की सूचना देता है। कंस पूतना को कृष्णवध के लिए भेजता है, परन्तु कृष्ण ही पूतना के रक्त-माँस चूस लेते हैं। उसके बाद एक देवी शकटासुर का रूप धरकर आती है और कृष्ण से पराजित होकर भाग खडी होती है। यशोदा ऊखल से कृष्ण को बांधकर यमुना किनारे चली जाती है। बालक कृष्ण उनके पीछे लगता है। इसी बीच एक राक्षस कृष्ण पर पेड़ उखाड़कर फेंकता है, जो उनकी भुजाओं से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। इसी प्रकार, एक गर्दभी और अश्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपद्रव करने आते हैं और दोनों बुरी तरह परास्त होते हैं। पनिहारिनें यशोदा को सारी बातें बताती हैं। यशोदा दौड़कर आती है और बालक के आहत होने की आशंका से उसे सहलाती है तथा बंधन खोल देती है। इसके बाद बालक कृष्ण अरिष्ट को पछाड़ते हैं। उनकी कीर्ति समस्त गोकुल में फैल जाती है। यशोदा को जब यह बात मालूम होती है, तब वह कुढ़कर सोचती है—यह मेरी कोख से बालक नहीं राक्षस पैदा हुआ है लोग देखते ही रह जाते हैं और मेरा बालक अकेले संकटों से भिड़ जाता है ! और तब श्री कृष्ण को उठाकर घर ले जाती हैं। वर्षा में गोवर्धन पर्वत उठा लेने से कृष्ण की ख्याति दिगन्त प्रसारी हो जाती है। कृष्ण को मथुरा बुलाने के व्याज से कंस अपनी कन्या के स्वयंवर का ठाट रचता है (जैन कथा-परम्परा में ममेरी बहन से विवाह का प्रचलन प्रचुरता से मिलता है।) स्वयं-वर में जाने के लिए जरासन्ध के पुत्र भानु और सुभानु के साथ कृष्ण भी हो लेते हैं।

'महापुराण' और 'सूरसागर'—दोनों के वर्णन-क्रम में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण वैभिन्न्य यह है कि पुष्पदन्त के कृष्ण जरासन्ध के पुत्र भानु-सुभानु के अनुसार बनकर जाते हैं, जहां वे कंस की कन्या के स्वयंवर की शर्तों को पूरा कर देते हैं। कंस अपने शत्रु कृष्ण को पहचान लेता है और उनके ससैन्य वध की योजना बनाता है। बलराम नन्द को इस बात की सूचना देते हैं। फलतः, नन्द सुरक्षा की दृष्टि से गोकुल से अन्यत्र 'नन्दगोकुल' नाम की बस्ती बसाते हैं। कंस वहां भी कृष्ण का पीछा नहीं छोड़ता है। वह कृष्ण के लिए, यमुना से कमल लाने का आदेश भेजता है। नन्द पर इसकी गहरी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण न केवल कमल तोड़ लाते हैं, प्रत्युत मुष्टिक और चाणूर के साथ कंस का भी काम तमाम कर देते हैं। आकाश से होने वाली पुष्प वृष्टि के बीच कृष्ण का अपने कुल के उद्धारक-रूप में अभिनन्दन किया जाता है। इसके बाद कृष्ण उग्रसेन को मथुरा के राज्य सिंहासन पर स्थापित कर शौरिपुर जाने का निश्चय करते हैं।

'सूरसागर' में कंस, कृष्ण को बुलाने के लिए, अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नन्द जाते हैं—यशोदा और दूसरी गोपियां नहीं जाती हैं। देवकार्य, यानी कंसवध होने के बाद भी जब कृष्ण वृन्दावन लौटने को राजी नहीं होते, तब नन्द अकेले वापस चले जाते हैं। कृष्ण के बिना उनकी वापसी पर यशोदा और गोपियों की गंभीर प्रतिक्रिया होती है। बाद में, कृष्ण अपना कुशल-सन्देश देने के लिए उद्धव को गोकुल भेजते हैं। उद्धव से निर्गुण-साधना का उपदेश सुनकर गोपियों को गहरा आघात पहुंचाता है। वे उसका कठोर प्रत्याख्यान करती हैं और इस प्रकार सगुण प्रेमाभक्ति के समर्थन में उपालम्भ-प्रधान एक नवीन आख्यान-काव्य की सृष्टि हो जाती है। पुष्पदन्त के कृष्ण काव्य में इस मधुमय प्रसंग का अभाव है। उनके अनुसार, कृष्ण के साथ ग्वालबाल और नन्द-यशोदा भी मथुरा जाते हैं। शौरीपुर जाने के पूर्व कृष्ण सबकी कामनाएं पूरी कर विदाई देते हैं और नन्द-यशोदा के अविस्मरणीय उपकार को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए कहते हैं :

इय गोवीयण वयणइं सुणंतु।
कीलइ परमेसरु दर हसंतु ॥
सम्भासिअउ मेल्लिवि गव्वभाउ।
इह जम्महु महु तुहुं ताय ताउ ॥
परिपालिउ थण-थण्णेन जाइं।
बीसरमि न खणु मि जसोइमाइ ॥
कइवय दियहिं तहु जाहि ताम।
पडिवक्ख कुलक्खउ करमि जाम ॥

अर्थात्, इस प्रकार गोपियों की बातें सुनते और कुछ हंसते हुए 'परमेसरु' (कृष्ण परमेश्वर) क्रीडा करते रहे, यानी मनोविनोद की स्थिति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे। बाद में गर्वभाव छोडकर उन्होंने नन्द से कहा कि इस जन्म में आप मेरे तात हैं। मैं यशोदा माता को एक क्षण के लिए नहीं भूल सकता, जिन्होंने अपने स्तनों का दूध पिलाकर मुझे पाला। कुछ दिनों के लिए आपलोग चले जायें, तब तक मैं प्रतिपक्षियों का कुलक्षय कर लूं।

कृष्ण की इस कृतज्ञता की अनुध्वनि 'सूर-सागर' में भी सुनाई पडती है, जब वे उद्धव से सन्देश ले जाने की बात कहते हैं :

ऊधो मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं।
प्रात समय माता जसुमति अरु।
नन्द देखि सुख पावत ।।
माखन रोटी देहौ सजायौ।
अति हित साथ खवावत ।।
अनगन भांति करी बहुलीला।
जसुदा नन्द निबाहीं ।।

पुष्पदन्त ने बाल-लीलाओं का ही प्रत्यक्ष वर्णन किया है, किन्तु यौवन-लीलाओं का जान-बूझकर वर्णन नहीं किया है। पुष्पदन्त कृष्ण की बाल-लीलाओं के बाद की श्रृंगार-लीलाओं के वर्णन के विषय में स्पष्टतया मुखर नहीं हैं। लेकिन, उन्हें श्रृंगार-लीलाओं की जानकारी नहीं थी, ऐसी बात नहीं है। ऊपर कहा गया है कृष्ण गोपीजनों की बातें सुनकर कुछ मुस्कराते रहे (दर हसंतु)। वास्तव में पुष्पदन्त ने इन वातों के ब्याज से बड़ी कुशलतापूर्वक संयोग-लीलाओं का आभास दे दिया है। मथुरा-प्रवास के समय ही कुछ दिनों तक कृष्ण के साथ रति क्रीड़ा करने वाली गोपियां उनसे सोपालम्भ कहती हैं :

कइवइ दियहहिं रइकीलरीहिं।
बोल्लाविउ पइ गोवालिणीहिं ।।
पंगुत्तउ पइ माधव सुहिल्लु।
कालिंदी तीरि मेरउं कडिल्लु ।।
एवहिं महुरा-कामिणिहिं रत्तु।
महुं उप्परि दीसहिं अविरचित्तु ।।
कवि भणइ दहिउ—मंथतियाइ।
तुहुं महुं धरियउ उब्भंतियाई ।।
लवणीय लित्तु करु तुज्झु लग्गु।
कवि भणइ पलोयइ मज्झु मग्गु ।।
तुहुं णिसि णारायण सुयहिं णाहिं।
आलिंगिउ अवरहिं गोवियाहिं ।।
सो सुयरहिं कि ण पउण्णवंछ।
संकेय कुडंगुड्डीण—रिंछ ।।

घत्ता—कावि भणइ वासंतु।
उद्धरिवि खीर भिंगारउ ।।
कि वीसरियउ अज्जु।
जं मई सित्तु भडारउ ।।

अर्थात्, हे प्रभु, तुमने कुछ दिनों तक रतिक्रीडा के निमित्त हम गोपियों को अपने पास बुलाया था। हे माधव तुमने यमुना किनारे हमारे कटिवस्त्रों का अपहरण किया था और अब मथुरा की स्त्रियों पर तुम अनुरक्त हो, हमसे तुम्हारा मन विरक्त हो गया है। कोई कहती है: मैंने दही मथते तुम्हें पकड़ लिया था और मक्खन से लिपटा तुम्हारा हाथ मुझे लग गया था। कोई कहती है : तुम मेरा मार्ग देखो, रात तुम सो नहीं सके; क्योंकि दूसरी गोपियों ने तुम्हारा आलिंगन किया है। तुम्हारा रतिसुख से मन नहीं भरा और तुम संकेत-विटप के पास जाने को उत्सुक हो। कोई कहती है : क्या तुम भूल गये, जब मैंने तुम्हें दूध की झारी से भिगो दिया था।

कहना अनपेक्षित न होगा कि सूर ने भी अपनी कृष्ण श्रृंगार-लीला के वर्णन-क्रम में उक्त प्रकार के भाव परिप्रेक्ष्य में अनेक रसमय प्रसंगों की अवतारणा की है। हालांकि, पुष्पदन्त के भाव-विनियोग से सूरदास की भाव-तन्मयता का विन्यास अधिक मर्मबेधक बन पड़ा है, जो पुष्पदन्त का ही बीजरूप रसमाधुरी की परंपरा का चरमोत्कर्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूरदास पर पुष्पदन्त से इतर कवियों का प्रभाव :

सूरदास पुष्पदन्त से इतर अपभ्रंस–कवियों से भी प्रभावित थे, ऐसी सम्भावना सूर के कतिपय पदों से दृढ होती है। सूर ने सिद्ध कवियों की उपमाओं और अपभ्रंश-कवियों के पद्यों को धार्मिक परिवेश प्रदान कर अपने भक्तिकाव्य का विषय बना लिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण के अपभ्रंश-प्रकरण में 'क्त्वा' प्रत्यय के 'इव' आदेश के प्रसंग में एक अपभ्रंश-पद्य का उदाहरण उपस्थित किया है :

बाह विछोडवि जाहि तुहुं।
हउं ते वेंइ को दोसु ॥
हिअय-ट्ठिय जइ नीसरहि।
जाणउं मुंज सरोसु ॥

अर्थात्, हे मुंज ! तुम बाँह छुड़ाकर जा रहे हो, तुम्हें क्या दोष दूं। यदि मेरे हृदय से निकल जाओगे, तो जानूंगी कि तुम सरोष हो।

इस दोहे की शृंगार भावना को सूर ने भक्ति-भावना में परिणत करते हुए इसका निबन्धन इस प्रकार किया है :

बाँह छोड़ाये जात हो।
निबल जानि के मोहि ॥
हिरदै तें जब जाहुगे।
सबल जानुंगो तोहि ॥

सिद्धों ने बार-बार विषयों की ओर प्रभावित होने वाले मन की तुलना जहाज पर बैठे पंछी से की है। सूर ने उसी उपमा का प्रयोग बार-बार कृष्ण की ओर दौड़ने वाले गोपियों के मन को लक्ष्य कर किया है। विषयरसलिप्सु मन के संबंध में सरह का एक दोहा है :

विसअ विसुद्धे णउ रमइ।
केवल सुण्ण चरेइ ॥
उड्डी वोहिअ काउ जिमु।
पलुटिअ तह वि पडेइ ॥

सूरदास ने अपने काव्य में भक्ति-परवश मन के लिए इसी उपमा का कई रूपों में प्रयोग किया है :

1. जैसे उड़ि जहाज को पंछी।
फिरि जहाज पै आवै ॥
(विनय-पद)

2. अब मन भया सिंध के खग ज्यों।
फिरि फिरि सरत जहाजन ॥
(भ्रमरगीत, 46)

3. थकित सिंध नौका के खग ज्यों।
फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत ॥
(भ्र० गीत, 60)

4. भटकि फिर्यो वोहित के खग ज्यों।
पुनि फिरि हरि पै आयो ॥
(भ्र० गी०, 119)

सूरदास के 'सूरसागर' में कतिपय दृष्ट कूट भी मिलते हैं सूर के इन दृष्ट कूटों का बीज सिद्धों की अपभ्रंशबहुल सन्ध्या भाषा के अनेक पदों में भी उपलभ्य सम्भव है। न केवल सूर-साहित्य पर, अपितु हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों पर अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इससे यह तथ्य उद्भावित होता है कि वैदिक साहित्य से हिन्दी-साहित्य तक एक अखण्ड भावधारा प्रवाहित होती आ रही है, विशेषकर आध्यात्मिक और उपदेशात्मक भावधारा की गति तो प्रायः समानान्तर रही है। समय-समय इस धारा के बाह्य रूप में परिवर्तन अवश्य होता रहा, किन्तु मूलभावना अपनी सनातनता के साथ सुरक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो क्षणिकाएं

श्री शर्मन लाल "सरस"
सकरार (झांसी)

(१)

एक जमाना था, जब गाय सिंह एक घाट पानी पीते थे,
अब – गाय सिंह तो दूर,
एक आँत के दो भाई एक साथ, पानी नहीं पीते हैं,
वे – द्वेष से भरे, प्यार से रीते हैं
अब – दुर्बल हो या बलवान,
निर्धन हो या धनवान,
बुद्धू हो या विद्वान,
आदमी में इतनी कटुता होने लगी है,
कि – पशुता तक रोने लगी है,
आज हाँ आज—
एक चादर में दो कुत्ते एक साथ सो सकते हैं,
पर – दो – इन्सान एक साथ नहीं सो पायेंगे,
वे चीखेंगे चिल्लायेंगे
और दाव लगते ही काट खायेंगे।

(२)

हमारी आचरणहीनता को,
महावीर का नाम नहीं पाट सकता है,
सोचिए तो सही कहीं पंगु पहाड़ लांघ सकता है,
हम भले ही विधान करें,
विमान निकालें,
मंदिरों के नगर गढ़ें,
प्रतिमाओं के अम्बार लगालें,
सुन्दर बोलें अच्छा समझायें
झांकी जलूसों से जमाने पर छाजाएं
पर – जब तक हमारे जीवन में,
आचरण के निशान नहीं हैं,
देव होने की तो बात दूर,
हम इन्सान नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय इतिहास में खारवेल के हाथी गुफा वाले शिलालेख का बहुत बड़ा महत्व है। विद्वानों को इस लेख के पढ़ने में सौ वर्ष से भी अधिक का समय लगा। ऐसे महत्वपूर्ण लेख की संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद लेखक द्वय ने बड़े परिश्रम से तैयार किया जो स्मारिका के सन् 1976 के अंक में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् सन् 1977 की स्मारिका में उन्होंने कई तर्कों के आधार से खारवेल की राज्यारोहण तिथि ईसा पूर्व प्रथम शती का अन्तिम चरण निश्चित की। उसी क्रम में विद्वान् लेखकों का यह चौथा निबन्ध है जिसमें उक्त शिलालेख के आधार पर खारवेल के आरम्भिक जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन किया गया है। स्मारिका के इस अंक में भी यह प्रकरण समाप्त नहीं हुआ है। ऐसे श्रमसाध्य कार्य के लिए लेखक द्वय अभिनन्दन के पात्र हैं।

—पोल्याका

खारवेल का प्रारम्भिक जीवन

● नीरज जैन एम० ए०,
● डा० कन्हैयालाल अग्रवाल, सतना

दो हजार वर्ष प्राचीन हाथीगुम्फा अभिलेख खण्डगिरि-उदयगिरि पर्वत के दक्षिण की ओर लाल-बलुवे पत्थर की एक चौड़ी प्राकृतिक गुहा में उत्कीर्ण है। इसमें सत्रह पंक्तियां हैं। प्रस्तुत लेख पहली बार स्टर्लिंग द्वारा 1820 ई० में प्रकाश में आया। तब से 1927 ई० तक इसके संशोधित पाठ समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। इस प्रकार विवेच्य अभिलेख पढ़ने और समझने में लगभग एक शती (1820 ई० से 1917 ई०) का दीर्घकाल लगा। इस अभिलेख में कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेल के व्यक्तित्व और प्रशासनकाल की घटनाओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें खारवेल के शासन के प्रतिवर्ष की घटनाओं का उल्लेख है, जिसके आधार पर हम स्मारिका के 1975, 76 और 77 के अंकों में तीन लेख प्रकाशित करा चुके हैं। लेख शृंखला की चौथी किश्त के रूप में प्रस्तुत है—'खारवेल का प्रारम्भिक जीवन'।

महामेघवाहन

हाथीगुम्फा अभिलेख[1] में खारवेल को 'महामेघवाहनेन' कहा गया है। एक अन्य अभिलेख[2] में उसके पुत्र और उत्तराधिकारी राजा वक्रदेव को 'महामेघवाहनस्य' कहा गया है। इन सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि खारवेल 'महामेघवाहन' उपाधि धारण करता था और उसके उत्तराधिकारी भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस उपाधि का प्रयोग गौरवपूर्वक करते थे। व्युत्पत्ति सम्बन्धी नियम से 'महामेघवाहन' का अर्थ है : 'वह व्यक्ति जिसका वाहन महामेघ अर्थात् बादल के समान महान् राजहस्ति हो।'[3] मेघों के अतिरिक्त इस शब्द का अर्थ 'हाथी' भी होता है। अर्थशास्त्र[4] से विदित होता है कि कलिंगदेश में उत्तम कोटि के हाथी होते थे। कुरुधम्म[5] और वेस्सन्तर[6] जातक कथाओं से प्रकट होता है कि राजहस्ति से प्रजा की धार्मिक भावनायें सम्बद्ध थी।

चूंकि इन्द्र का वाहन हाथी है, अतः महा-मेघवाहन इन्द्र का पर्याय हो सकता है। वह मेघों का देवता कहा जाता है। इसलिये जलवृष्टि का भी उससे सम्बन्ध है। वह देवों का देव है, अतः महेन्द्र कहा जाता है। यहाँ भी महामेघवाहन विरुद से कुछ इसी तरह का अर्थ ध्वनित होता है। डा० बरुआ[7] का मत है कि अभिलेख की सोलहवीं पंक्ति में 'इन्द्रराज' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट मालूम होता है कि खारवेल की तुलना इन्द्र से की गयी है। तो भी, डा० बरुआ का 'इन्द्रराज' शब्द डा० जायसवाल[8] और डा० सरकार[9] द्वारा भिक्षुराज पढ़ा गया है। अतः डा० बरुआ का पाठ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्राचीन भारत में मेघवाहन शब्द का प्रयोग व्यक्तिगत और राजवंशीय नामों के लिये हुआ है जिसकी पुष्टि महाभारत[10], राजतरंगिणी[11] और जैन साहित्य[12] से होती है। डा० जायसवाल[13] का मत है कि पुराणों में वर्णित मेघ शब्द महामेघवाहन का संक्षिप्त रूप है। मेघ अथवा मघ[14] एक ही हैं जिन्होंने तीसरी शती ई० तक दक्षिण कोसल में शासन किया।

ऐर

इस विरुद् का अर्थ स्पष्ट नहीं है। डा० बरुआ[15] इसे 'वेर' पढ़ते हैं और वीर का पर्याय स्वीकार करते हैं। वे इसके 'ऐर' पाठ को भी मान्य करते हैं और एक जातक कथा के आधार पर इसका अर्थ 'स्वामी' बताते हैं। डा० सुकुमार सेन[16] इसे वैदिक 'इर' से निष्पन्न परवर्ती वैदिककाल के 'ऐर' का पर्याय बताते हैं और इसका अर्थ 'जल, जलपान, भोजन, आराम और मनोरंजन' करते हैं। इस अर्थ के आधार पर डा० सेन इसे वैदिक 'इर्य' का पर्याय स्वीकार करते हैं जिसका तात्पर्य ऐसे स्वामी से है जो फुर्तीला, शक्तिवान और प्रबल हो। डा० काशीप्रसाद जायसवाल[17] का मत है कि राज-कीय उपाधि का पहला शब्द 'ऐर' है जिसका प्रयोग एक सातवाहन अभिलेख में भी हुआ है। सेनार ने इसका अनुवाद 'आर्य' किया है। डा० जायसवाल का कथन है कि खारवेल की अधिकांश प्रजा द्रविण या आर्य द्रविणों की थी, अतः यहां खारवेल द्वारा 'ऐर' शब्द का प्रयोग अपनी रक्त श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये किया गया है। चूंकि खारवेल एक आदर्श और लोकप्रिय शासक था, अतः डा० जायसवाल का उक्त मत सन्देह से परे नहीं है। डा० राखालदास बनर्जी[18] का मत है कि 'ऐर' 'ऐड़' अथवा 'ऐल' का पर्याय है जिसका अर्थ है 'ईला' या 'इला की सन्तान'। डा० दिनेशचन्द्र सरकार[19] भी उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'ऐल' चन्द्रवंशी थे। यही मत उपयुक्त प्रतीत होता है।

चेदिवंश

खारवेल स्वयं को चेदिराज के वंश[0] का बताता है। इतना ही नहीं अपने अभिलेख की सत्रहवीं पंक्ति में अपने कथन को स्पष्ट करते हुए स्वयं को चेदिनरेश वसु का वंशज कहता है। ऋग्वेद[21] में चेदि देश के निवासियों के साथ वहां के राजा कसु चैद्य का उल्लेख मिलता है। प्रो० रैप्सन[22] ने इस कसु चैद्य को महाभारत में उल्लिखित वसु बताया है। यह वसु चेदिदेश (आधुनिक बुन्देलखण्ड) का शासक था। उसकी राजधानी शुक्तिमतीपुरी थी।[23] चेतिय जातक[24] के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसु के पांच पुत्र थे जिन्होंने हत्थिपुर (हस्तिनापुर) अस्सपुर (अंग जनपद), सीहपुर (लाल राष्ट्र में, उत्तरी पंजाब में भी), उत्तर पंचाल और दद्दपुर (हिमवन्त प्रदेश) नामक पांच नगर बसाये। चेतिय जातक के समान महाभारत में वसु के पांच पुत्र बताये गये हैं जो महापराक्रमी और ओजस्वी थे। राजा ने विभिन्न राज्यों में अपने पुत्रों को अभिषिक्त कर दिया। इन पुत्रों में बृहद्रथ मगध का महा-प्रतापी राजा हुआ। दूसरे पुत्र का नाम प्रत्यग्रह, तीसरे का कुशाम्ब[25] (मणिवाहन), चौथे का मल्ल और पांचवे का यदु था[26]। ऐसा प्रतीत होता है कि चेदियों की एक शाखा कलिंग में बस गयी जिसका उल्लेख खारवेल अपने अभिलेख में करता है।

खारवेल

खारवेल के प्रारम्भिक जीवन पर विचार करने से पहले 'खारवेल' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। डा०जायसवाल[27]का कथन है कि खारवेल खार+वेल शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है खारी लहरों वाला अर्थात् समुद्र। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी[28]खारवेल के स्थान पर काड़-विल्व पाठ अधिक उपयुक्त मानते हैं। 'काड़-विल्व' का अर्थ है 'काला भाला धारण करने वाला'। डा० सरकार[29] उपर्युक्त मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि क्षार+वेल का तात्पर्य समुद्री तट पर शासन करने वाला है।

हाथीगुम्फा अभिलेख की पहली और दूसरी पंक्ति में खारवेल के बाल्यकाल का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'पसथ–सुभ–लखनेन चतुरंतलुठण • गुण–उपितेन × × × सीरि कडार–सरीर-वता कीडिता कुमार कीडिका।' पसथ शुभ लखनेन का अर्थ 'प्रशस्त और शुभ लक्षण वाला' है। उक्त प्रशस्त और शुभ लक्षण भविष्यवक्ताओं और हस्तरेखा विशेषज्ञों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। बोधिसत्त्व के लक्षण संपत् देखकर दैवज्ञ ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की थी कि 'ऐसे लक्षणों वाला पुरुष यदि गृहस्थ रहे, तो चक्रवर्ती राजा होता है; और प्रव्रजित होने पर बुद्ध।'[30] हाथीगुम्फा अभिलेख में उसके लिये प्रयुक्त इस विशेषण से ज्ञात होता है कि वह सर्वसत्ता सम्पन्न शासक था। उसकी अग्रमहिषि के लेख[31] में भी उसे कलिंग चक्रवर्ती कहा गया है। प्रतीत होता है कि बोधिसत्व के समान ही खारवेल के शुभ लक्षणों और चिन्हों को देखकर यह भविष्यवाणी कर दी गयी थी कि वह चक्रवर्ती शासक होगा। दूसरे पद चतुरंतलुठण गुण उपितेन का अर्थ 'चतुरंत (चतुर्दिक) व्याप्त गुणों वाला' है। अर्थशास्त्र[32] से ज्ञात होता है कि चतुरंत का तात्पर्य 'आसमुद्र-क्षिति' है। बौद्ध साहित्य[33] से प्रकट होता है कि चारों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी की धर्म विजय करने वाला शासक चक्रवर्ती कहलाता है। पालि साहित्य[34] में चक्रवर्तियों के तीन प्रकार बताये गये हैं—(1) चक्रवाल चक्रवर्ती (चारों महाद्वीपों का शासक), (2) द्वीप-चक्रवर्ती (एक द्वीप का शासक) और (3) प्रदेश-चक्रवर्ती (एक द्वीप के कुछ भाग का शासक)। कौटिल्य[35] कहता है कि हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त, पूर्व-पश्चिम दिशाओं में एक हजार योजन तक फैला हुआ और पूर्व-पश्चिम की सीमाओं के बीच का भू-भाग चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता है; अर्थात् इतनी पृथ्वी पर शासन करने वाला राजा चक्रवर्ती होता है। राजशेखर का कथन है कि यह भारतवर्ष है। उसके नौ भेद हैं—1. इन्द्रद्वीप, 2. कसेरुमान, 3. ताम्रपर्ण 4. गभस्तिमान्, 5. नागद्वीप, 6. सौम्य, 7. गन्धर्व 8. वरुणद्वीप और 9. कुमारी द्वीप।

इन नौ द्वीपों का पांच भाग जल और पाँच भाग स्थल है। इस प्रकार प्रत्येक द्वीप की सीमा एक सहस्र योजन है। वे दक्षिण से हिमालय तक फैले हुए हैं और परस्पर अगम्य हैं।

इन सभी द्वीपों पर जो विजय प्राप्त करत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह सम्राट (चक्रवर्ती) कहा जाता है।'[36] राजेश्वर पुन: कहता है कि 'कुमारी द्वीप से बिन्दुसर तक एक सहस्र योजन का भाग चक्रवर्ती क्षेत्र कहा जाता है। इस समूचे क्षेत्र पर विजय करने वाला राजा चक्रवर्ती कहा जाता है।'[37] इस प्रकार हम देखते हैं कि एक साम्राज्यवादी शासक का प्रभाव क्षेत्र पौराणिक[38] भारतवर्ष होता था। मानियर विलियम्स चक्रवर्ती शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं—'वह शासक जिसके रथ के पहिये (चक्र) बिना अवरोध के सर्वत्र प्रवर्तित होते हैं' या 'एक चक्र' अर्थात् समुद्र से लेकर समुद्र पर्यन्त भूभाग का शासक।'[39] विष्णु-पुराण[40] में कहा गया है कि 'सभी चक्रवर्तियों के हाथों पर (अन्य चिह्नों के साथ भगवान् विष्णु का चिह्न पाया जाता है); और वह ऐसा शासक होता है जिसकी शक्ति का सामना देवता भी नहीं कर सकते।' इस प्रकार चक्रवर्ती शब्द का अर्थ है 'सार्वभौम शासक'। यह सार्वभौम प्रभुसत्ता की परिचायक उपाधियों में से एक है। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि खारवेल एक चक्रवर्ती शासक था। उसके लेख में बताया गया है कि उसने सम्पूर्ण भारतवर्ष के विरुद्ध एक सैनिक अभियान किया था। उसके रथ के पहिये अविराम गति से प्रवर्तित हुए थे और उसे सर्वत्र विजय ही प्राप्त हुई थी।

पंक्ति का अगला पद 'सिरि-कडार-सरीर' है। डा० सरकार[41] इसका संस्कृत पाठ 'श्रीमत् पिंगलदेहभाजा' (श्वेत-पीतवर्ण शरीर वाला) करते हैं। चाइल्डर्स[42] कलार या कड़ार का अर्थ 'पीले बादामी रंग का' बताते हैं। स्टेनकोनो[43] का मत है कि 'सिरि-कड़ार' और 'सिरि-कटार' एक हैं। शब्दमाला के अनुसार इसका तात्पर्य नागर या कामी से है। अत: 'सिरि-कड़ार' का अर्थ 'श्री का प्रेमी' या भगवान् कृष्ण है। डा० जायसवाल[44] उपर्युक्त मत को स्वीकार तो करते हैं किन्तु वे 'श्री का प्रेमी' कृष्ण के स्थान पर विष्णु को मानते हैं। डा० बरुआ[45] का कथन है कि कुमार खारवेल इतना सुन्दर था मानों विष्णु ने ही मानव रूप में अवतार लिया हो। अमरकोश[46] में कड़ार का अर्थ 'भूरे रंग वाला' किया गया है। यही अर्थ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

शिक्षा

अच्छे शासक का शिक्षित होना अनिवार्य है। उसकी शिक्षा के सम्बन्ध में पहले से ही राजशास्त्र प्रणेताओं ने नियम बना रखे हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख की द्वितीय पंक्ति में कहा गया है कि 'खारवेल ने पन्द्रह वर्षों तक गौर वर्ण वाले शरीर से बाल्यकाल की क्रीडायें की। तत्पश्चात् लेख, रूप गणना, व्यवहार और धर्म में निष्णात होकर सब विद्याओं से परिशुद्ध उन्होंने नौ वर्षों तक युवराज पद सुशोभित किया।' कौटिल्य राजकुमारों के अध्ययन क्रम का वर्णन इस प्रकार करता है। 'मुण्डन संस्कार के बाद वर्णमाला और अंकमाला का अभ्यास करे।'[47] मनु कहते हैं कि 'सभी द्विजाति बालकों का चूड़ाकरण संस्कार वेद के अनुसार पहले या तीसरे वर्ष (या कुलपरम्परानुसार) करना चाहिये।'[48] इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजकुमार की शिक्षा तीन वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर प्रारम्भ करना चाहिये। वर्णमाला और गणित की यह शिक्षा उपनयन संस्कार के पूर्व तक चलती थी। ग्यारहवें वर्ष में[49] उपनयन संस्कार सम्पन्न होने पर उसे सदाचारी विद्वान् आचार्यों से त्रयी (तीन वेद) तथा आन्वीक्षकी, विभागीय अध्यक्षों से वार्त्ता और वक्ता—प्रयोक्ता विशेषज्ञों (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव आदि के आचार्य) से दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करना चाहिये।[50] सोलह वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर समावर्त्तन और विवाह संस्कार होना चाहिये। वह दिन का पहला भाग हाथी, घोड़ा, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्याओं की शिक्षा में, दिन का दूसरा भाग इतिहास अर्थात् पुराण, इतिवृत, आख्यायिका, उदाहरण (मीमांसा), धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सुनने में और शेष समय नवीन ज्ञान के अर्जन और अधीन ज्ञान के चिन्तन-मनन में व्यतीत करे।[51]

लेख

खारवेल की शिक्षा के सम्बन्ध में प्रयुक्त लेख, रूप और गणना असाधारण महत्व रखते हैं। अतः 'लेख' शब्द का प्रयोग मात्र अक्षर ज्ञान या लिपि ज्ञान के लिये नहीं हुआ। अर्थशास्त्र के अनुसार किसी राजकुमार को अक्षरों का ज्ञान तीन से पांच वर्ष की आयु में करा दिया जाता था। अभिलेख में कहा गया है कि खारवेल ने जीवन के प्रथम पन्द्रह वर्ष बालकोचित क्रीड़ाओं में और पन्द्रह से चौबीस वर्ष की आयु का समय युवराज के रूप में व्यतीत किया। अतः यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि खारवेल ने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर क ख ग सीखा होगा। अभिलेख से प्रमाणित होता है कि 'लेख-विशारद' (लेखन कला में निपुण) होने के बाद ही उसने युवराज पद का दायित्व सम्भाला था। कौटिल्य[52] इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी देता है। वह कहता है कि पत्र लेख के पांच दोष—अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द, संप्लव बताये गये हैं।

(1) स्याही पड़े कागज पर लिखना, मलिन कागज पर लिखना, भद्दे अक्षर लिखना, छोटे बड़े अक्षर लिखना और फीकी स्याही से लिखना अकान्ति नामक दोष है।

(2) नवीन लेख से पिछले लेख का विरोध हो जाना या नवीन लेख का पिछले लेख से बाधित हो जाना व्याघात दोष है।

(3) पूर्वोक्त कथन को दुहरा देना पुनरुक्त दोष है।

(4) लिंग, वचन, काल और कारक का विपरीत प्रयोग करना अपशब्द दोष है।

(5) लेख विराम आदि चिह्नों की, अर्थ-क्रम के अनुसार योजना न करना संप्लव दोष है।

पत्रलेख के छह गुण—अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टता हैं—[53]

(1) प्रधान अर्थ और अप्रधान अर्थ को पूर्वापर यथानुक्रम में रखना ही अर्थक्रम कहलाता है।

(2) लेख की समाप्ति पर्यन्त अगला अर्थ, प्रस्तुत अर्थ का बाधक न होने पर अर्थ सम्बन्ध कहलाता है।

(3) अर्थपद तथा अक्षरों का न्यूनाधिक्य न होना, हेतु उदाहरण तथा दृष्टान्त सहित अर्थ का निरीक्षण और प्रभावहीन शब्दों का प्रयोग न करना परिपूर्णता कहलाता है।

(4) सरल, सुबोध शब्दों का प्रयोग करना माधुर्य है।

(5) शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना औदार्य कहलाता है।

(6) प्रचलित शब्दों का प्रयोग करना ही स्पष्टता है।

प्रस्तुत अभिलेख में खारवेल के लिये प्रयुक्त 'लेख विशारद' विशेषण का अर्थ इस व्याख्या से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। युवराज पद ग्रहण करते समय तक वह राजकीय शासन लिखने में अत्यधिक निपुण हो गया था। इसी कारण उसके लिये प्रयुक्त यह विशेषण सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

रूप

लेख के समान 'रूप' शब्द का व्यवहार भी विस्तृत अर्थ में हुआ है। इसके अन्तर्गत मुद्रा से सम्बन्धित सभी प्रकार की समस्यायें सम्मिलित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राखालदास बनर्जी[54] की अवधारणा है कि रूप, रूप्य या रुपया का समानवाची है। हाथीगुम्फा अभिलेख में इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया है कि उससे दूसरा अर्थ निकालना सम्भव नहीं हैं। अतः यह कहना कि यहां 'रूप' का तात्पर्य 'अभिनय' है, सर्वथा अनुपयुक्त होगा। जोगेश्वरी गुहालेख में 'लुपदरवे' शब्द का उल्लेख है जिसका अर्थ 'मुद्रा अधिकारी' है।[55] महावग्ग[56] में 'रूप' का अर्थ और स्पष्ट कर दिया गया है। बुद्धघोष कहता है कि जो व्यक्ति रूपशास्त्र का अध्ययन करता है उसे बहुत से कार्षापणों को बार-बार पलटना पड़ता है। अर्थशास्त्र[57] में उल्लिखित 'रूपदर्शक' का अर्थ भी मुद्राओं की परीक्षा करने वाला अधिकारी है। अतः प्रतीत होता है कि 'रूप' का प्रयोग मुद्राशास्त्र के लिये किया गया है।

गणना

'गणना' शब्द का उल्लेख अशोक के तीसरे शिलालेख[58] और कौटिल्य के अर्थशास्त्र[59] में मिलता है। राखालदास बनर्जी[60] उसका अर्थ 'लेखाकर्म' करते हैं। डा० जायसवाल[61] का अभिमत है कि गणना का अर्थ शासकीय लेखा-जोखा है। यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

विधि

डा० बरुआ[62] का कथन है कि विधि से तात्पर्य 'नियम' से है जैसे लेखविधि (शासन लिखने के नियम, रूपविधि (मुद्रा सम्बन्धी नियम) आदि। विधि को एक स्वतन्त्र शब्द मानते हुए डा० जायसवाल[63] इसका अर्थ धर्मशास्त्र या धर्म संबंधी नियम करते हैं। डा० बरुआ[64] उपर्युक्त अर्थ को अनुपयुक्त बताते हुए कहते हैं कि विधि का प्रयोग अर्थशास्त्र में क्रिया-विधि के रूप में हुआ है जिसका तात्पर्य है न्याय करने के नियम। लेकिन व्यवहार का भी यही अर्थ है। फिर भी इन दोनों शब्दों में कुछ अन्तर है। विधि का प्रयोग मानव-चरित्र और कर्त्तव्यों के स्वीकृत नियमों के लिये होता है जब कि व्यवहार का प्रचलित परम्पराओं के लिये। डा. बरुआ का मत है कि खारवेल के अभिलेख में प्रयुक्त विधि नियम, चरित्र, संस्था या धर्मशास्त्र का पर्यायवाची है।

व्यवहार

हाथीगुम्फा अभिलेख का 'व्यवहार' अशोक का 'वियोहाल' प्रतीत होता है।[65] डा० बरुआ[66] का मत है कि हम डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर द्वारा की गयी वियोहाल-समता की व्यवहार-समता व्याख्या से पूर्वरूपेण सहमत है, किन्तु हम डा० भण्डारकर और बुह्लर के इस मत से कि 'वियोहाल' अभिहाल (पाली अभिहार) का पर्यायवाची है, सहमत नहीं हैं। तो भी, 'अभिहाले वा दण्डे वा' की बुह्लर द्वारा की गयी 'पारितोषिक और दण्ड देने' की व्याख्या उपयुक्त प्रतीत होती है।

सव-विजा

अभिलेख में खारवेल को 'सब विद्याओं से परिशुद्ध' (सव-विजावदातेन) कहा गया है। यहां सव-विजा के अन्तर्गत कौन-कौन सी विद्यायें या विषय सम्मिलित थे, यह प्रश्न विवादास्पद है। प्राचीन समय में राजकुमारों को आप्त पुरुषों के चरित्रों को ध्यान में रखकर मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक था। लेकिन खारवेल अपने अभिलेख में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं करता। मिलिन्दपञ्ह में राजकुमारों की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ निर्देश मिलते हैं। उनके लिए लेखनकला, गणना, हथियारों का चलाना, सैन्य-संचालन, नीतिशास्त्र, श्रुति, स्मृति, युद्ध और युद्ध-कला में निपुणता प्राप्त करना आवश्यक था। उपर्युक्त ग्रन्थ में बताया गया है कि मिलिन्द (हिन्द-यूनानी शासक मीनेण्डर) उन्नीस विद्याओं का ज्ञाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। ये विद्यायें---श्रुति, लौकिक नियम (सम्मुति), सांख्य, योग, नीति, वैशेषिक, दर्शन, गणित, संगीत, चिकित्सा, चार वेद, पुराण-इतिहास, ज्योतिष, इन्द्रजाल, जादू, तर्कशास्त्र, युद्धकला और काव्य-शास्त्र हैं।[67] जूनागढ़ अभिलेख[68] में रुद्रदामा को शब्द, अर्थ, गन्धर्व और न्याय शास्त्रों में प्रवीण बताया गया है। हाथीगुम्फा अभिलेख में इस तथ्य का उद्घाटन नहीं किया गया कि खारवेल ने 'सर्व-विद्या' कहां पढ़ी। प्रतीत होता है कि वह अध्ययन के लिए कलिंग से बाहर नहीं गया। सम्भवतः महलों में ही उसके लिए योग्य शिक्षक या शिक्षकों की व्यवस्था की गयी थी। यह एक प्रचलित परम्परा रही है कि प्रतिष्ठित राजवंशोंके उत्तरा-धिकारियों को शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न बनाने के लिए सारी व्यवस्थायें महलों में ही उपलब्ध करायी जाती थीं। प्रत्येक विषय के निष्णात विद्वान इस कार्य के लिये नियोजित किये जाते थे। राजवंशों की मर्या-दाओं की दृष्टि से और कुल-दीपक शिक्षार्थियों की सुरक्षा की दृष्टि से यह व्यवस्था अधिक सुविधा-जनक भी थी।

खण्डगिरि के इस अभिलेख का थोड़ा सा प्रारम्भिक भाग ही हम इस लेख में ला पाये हैं। शेष अंश पर अगले लेखों में विचार किया जायेगा।

---

1. **से. इं.**, खण्ड 1 पृ. 214, पं. 1.
2. **लूडर्स सूची**, क्रं. 1347.
3. **ओ. आ. इं.** पृ. 40.
4. कलिंगांगगजाः श्रेष्ठाः प्राच्याश्चेति करूपजाः 2.2.15.
5. फासबाल. क्रं. 276.
6. **वही**, क्र. 547.
7. **ओ. आ. इं.**, पृ. 39.
8. **ज. बि. उ. रि सो.**, खण्ड 4, पृ. 402.
9. **से. इं.**, खण्ड 1, पृ. 211.
10. 2.14.13
11. **ए. इं. यू.**, पृ. 211
12. हेमचन्द्र, **सूत्रवृत्ति**, 2.2.3; दे. **तिलकमञ्जरी.**
13. **ज. बि. उ रि. सो.** खंड 3, पृ. 483-84.
14. डा. अग्रवाल, 'कौशाम्बी और बान्धवगढ़ के मघ शासक', **पुराकल्प**, जून 1975, पृ. 42–47.
15. **ओ. आ. इ.**, पृ. 266.
16. **इं. हि. कां.**, (वाल्टेयर अधिवेशन) 1953, पृ. ....
17. **ज. बि. उ. रि. सो.**, खण्ड 3, पृ. 434.
18. **हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा**, खण्ड 1, पृ. 72.
19. **से. इ.**, खण्ड 1, पृ. 219, टि. 5.
20. **वही**, पृ. 214, पं. 1.
21. 7.5. 37–39.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. के. हि. इं., खण्ड 1, पृ. 75.
23. अग्रवाल, **विन्ध्यक्षेत्र का ऐतिहासिक भूगोल** (अप्रकाशित), पृ. 95–96.
24. हिन्दी अनुवाद, चतुर्थ खण्ड, पृ. 120.
25. **प्रा. भा. रा. इ.**, पृ. 118.
26. 1.57. 28–29.
27. **ज. बि. उ. रि. सो.** खण्ड 3, पृ. 434.
28. **से. इं.**, खण्ड 1, पृ. 214, टिप्पणी.
29. **वही**, पृ. 214, टिप्पणी.
30. **बुद्धचर्या**, पृ. 5.
31. लूडर्स की सूची, क्रं. 1346; **से. इं.**, खण्ड 1, पृ. 213-14.
32. 3.2.50.
33. **महाबोधिवंश**, पृ. 73–74; **बुद्धवंश अट्ठकथा**, पृ. 113; **दे. भो. ब्रा. इं** में उद्धृत, पृ. 232, टि. 1.
34. **ज्यॉ. ऐ मे. इं.**, पृ. 5 टि. 1.
35. 9.1.
36. **काव्यमीमांसा**, (पटना); पृ. 233–34.
37. **काव्यमीमांसा**, पृ. 234.
38. दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधि ।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।। **मार्कण्डेयपुराण**,, LVII. 59.
× × ×
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत् ।
वर्षं तद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ।। **वायु.**, XLV, 75–76.
39. **कार्पस**, खण्ड 3, पृ. 183, टि. 4.
40. विल्सन, खण्ड 1, पृ. 183, टि. 1.
41. **से. इं**, खण्ड 1, पृ. 219.
42. **ग्रो. ब्रा. इं.**, पृ. 40, टि. 9; विलियम्स, **संस्कृत–इंग्लिश डिक्सनरी**, पृ. 245.
43. **वही**.
44. **ग्रो. ब्रा. इं.**, पृ. 40, 209.
45. **ग्रो. ब्रा. इं.**, पृ. 240.
46. 1.5.16.
47. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत । (गैरोला) 1.2.4
48. चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।। **मनुस्मृति**, 2.35.
49. **वही**, 2.36.
50. **अर्थशास्त्र** (गैरोला) 1.2.4.
51. (गैरोला), 1.2.4.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

52. वही, 2.26.10
53. 2.26.10 (गैरोला)
54. हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, खण्ड 1, पृ. 72.
55. आ. स. इं., 1903-4, पृ. 120 तथा आगे; इं. ऐं., खण्ड 48, पृ. 131.
56. से. बु. ई., खण्ड 13, पृ. 201, टि. 1.
57. शामशास्त्री संस्करण, पृ. 95.
58. से. इं., खण्ड 1, पृ. 19
59. 2.7.75
60. हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, खण्ड 1, पृ 73; ए. इं., खण्ड 20, पृ. 71 तथा आगे,
61. ना. प्र. प., खण्ड 8, पृ. 19.
62. ओ. बा. इं., पृ. 245.
63. वही, पृ. 245 पर उद्धृत.
64. वही, पृ. 245.
65. से. इं., खण्ड 1, पृ. 57.
66. ओ. बा. इं., पृ. 245.
67. रिज डेविड्स संस्करण, पृ. 3.4.
68. से. इं., खण्ड 1, पृ. 180.

दुःख कोई नहीं बंटाता

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे से बुरे कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्कर्म भोगने का समय आता है तब वह अकेला ही दुःख भोगता है। कोई भी भाई बन्धु उसका दुःख बांटने वाला, सहायता पहुंचाने वाला नहीं होता।

—भ. महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

:: प्रभु से विनम्र प्रश्न ::

● श्री मंगल जैन 'प्रेमी'
३१६, हनुमानताल, जबलपुर

ज्ञान की लहर, अज्ञान के तट,
थककर, तुम्हारा पथ पूछती है.

—o—

हर दिशा में, भुजायें बढ़ाते रहे,
सोये देव, बेमतलब जगाते रहे,
अहं की नाव पर, बहे जा रहे,
वेदना को यूं ही, सहे जा रहे.
अंजली भर चुकी है, आंसुओं से,
आंख ये तेरा, तथ पूछती है ।।

—o—

आरती को सजाया, हर थाल में,
प्रार्थना को गाया, हर ताल में,
पीत वसनों को, सदा पहनता रहा,
अभिषेक नीलामी करता रहा.
साधना भावों में बिककर हा,
आराधना तेरा, विगत पूछती है ।।

—o—

ज्योति वसन, नहिं मन पर है,
युवा साधना, नहिं तन पर है,
स्नेह बूंद में, कहां चेतना,
कहते हो ये है, सृजन वेदना.
मुस्कराते हुये, गुनगुनाते हुये—
आत्मा तुम्हारा अथ पूछती है ।।

—o—

ज्ञान की धारा अज्ञान के तट,
थककर, तुम्हारा पथ पूछती है ।।

—o—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो प्रतिमाएं चारों दिशाओं से देखी जा सकें वे प्रतिमाएं सर्वतोभद्र कहलाती हैं। ये कई प्रकार की होती हैं यथा—एक ही प्रतिमा के चार मुख, प्रत्येक दिशा में एक तीर्थंकर की चार प्रतिमाएं, प्रत्येक दिशा में चार भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियाँ आदि। ये मूर्तियाँ खड्गासन अथवा पद्मासन दोनों ही प्रकार की होती हैं। प्रायः मानस्तंभों पर इस प्रकार की मूर्तियों के विराजमान करने का प्रचलन था। तीर्थंकरों के समवसरण में ऐसे ही मानस्तंभ होने का विवरण जैन शास्त्रों में प्राप्य है। लेखक ने जिस प्रतिमा का वर्णन किया है वह 'प्रतिमालेख में विजयसिंह नाम के कारण ही श्वेताम्बर प्रतिमा सिद्ध नहीं होती जैसा कि लेखक ने माना है अपितु इस कारण भी वह श्वेताम्बरीय है कि फूलों पर वस्त्र नीचे झूलता बताया गया है। प्रतिमा-लेख में मूर्ति घड़ने वाले दो कारीगरों के नाम (1) वनक तथा (2) घपक भी हैं।

—पोल्याका

सर्वतोभद्र प्रतिमा

● श्री शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी,
एम.ए. (इतिहास, पुरातत्व)
पुरातत्व संग्रहालय, लखनऊ

प्रतिमा सर्वतोभद्र, सर्वतोमंगल को जन-भाषा में चौमुखी कहते हैं—जो चौकोर स्तम्भ के चारों तरफ तथ में चार जिन बैठे या खड़े बनाये जाते हैं। विद्वानों के बीच यह विवाद का विषय है कि इस प्रकार की प्रतिमाओं के गढ़ने की प्राचीनतम परम्परा जैन है अथवा ब्राह्मण,[1] क्योंकि शिव की चतुर्मुखी मूर्तियां बनती ही थीं।[2] छोट से एक लघु स्तूप मिला है जिस पर चारों तरफ बुद्ध की मूर्तियों का अंकन है।[3]

जैन कला के अन्तर्गत चौमुखी प्रतिमाओं की परम्परा का ज्ञान कुषाण सं० 5 + 78 = 83 ई० से ही होने लगता है।[4] लखनऊ में सं० 5 की प्राचीनतम चौमुखी है।[5] लखनऊ संग्रहालय में सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की कुल संख्या 19 थी जिनमें से एक शिमला संग्रहालय को दे दी गई। संग्रह में 16 प्रतिमाएं कंकाली टीले मथुरा से ही प्राप्त हुई थीं।[6] शेष तीन फैजाबाद, अहिच्छत्रा (रामनगर, बरेली) व सराय औघट जिला एटा की हैं। इनमें प्रथम व अन्तिम 9 वीं 10 वीं शती ई० की हैं। तथा मध्य की कुषाण कालीन। इन प्रतिमाओं पर चारों ओर अर्हतों का अंकन होता था। कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों के ऊपर गोल या चौकोर छेद पाये जाते तथा कुछ में नीचे खूंट निकली रहती हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि स्तम्भ पर इन्हें कस दिया जाता होगा।[7]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दिरों के बाहर इनकी पूजा होती थी । दूर से ही मंदिर का पता लगता था ।[8]

मानस्तम्भ देवगढ़ व केहोन देवरिया उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध ही हैं किन्तु वे एक ही पत्थर के बने हैं। उन पर चौमुखियों को लगा देते होंगे जिससे चतुर्दिक् लोग इनके दर्शनों से लाभ उठा सकें। वैसे समवशरण के अवसर पर भी इस प्रकार की मूर्तियों का होना समुपस्थित देव, किन्नरों, मानव, पशु, पक्षियों सभी की सुविधा के लिए आवश्यक था। राज्य संग्रहालय लखनऊ की चौमुखी प्रतिमाओं पर एक ही या चार तीर्थंकरों का अंकन पाते हैं। इनमें 8 पर तो लेख उत्कीर्णित हैं। कुछ के ऊपरी भाग (धड़) मात्र ही शेष हैं।

संग्रह की मध्यकालीन अभिलिखित, एक मात्र बैठी सर्वतोभद्रप्रतिमा का साक्षात्कार यहां प्रस्तुत है।[9] आलोच्य प्रतिमा लाल बलुए चित्तीदार पत्थर की बनी है। प्रतिमा का ऊपरी भाग टूटा है। दो बैठी प्रतिमाओं के मुख भी क्षतिग्रस्त हैं। ऊपर कहीं त्रिछत्र, नीचे कैवल्य वृक्ष का विलेखन शेष है। चारों ओर एक जैसी ही अर्हन् प्रतिमा बनी है। कहीं भी सर्पफण या, कंधों पर लटों का अंकन नहीं है। (साथ के चित्रों से देखें) अर्हन् पद्मासन में ध्यानस्थ हैं। वक्ष पर श्रीवत्स है। जिनके मुख सुरक्षित हैं। उन पर घुंघराले बालों को दर्शाया है। शारीरिक सौष्ठव तरुण एवं रूपवान बनाया गया है। बैठकी पर चार ओर तीन बड़े फूलों का अलंकरण है जिस पर वस्त्र नीचे झूल रहा है। दोनों ओर सिंह बैठे हैं तथा उनके पास खम्भा बना है। इस प्रतिमा का आधार पीठ तीन ओर तो बिल्कुल सादा है। किन्तु एक ओर देवनागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा में लेख इस प्रकार खुदा है—

पंक्ति—1- ओं श्री जिनदेव श्रुतिस्थानु श्री भावदेव नामाभूताचार्य विजयसिंह

2. तच्छिष्यस्तेन च प्रोक्तः ।। सुश्राव-
करिन नवग्रामस्थानादिस्थै स्वसकीर्तिः ।

3. वर्द्धमानस्य चतुर्बिम्बः कारितोयं
सभक्तिभिः संवत्सरे 1080 वनकप-

4. पकाभ्यां घटितः ।। ओ ।।

अर्थात् विजयसिंह के शिष्य की प्रेरणा से सुश्रावक ने सम्वत् 1080 (अर्थात् 1023 ई०) में इस वर्द्धमान के चतुर्बिम्ब को बनवाया। मथुरा में इस प्रतिमा का उस समय स्थापित किया जाना विशेष महत्व रखता है जिस क्षण चारों ओर लूट खसोट एवं प्रतिमाओं को विनष्ट करने तोड़ने-फोड़ने का सुनियोजित अभियान समाप्त ही हुआ हो क्योंकि सन् 1018 में मोहम्मद गजनी की क्रूर दृष्टि का शिकार मथुरा भी हो चुका था। आक्रमण से शान्ति पाते ही इसे गढ़ा गया था। चूंकि प्रतिमा बैठी है इस कारण निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि दिगम्बरी प्रतिमा है अथवा श्वेताम्बरी क्योंकि कंकाली टीले से पहले तो दिगम्बर प्रतिमाएं मिली थीं किन्तु मध्यकाल की श्वेताम्बरी तीन प्रतिमाएं संग्रह में हैं तथा अभिलेख का विजयसिंहसूरि शब्द भी इसका श्वेताम्बर होना ही सिद्ध करता है। यहाँ इतना तो स्पष्ट होता है कि सर्वतोभद्र सर्वमंगला चौमुखी का पर्यायवाची चतुर्बिम्ब भी प्रचलित था और यहाँ वर्द्धमान भगवान का ही चतुर्दिक् दर्शनाङ्कन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राष्ट्रीय संग्रहालय लखनऊ की कुषाणकालीन तीन चौमुखी प्रतिमाएं

चौमुखी पार्श्वनाथ
कुषाणकालीन, (सामने से) मथुरा

चौमुखी ऋषभनाथ
कुषाणकालीन, (बांई ओर) मथुरा

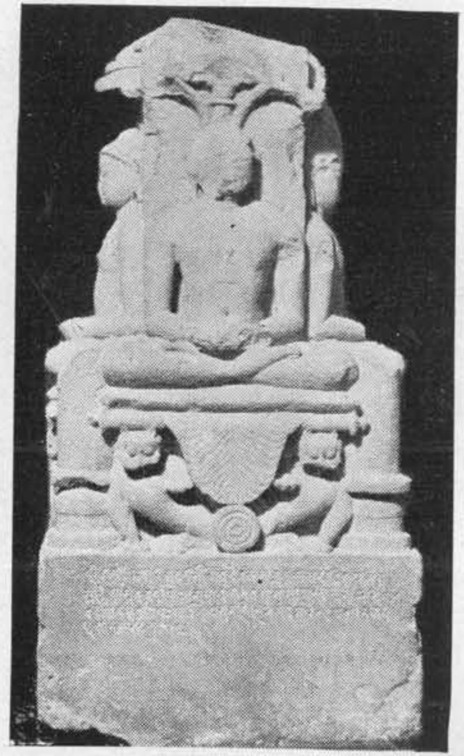

भ० महावीर (सं १०८०)
कंकाली टीला, मथुरा

सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, लखनऊ]

[छाया शिल्पी: श्री रज्जन खां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1– पाण्डेय दीनबन्धु—सर्वतोभद्रप्रतिमा, यू० पी० म्यू० बुलेटिन वाल्यूम 9।

2– भरतपुर, उदयपुर, कौशाम्बी, भीटा का यक्ष० ल० संग्र० शुङ्ग।

3– शाह यू० पी० 'जैन अनुश्रुति एण्ड समरिसेंट डिस्कवरी इन जैन आर्ट डा० मोतीचन्द्र मेमोरियल लेक्चर दिस० 1977 म्यू० एशो० आफ बंगलोर इण्डिया।

4– शर्मा, रमेशचन्द्र—'मथुरासंग्रहालय की कुषाणकालीन जैन मूर्तियाँ, जैननिबन्धमाला पृ० 22 आनन्द संस्थान रामपुर 1977।

5– जे–230 रा० संग्र० ल०।

6– जोशी नीलकण्ठ पुरुषोत्तम तथा रस्तोगी शैलेन्द्रकुमार 'कंकाली की पुरा सम्पदा' जैननिबंधमाला पृ० 83 आनन्द संस्थान रामपुर 1977।

7– शाह यू० पी० जैन० अनुश्रुति एण्ड समरिसेंट डिस्कवरी इन जैन आर्ट–वही संदर्भ-3।

8– मुनि कान्तिसागर, खण्डरों का वैभव पृ० 82।

9– जे–236 कंकाली टीला मथुरा।

10– स्मिथ, वी. ए. 'जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वटीज एट मथुरा।

मुक्तक

मुसीबत में मित्र और मेजबान बदल जाते हैं,
खाना बदल जाता है खानदान बदल जाते हैं,
बात इतने पर भी खतम नहीं होती काका–
भाई बन्द ही क्या भगवान बदल जाते हैं,

— काका बुन्देलखण्डी

ग्रादमी

१

कल्पवृक्षों की छांहों तले, सुख के उपहार बंटते रहे,
लक्ष्य से हीन-गंतव्य पर, कल्प के कल्प कटते रहे,
काल का चक्र रुकने लगा, युग के पौरुष ने अंगड़ाई ली,
देवता बन गया ग्रादमी, ग्रौर दानव हुग्रा ग्रादमी,
एक रोता हुग्रा ग्रादमी, एक गाता हुग्रा ग्रादमी ।

२

जन्म से मृत्यु के द्वार तक, कर्म करता हुग्रा ग्रादमी,
जिन्दगी के सुबह-शाम में, रंग भरता हुग्रा ग्रादमी,
संस्कृति के सुमेरू गढ़े, मंच से वेद का पाठ है,
एक पढ़ता हुग्रा ग्रादमी, एक सुनता हुग्रा ग्रादमी,
एक रोता हुग्रा ग्रादमी, एक गाता हुग्रा ग्रादमी ।

३

गांव के गांव दुख के चले, सुख के संयोजनों के लिये,
जिस डगर पर बढ़े थे चरण, उस डगर के बुझे थे दिये,
मन का चिन्तन बहुत भीरू था, कल्पना के महल गढ़ लिये,
सुख में जीता हुग्रा ग्रादमी, दर्द पीता हुग्रा ग्रादमी,
एक रोता हुग्रा ग्रादमी, एक गाता हुग्रा ग्रादमी ।

४

वर्ग में बंट गया ग्रादमी, जाति में कट गया ग्रादमी,
शब्द सा बन गया ग्रादमी, ग्रर्थ सा छन गया ग्रादमी,
ग्रादमी के इसी ज्ञान के, सर्ग के सर्ग खुवते रहे,
एक शासक हुग्रा ग्रादमी, एक शासित हुग्रा ग्रादमी,
एक रोता हुग्रा ग्रादमी, एक गाता हुग्रा ग्रादमी ।

पोस्ट ग्रॉफिस रोड,
गुना (म.प्र.)

●श्री मगनलाल 'कमल'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने उद्देश्य सिद्धि के लिये जिस कार्य-प्रणाली का अवलम्बन किया जाता है उसे नीति कहते हैं। जिस कार्य-पद्धति का अवलंबन कर शासन सुदृढ़ और स्थायी बने और संविधान में बताए उद्देश्यों की पूर्ति कर सके वह राजनीति के नाम से अभिहित की जाती है। प्राचीन काल में राजतन्त्र था अतः इनमें राजाओं के जानने योग्य बातों का समावेश मुख्य रूप से उस काल के लेखकों ने किया जैसे चाणक्य, विदुर, व्यास, भागुरी, सोमदेव आदि। जैन पुराणकारों ने भी प्रसंगानुसार राजनीति का वर्णन किया है। विद्वान लेखक ने आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण में प्रतिपादित राजनीति का दिग्दर्शन अपने इस निबन्ध में कराया है। धर्मनीति और राजनीति के इस मुख्य भेद को पाठकों को ध्यान में रखना चाहिये कि धर्मनीति में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में कोई भेद नहीं होता किन्तु राजनीति में मनसि अन्यत्, वचसि अन्यत्, कार्ये अन्यत् क्षम्य है। आवश्यक नहीं कि राजनीतिज्ञ का मुखौटा वही हो जो उसके मन में हो। शासन की सफलता के लिए आज भी इन सिद्धान्तों का महत्व कम नहीं हुआ है।

—पोल्याका

उत्तरपुराण में प्रतिबिम्बित राजनीति

डाँ० रमेशचन्द जैन
वर्धमान डिग्री कॉलेज,
बिजनौर।

राज्य—राज्यों में राज्य वही है जो प्रजा को सुख देने वाला हो[1]। उत्तरपुराण में देश के जो विशेषण दिए गए हैं उनमें दुर्ग, वन, खानें, अकृष्टपच्यसस्य[2] (बिना बोए होने वाले धान्य) त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में विभक्त प्रजायें[3], तपस्वियों पर अतिक्रमण करने वाले कृषक[4], सुस्वच्छ जलाशय,[5] अनाज से परिपूर्ण, सबको तृप्त करने वाले राजा के भण्डार के समान खेत[6] तथा धन धान्यादि से परिपूर्ण पास पास में बसे हुए ग्राम[7] प्रमुख हैं।

राजा का महत्व—स्वामिसम्पत् (राजसंम्पत्ति) से युक्त राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का आश्रय है[8]। उसके सत्य से मेघ किसानों की इच्छानुसार बरसते हैं और वर्ष के आदि, मध्य तथा अन्त में बोए जाने वाले सभी धान्य फल प्रदान करते हैं[9]। राजा के पृथ्वी का पालन करते समय जब सुराज्य होता है तो प्रजा उसे ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त होती है[10]। जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गाय का अच्छा भरण पोषण कर उसकी रक्षा करता और गाय प्रसन्नता से उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूध देकर सन्तुष्ट करती है उसी प्रकार राजा भी पृथ्वी का भरणपोषण कर उसकी रक्षा करता है और पृथ्वी भी उसे अपने रत्नादि सार पदार्थ देती है[11]। गुणवान राजा दैव, बुद्धि और उद्यम के द्वारा स्वयं लक्ष्मी का उपार्जन कर उसे सर्वसाधारण के उपभोग करने योग्य बना देता है, साथ ही स्वयं उसका उपभोग करता है[12]। राजा जब न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है और स्नेहपूर्ण पृथिवी को मर्यादा में स्थित रखता है तभी उसका भूभृत्पना सार्थक होता है[13]। जिस प्रकार मेंढकों द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकार के इष्ट धान्यों की वृद्धि का कारण होता है उसी प्रकार श्रेष्ठ राजा गुणों की वृद्धि का कारण होता है[14]। वह कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल को देता है[15]। चूंकि वह दुर्जनों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह द्वेष अथवा इच्छा के वश नहीं करता है किन्तु गुण और दोष की अपेक्षा करता है अतः निग्रह करते हुए भी वह प्रजा का पूज्य है[16]। **जिस प्रकार मणियों का आकर समुद्र है, उसी प्रकार वह गुणी मनुष्यों का आकर है**[17]।

राज्याभिषेक—सामान्यतया बड़े पुत्र को राजा राज्य का भार दे देता था[18]। दो पुत्र होने की स्थिति में बड़े को राज्य देकर छोटे को युवराज बनाया जाता था[19]। स्नेहवश कभी भाई के पुत्र अथवा अन्य सम्बन्धी को भी उत्तराधिकारी बना दिया जाता था। (६६।१०३)। राज्याभिषेक के समय इष्टदेव की पूजा की जाती थी और राजा को सिंहासन पर बैठाकर स्वर्णमय कलशों से उसका राज्याभिषेक किया जाता था[20]।

राजाओं के भेद—राजा तीन प्रकार[21] के होते हैं—

(1) लोभविजय (2) धर्मविजय
(3) असुरविजय।

नीतिविद् अपना कार्य सिद्ध करने के लिए पहले को दान देना, दूसरे के साथ शान्ति का व्यवहार करना और तीसरे के लिए भेद और दण्ड का प्रयोग करना यही ठीक उपाय बतलाते हैं[22]। राजाओं का एक अन्य विभाग[23] भी मिलता है—
(1) शत्रु राजा (2) मित्र राजा (3) उदासीन राजा। महासामन्त(७१।१५६)सामन्त [4], युवराज[25], मुकुटबद्ध राजा, विद्याधर[26], पट्टबंधराजा[27], भूगोचर अर्द्धचक्री, चक्री (६४।३०) अधिराज (६८।३८२) माण्डलिक (६४।२६) तथा महामाण्डलिक (४८।७४) के रूप में राजाओं के अनेक भेद मिलते हैं।

राजा के अधिकार और कर्त्तव्य—राजा कोश, दुर्ग, सेना आदि का उपभोग करता है। वह किसी महाभय के समय प्रजा की रक्षा करने के लिए धन संचय करता है और प्रजा को सन्मार्ग में चलाने के लिए योग्य दण्ड देता है।[28] प्रजा राजा के प्रति प्रेम रखती है, इसके बदले वह उसका पालन करता है, इस प्रकार उसके परोपकार में स्वोपकार भी निहित रहता है।[29]

राजा के गुण—१. त्रिवर्ग की वृद्धि—राजा परस्पर की अनुकूलता से धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की वृद्धि करता है।[30]

२. शत्रु का विजेता—राजा को बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं का विजेता होना चाहिए।[31] श्रेष्ठ राजा कुटिल (वक्र) मनुष्यों को अपने पराक्रम से ही जीत लेता है, ऐसे **राजा की सप्ताङ्ग सेना केवल आडम्बर मात्र होती है**।[32] राजा का राज्य दूसरे के द्वारा तिरस्कृत न हो और न वह दूसरों का तिरस्कार करे।[33] आवश्यकता पड़ने पर राजा अपने भुजदण्डों से शत्रुओं के समूह को खण्डित कर दे। वह किसी पुराने मार्ग को अपने आचरण के द्वारा नया कर दे और पश्चाद्वर्ती लोगों के लिए वही मार्ग फिर पुराना हो जाय।[34] राजा को प्रताप रूपी वडवानल की चंचल ज्वालाओं के समूह से देदीप्यमान होना चाहिए।[35]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजापालन—राजा के राज्य में चारों वर्णों और आश्रमों के लोग उत्तम धर्म के कार्यों में इच्छानुसार सुखपूर्वक प्रवृत्ति करें। वह अपने राज्य का भाइयों में विभाजन कर सुखपूर्वक राज्य का उपभोग करे।[36] जिस प्रकार कुम्भकार के हाथ में लगी हुई मिट्टी उसके वश में रहती है, उसी प्रकार बड़े बड़े गुणों से शोभायमान राजा की समस्त पृथ्वी उसके वश में रहती है।[37] प्रजा के अनुराग से राजा को अचिंत्य महिमा प्राप्त होती है।[38]

अन्य गुण—राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चार विद्याओं में पारङ्गत होना चाहिए। जिसकी प्रजा दण्ड के मार्ग में नहीं जाती और इस कारण जो राजा दण्ड का प्रयोग नहीं करता, वह श्रेष्ठ माना जाता है।[39] राजा को दानी होना चाहिए। श्रेष्ठ राजा की दानशीलता से पहले के दरिद्र मनुष्य भी कुबेर के समान आचरण करते हैं।[40] राजा सन्धिविग्रहादि छह गुणों से सुशोभित हो और छह गुण उससे सुशोभित हों।[41] पुण्यवान् राजा का शरीर और राज्य बिना वैद्य और मन्त्री के ही कुशल रहते हैं।[42] राजा का धन दान देने में, बुद्धि धार्मिक कार्यों में, शूरवीरता प्राणियों की रक्षा करने में, आयु सुख में और शरीर भोगोपभोग में वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।[43] राजा के पुण्य की वृद्धि दूसरे के आधीन न हो। राजा तृष्णा रहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ सुख से रहे।[44] जिस राजा के वचन में सत्यता, चित्त में दया, धार्मिक कार्यों में निर्मलता हो तथा जो प्रजा की अपने गुणों के समान रक्षा करे, वह राजर्षि है।[45] सुजनता राजा का स्वाभाविक गुण हो, प्राण हरण करने वाले शत्रु पर भी वह विकार को प्राप्त न हो।[46] बुद्धिमान राजा सब **लोगों को गुणों के द्वारा अपने में अनुरक्त बनाए ताकि सब लोग उसे प्रसन्न रखें**।[47] जिस प्रकार मुनियों में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सदाचारी और शास्त्रज्ञान से सुशोभित राजा में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा जिस प्रकार संस्कार किए हुए मणि सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार राजा में अनेक गुण सुशोभित होते हैं।[48] नीति को जानने वाले राजा को इन्द्र और यम के समान कहते हैं, किन्तु इन्द्र के समान राजा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी प्रजा गुणवती होती है और राज्य में कोई दण्ड देने के योग्य नहीं होता है।[49] राजा न्यायोपार्जित धन के द्वारा याचकों के समूह को सन्तुष्ट करे।[50] समीचीन मार्ग में चलने वाले राजा के अर्थ और काम भी धर्मयुक्त होते हैं, अतः वह धर्ममय होता है।[51] उत्तम राजा के वचनों में शान्ति, चित्त में दया, शरीर में तेज, बुद्धि में नीति दान में धन, जिनेन्द्र भगवान में भक्ति तथा शत्रुओं में प्रताप रहता है।[52] जिस प्रकार संसार का हित करने वाले सब प्रकार के धान्य समा नाम की इच्छित वर्षा को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं, उसी प्रकार समस्त गुण राजा की बुद्धि को पाकर श्रेष्ठ फल **देने वाले होते हैं**।[53] **राजा का मानभङ्ग नहीं होना चाहिए**। जिस प्रकार दांत का टूट जाना हाथी की महिमा को छिपा लेता है, दाढ़ का टूट जाना सिंह की महिमा को तिरोहित कर देता है, उसी प्रकार मानभङ्ग राजा की महिमा को छिपा लेता है।[54] नीतिशास्त्र सम्बन्धी अर्थ का निश्चय करने में राजा का चरित्र उदाहरण रूप होना चाहिए।[55] उत्तम राजा के राज्य में प्रजा कभी न्याय का उल्लंघन नहीं करती है, राजा प्रजा का उल्लंघन नहीं करता है, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग राजा का उल्लंघन नहीं करता है और परस्पर दूसरे एक का भी त्रिवर्ग उल्लंघन नहीं करता है।[56] जिस प्रकार वर्षा से लतायें बढ़ती हैं, उसी प्रकार राजा की नीति से प्रजा सफल होकर बढ़ती है।[57] जिस प्रकार आगे की संख्या पिछली संख्याओं से बढ़ी होती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ राजा पिछले समस्त राजाओं को अपने गुणों और स्थानों से जीतकर बढ़ा होता है।[58] उसक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त ऋद्धियां दैव और पुरुषार्थ दोनों के आधीन रहती हैं, वह मन्त्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृति के क्रोध से रहित होकर स्व-राष्ट्र तथा पर राष्ट्र का विचार करे। तीन शक्तियों **और सिद्धियों से उसे सदा योग और क्षेम** का समागम होता रहे साथ ही वह सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों की अनुकूलता रखे।[59] अच्छे राजा के राज्य में प्रजा की अवृत्ति आदि पांच प्रकार की बाधाओं में से किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती है।[60] उत्तम राजा का नित्य उदय होता रहता है, उसका मण्डल विशुद्ध (शत्रु रहित) और अखण्ड होता है तथा प्रताप निरन्तर बढ़ता है।[61] ऐसे राजा की रूपादि सम्पत्ति उसे अन्य मनुष्यों के समान कुमार्ग मे नहीं ले जाती है।[62]

राजा के दोष—दोषी या अन्यायी राजा सबको सन्ताप देने वाला, कठोर कर लगाने वाला, क्रूर,, अनवस्थित तथा पृथ्वी मण्डल को नष्ट करने वाला होता है।[63] उसके फलस्वरूप वह अनेक प्रकार के दण्डों को पाता है।[64] राजा को अहंकार छोड़ देना चाहिए, अहंकारी लोग क्या नही करते ?[65] अशुभकर्म के उदय से कोई कोई राजा द्यूत जैसे व्यसनों में आसक्त हो जाता है। मन्त्रियों और कुटुम्बियों के रोकने पर भी वह उनसे प्रेरित हुए के समान उन व्यसनों में आसक्त रहता है, फलस्वरूप अपना देश, धन, बल, रानी सब कुछ हार जाता है।[66] क्रोध से उत्पन्न होने वाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनों में तथा काम से उत्पन्न होने वाले जुआ, चोरी, वेश्या और परस्त्री सेवन इन चार व्यसनों में जुआ खेलने के समान नीच व्यसन नहीं है।[67] सत्य जैसे महान् गुण को जुआ खेलने में आसक्त मनुष्य सबसे पहले हारता है, पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल बच्चे, स्त्रियां और स्वयं अपने आपको नष्ट करता है। जुआ खेलने वाला मनुष्य अत्यासक्ति के कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्यों का रोध हो जाने से रोगी हो जाता है। जुआ खेलने से धन प्राप्त होता है, यह बात भी नहीं है। जुआरी व्यक्ति व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करने वाले पाप का संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगों से याचना करने लगता है और धन के लिए नहीं करने योग्य कामों में प्रवृत्ति करने लगता है। बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं एवं राजा की ओर से उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं।[68] राजा सुकेतु इसका दृष्टान्त है। वह जुआ के द्वारा अपना राज्य भी हार बैठा था। इसलिए उभयलोक का कल्याण चाहने वाला व्यक्ति जुआ को दूर से ही छोड़ दे।[69]

राजकुमार—राजा को चाहिए कि वह उपयोग तथा क्षमा आदि सब गुणों की पूर्णता हो जाने पर राजकुमार को व्रत देकर विद्यागृह में प्रवेश कराए।[70] विद्याध्ययन करते समय उसका आभिजात्य वर्ग से सम्पर्क हो। दास, हस्तिपक आदि को वह अपने सम्पर्क से दूर करे।[71] राज-कुमार इन्द्रियों के समूह को इस प्रकार जीते कि वे इन्द्रियां सब प्रकार अपने विषयों के द्वारा केवल आत्मा के साथ प्रेम बढ़ायें।[72] बुद्धिमान राजकुमार विनय की वृद्धि के लिए सदा वृद्धजनों की संगति करे। शास्त्रों से निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय और स्वभाव से ही विनय करना स्वाभाविक विनय है।[73] जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा को पाकर गुरु और शुक्र ग्रह अत्यन्त सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओं को धारण करने वाले सुन्दर राजकुमार को पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के विनय अतिशय सुशोभित होते हैं।[74] राजकुमार कलावान् हों पर किसी को ठगें नहीं, प्रताप सहित हों, परन्तु किसी को दाह नहीं पहुंचावें[75] जो राजपुत्र विरुद्ध शत्रुओं को जीतना चाहते हैं उन्हें बुद्धि, शक्ति, उपाय, विजय, गुणों का विकल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रौर प्रजा अथवा प्रकृति (मन्त्री आदि) के भेदों को जानकर महान् उद्योग करना चाहिए। इनमें से बुद्धि दो प्रकार की होती है एक स्वभाव से उत्पन्न हुई और दूसरी विनय से उत्पन्न।[76] जिस प्रकार फल और फूलों से रहित आम के वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं और विवेकी मनुष्य उपदिष्ट मिथ्या आगम को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उत्साहहीन राजपुत्र को विशाल लक्ष्मी छोड़ देती है। यहां तक कि अपने योद्धा, सामन्त और महामात्य (महामन्त्री) आदि भी उसे छोड़ देते हैं।[77]

मन्त्रि परिषद् का महत्त्व– मन्त्रिपरिषद् राजा के प्रत्येक कार्य में सलाह देती है। राजा प्रजा का रक्षक है, इसलिए जब तक प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है, तभी तक राजा रहता है। यदि राजा इससे विपरीत आचरण करता है तो सचिवादि उसे त्याग देते हैं।[78] राजा मन्त्रियों से मिल कर किसी समस्या के समाधान का उपाय खोज लेता है। बुद्धिमान व्यक्ति उपाय के द्वारा बड़े से बड़े पुरुष की भी लक्ष्मी का हरण कर लेते हैं।[79] विश्वस्त अपने मन्त्रियों पर राजा तन्त्र (स्वराष्ट्र) तथा अवाद (परराष्ट्र) की चिन्ता रख स्वयं शास्त्रोक्त मार्ग से धर्म तथा काम में लीन हो जाता है।[80]

मन्त्रियों की नियुक्ति–राजा मन्त्रियों की नियुक्ति करता है और उन्हें बढ़ाता है। मन्त्री अपने उपकारों से राजा को बढ़ाते हैं।[81] आवश्यकता पड़ने पर राजा अपने राज्य का पूर्ण भार मन्त्रियों पर रख देता है।[82] जो राजा अपने को सर्वशक्तिमान मानकर मन्त्रियों के साथ कार्य का विचार नहीं करता है, वह मृत्यु को प्राप्त करने के लिए प्रस्थान करता है।[83]

मन्त्रियों की योग्यता—मन्त्रियों की योग्यता की परीक्षा चार प्रकार की उपधाओं (गुप्त उपायों) तथा जाति आदि गुणों से करने का निर्देश उत्तरपुराण में किया गया है। चार उपधायें ये हैं—(1) धर्मोपधा (2) अर्थोपधा (3) कामोपधा (4) भयोपधा। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

मन्त्रियों के कर्त्तव्य—हितकारी कार्य में प्रवृत्त करना और अहितकारी कार्य का निषेध करना ये मन्त्री के दो कार्य हैं।[85]

अन्य अधिकारी—मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य राजकीय अधिकारियों में नैमित्तिक,[86] सेनापति,[87] महामात्र,[88] पुरोहित, श्रेष्ठी,[89] रक्षि[90] (कोतवाल), अन्तःपुररक्षक (शुद्धान्तरक्षि)[91] तथा अन्तर्वंशिक[92] के नाम उत्तरपुराण में प्राप्त होते हैं। ६२वें पर्व में शतबिन्दु नामक निमित्तज्ञानी को अष्टाङ्ग निमित्त-ज्ञान में निपुण बतलाया गया है।[93] अठारह श्रेणियों का उल्लेख भी उत्तरपुराण में मिलता है।[94]

कोष राजा निरन्तर अनेक उपायों से कोष का वर्द्धन करता रहे। अर्जन, रक्षण, वर्द्धन और व्यय ये चार धन संचय के उपाय हैं। इन चार उपायों का प्रयोग करते समय अर्थ और धर्म पुरुषार्थ को काम की अपेक्षा अधिक माने।[95]

राजकीय आय के साधन—बड़े राजा छोटे राजाओं से कर लेते थे। इसके अतिरिक्त कृषकों से कर लिया जाता था। ब्राह्मण कर दान से मुक्त थे।[96] व्यापारी जब धन कमाकर दूसरे द्वीपों आदि से लौटते थे तो उन्हें कमाए हुए धन पर शुल्क देना पड़ता था। आजकल की भांति उस समय भी लोग शुल्क देने से कतराते थे और कर की चोरी करने का प्रयास करते थे।[97] राजकुमार आयात और निर्यात दोनों प्रकार के करों से मुक्त थे।[98]

दुर्ग–प्राचीनकाल में दुर्ग राजाओं की सुरक्षा के सुदृढ़ साधन थे, जो यथास्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकों से भरे रहते थे।[99]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेना और युद्धः—उत्तरपुराण में षडङ्ग बल (छह प्रकार की सेना) का उल्लेख किया गया है।[100] इस सब सेना की शोभा स्वामी से होती थी।[101] स्वामी की सफलता असफलता की नीति पर बहुत कुछ सेना की सफलता असफलता निर्भर थी। सैनिक लोग कूट युद्ध करने में निपुण होते थे।[102] सैनिकों का यह विश्वास था कि युद्ध करने में एक तो सेवक का कर्तव्य पूरा हो जाता है, दूसरे यश की प्राप्ति होती है और तीसरे शूरवीरों की गति प्राप्त होती है।[103] मन्त्रिगण अभ्युदय प्राप्त अनेक मित्रों से युक्त होने के कारण महान् और अजेय पराक्रम के धारक राजा से युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं समझते थे; क्योंकि बलवान् के साथ युद्ध करने का कोई कारण नहीं है।[104]

न्याय व्यवस्थाः—दुष्टों का निग्रह करना और शिष्टों का पालन करना यह राजाओं का धर्म नीति शास्त्रों में बतलाया गया है। स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणों से यदि राजा ही नीतिमार्ग का उल्लंघन करता है तो प्रजा भी उसकी प्रवृत्ति करने लगेगी। अतः राजा को चाहिए कि उसका दॉयां हाथ भी यदि दुष्ट हो तो उसे काट दे।[105] उसके पृथ्वी की रक्षा करते समय अन्याय यह शब्द ही सुनाई न दे और प्रजा बिना किसी प्रतिबन्ध के अपने अपने मार्ग में प्रवृत्ति करे।[106] राजा को नीतिपूर्वक आचरण करना चाहिए, क्योंकि नीति महान् उदय को जन्म देनी है।[107]

शासन व्यवस्था—राजा को चाहिए कि वह अपने वंश के सब लोगों के साथ राज्य का विभाग कर उपभोग करे। ऐसा करने पर परिवार वाले उसके शत्रु नहीं रहेंगे[108] और वह अखण्ड रूप से चिरकाल तक अपनी राजलक्ष्मी का उपभोग करेगा। सज्जनों की दृष्टि में लक्ष्मी सर्वसाधारण के उपभोग के योग्य है।[109] राजा के राज्य में कोई मूलहर (मूलपूंजी को खाने वाला) कदर्य (कंजूस) और तादात्विक (वर्तमान में ही रत) न हो, किन्तु सभी सद्व्यय करने वाले हों।[110] जिसके पुण्य के उदय से वस्तुयें प्रतिदिन बढ़ती रहें उसका तादात्विक रहना ही उचित है।[111] राजा को चाहिए कि उसके पार्श्ववर्ती (समीपवर्ती) लोग घूसखोर न हों। यदि पार्श्ववर्ती रिश्तेदार हों तो दूसरे व्यक्ति वेष बदल-कर आसानी से घुसपैठ कर सकते हैं। राजा श्रेणिक ने चेटक के समीपवर्ती लोगों को घूस दे उन्हें वश में कर स्वयं बोद्रक नामक व्यापारी बन-कर चेटक के घर में प्रवेश कर लिया था।[112]

दूत[113]—दूसरे राजा के पास सन्देश ले जाने के लिए दूत का प्रयोग किया जाता था। दूत कई प्रकार के होते थे। दूसरे राजा को अनुकूल करने के लिए चित्त को हरण करने वाले[114] तथा दूसरे के साथ विग्रह करने के लिए कलहप्रिय दुर्वचन बोलने वाला दूत भेजा जाता था।[115]

तीन शक्तियाँ—शक्ति तीन प्रकार की कही गई है–प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह शक्ति।

मन्त्रशक्ति—पञ्चाङ्गमन्त्र (सहाय, साधनोपाय देश विभाग, काल विभाग और बाधक कारणों का प्रतीकार) के द्वारा मन्त्र का निर्णय करना मन्त्र शक्ति है। राजा को नित्य आलोचित मन्त्र शक्ति से युक्त होना चाहिए।[116]

उत्साह शक्ति—शूरवीरता से उत्पन्न हुए उत्साह को उत्साह शक्ति कहते हैं।

प्रभुशक्ति—राजा के पास कोश और दण्ड (सेना) की जो अधिकता है, उसे प्रभुशक्ति कहते हैं।[117]

उपर्युक्त तीन शक्ति रूप सम्पत्ति के द्वारा राजा समस्त शत्रुओं को जीत लेता है, युद्ध शान्त कर देता है और धर्म तथा अर्थ के द्वारा भोगों का उपभोग करता है।[118] ये तीनों शक्तियां धर्मानुबन्धी सिद्धि को फलीभूत करती हैं। यथार्थ में शक्तियां वही हैं जो दोनों लोकों में हित करने वाली हैं।[119]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन सिद्धियां—राजा को उत्साहसिद्धि मंत्र सिद्धि और फलसिद्धि[120] इन तीन सिद्धियों सहित होना चाहिए।

षाड्गुण्य सिद्धान्त—सन्धि, विग्रह, आसन यान, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजा के छह गुण होते हैं। ये छहों गुण लक्ष्मी के स्नेही हैं।[121]

सन्धि—युद्ध करते वाले दो राजाओं का पीछे किसी कारण से जो मैत्रीभाव हो जाता है, उसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि दो प्रकार की होती है–अवधि सहित और अवधिरहित।[122]

विग्रह शत्रु तथा उसे जीतने का इच्छुक राजा ये दोनों परस्पर में एक दूसरे का उपकार करते हैं, उसे विग्रह कहते हैं।[123]

आसन—इस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी दूसरे को नष्ट करने में समर्थ नहीं हूं, ऐसा विचारकर जो राजा चुप बैठा रहता है, उसे आसन कहते हैं। यह आसन नामक गुण राजाओं की वृद्धि का कारण है।[124] समय और साधन के बिना प्रकट हुई शूरवीरता फल देने में समर्थ नहीं है अतः धान्य की तरह उस काल की प्रतीक्षा करना चाहिए जो कार्य का साधक है।[125]

यान—अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि होने पर दोनों का शत्रु के प्रति उद्यम (शत्रु पर आक्रमण करने के लिए गमन) है, उसे यान कहते हैं। यह यान अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि रूप फल को देने वाला है।[126]

संश्रय—जिसका कोई शरण नहीं है, उसे अपनी शरण में रखना संश्रय नाम का गुण है।[127] विजय की इच्छा रखने वाले राजा को अच्छी तरह प्रयोग में लाए हुए सन्धि विग्रह आदि छह गुणों से सिद्धि मिल जाती है।[128]

चार उपाय—साम, उपप्रदान (दान) भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं। इनके द्वारा राजा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं।[129]

साम—प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना और शरीर से आलिङ्गन आदि करना साम कहलाता है।[130]

उपप्रदान—हाथी, अश्व (घोड़ा), देश तथा रत्न आदि का देना उपप्रदान कहलाता है।[131]

भेद—उपजाप (परस्पर फूट डालकर) के द्वारा अपना कार्य सिद्ध करना भेद कहलाता है।[132]

दण्ड—शत्रु के घास आदि आवश्यक सामग्री की चोरी करा लेना, उनका वध करा देना, किसी वस्तु को छिपा देना अथवा नष्ट कर देना इत्यादि शत्रुओं का क्षय करने वाले जितने कार्य हैं, उन्हें दण्ड कहते हैं।[133]

उपर्युक्त उपायों का ठीक ठीक विचार कर यथास्थान प्रयोग करने पर ये दाता (समाहर्ता) के समान फल प्रदान करते हैं।[134] अथवा जिस प्रकार यथास्थान यथा समय बोए हुए धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार राजा द्वारा यथास्थान यथा समय प्रयोग किए हुए सामादि उपाय फल देते हैं।[135] सामादि उपायों के साथ शक्ति का प्रयोग करना प्रधान कारण है। जिस प्रकार खोदने से पानी और परस्पर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उद्योग से जो उत्तम फल अदृश्य है, वह भी प्राप्त करने योग्य हो जाता है।[136]

अपराध और दण्ड—अपराध करने वालों को प्राचीन समय में कड़ा दण्ड दिया जाता था। दूसरे की धरोहर का अपहरण करने पर तीन दण्ड[137] निश्चित थे।

(i) सर्वस्व हरण कर लेना।

(ii) मल्ल के तीस मुक्के लगवाना।

(iii) कांस्यपात्र में रखा हुआ नया गोबर खिलाना।

राजा धर्माधिकारियों की संस्तुति पर दण्ड देता था।[138]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. तदेव राज्यं राज्येषु प्रजानां यत्सुखावहम् ।
उ० पु० 52/40
2. उत्तरपुराण 54/10
3. वही 54/11
4. वही 54/12
5. वही 54/13
6. वही 54/14
7. वही 54/15–16
8. वही 50/3
9. वही 52/5
10. वही 54/117
11. उत्तरपुराण 55/5
12. वही 56/6
13. वही 57/5
14. वही 58/25
15. वही 59/3
16. वही 61/26
17. वही 62/30
18. उत्तरपुराण 68/5, 48/36, 68/273
19. वही 62/5, 68/79
20. वही 62/225–226
21. वही 68/383
22. वही 68/384
23. वही 68/445
24. उ० पु० 68/86
25. वही 68/706
26. वही 57/91
27. वही 68/658
28. वही 66/4–5, 67/341
29. वही 59/65
30. वही 51/8
31. वही 52/3
32. वही 52/4
33. उ० पु० 52/6
34. उ० पु० 55/4
35. वही 56/5
36. वही 70/215–216
37. वही 66/3
38. वही 57/3
39. उत्तरपुराण 51/5
40. वही 52/6
41. वही 52/9
42. वही 53/4
43. वही 54/112
44. वही 54/113
45. वही 54/114
46. वही 54/115
47. वही 55/6
48. उ० पु० 55/8
49. वही 55/10
50. वही 56/7
51. वही 57/6
52. वही 57/4
53. वही 58/26
54. उ० पु० 58/74
55. वही 59/4
56. वही 59/6
57. वही 62/31
58. वही 62/33
59. उत्तरपुराण 62/34–35
60. वही 66/69
61. वही 76/112
62. वही 52/8
63. वही 76/111
64. वही 74/62
65. वही 48/117
66. वही 59/73
67. उत्तरपुराण 59/75
68. वही 59/76-80
69. वही 54/132
70. उ० पु० 54/132
71. वही 54/133

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

72. वही 54/134
73. वही 54/135
74. वही 54/136
75-76. वही 62/417
77. उत्तरपुराण 68/75-76
78. वही 62/208
79. वही 68/212
80. उ०पु० 70/17
81. वही 55/7
82. वही 62/461
83. वही 58/109
84. वही 59/156
85. उ०पु० 68/115
86. वही 62/61
87,88,89 वही 68/382
90. वही 75/149
91. वही 76/97
92. वही 62/404
93. वही 62/61
94. वही 76/113
95. वही 51/7
96. वही 58/98-100
97. उ० पु० 70/128
98. वही 62/417
99. वही 54/24
100. वही 58/110, 64/29
101. वही 74/34
102. वही 58/72
103. वही 68/587
104. वही 75/639-642
105. वही 67/109-111
106. वही 50/4
107. वही 48/25
108. वही 62/450
109. वही 55/9
110. वही 54/116
111. उ० पु० 62/379
112. वही 75/28-29
113. वही 58/70
114. वही 58/65
115-116 वही 58/102
117. उ० पु० 68/61
118. वही 66/70
119. वही 50/37
120. उ० पु० 48/6
121. वही 68/66, 67
122. वही 68/67-68
123. वही 68/68
124. उ० पु० 68/69
125. वही 75/580
126. वही 68/70
127. वही 68/71
128. वही 58/55
129. वही 68/62
130. वही 68/63
131. उ० पु० 68/63
132. वही 68/64
133. वही 64/65
134. वही 54/38
135. वही 62/32
136. वही 68/73-74
137. वही 59/175-176
138. वही 59/174.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहूंगा अपना सपना

● पं० उदयचन्द्र शास्त्री
जंवरीबाग, नसिया, इन्दौर

अपने आंगन में
आज तुझे देखा था
स्मृति पटल पर
बनी हुई रेखा
मैं निर्ग्रंथ पड़ा हूं सड़कों पर
तू निर्ग्रन्थ
मदिर, मस्जिद, गिरजाओं में,
मौज उड़ाता।
घर में रहकर
दिगम्बर भी कहलाता।
मैं अम्बर के साये में
सुख से दिन-रात बिताता।
मैं भक्तों के बीच खड़ा
पैसे हो पाता
तेरे भक्त, तेरे दरवाजे पर,
अंगुष्ठ दिखाते,
कुछ नहीं मिला तुझसे
गुस्से से आंख दिखाते,
पौ फटते ही हम सबको
एकत्रित करवाते
सोचोगे मेरे जीवन को
आंसू झरनों से निकलेंगे
मां की ममता का स्नेह भरा
चाहूंगा अपना सपना
होकर जिस पथ से निसार
उस पथ को ही मैं खोजूंगा
जिस रस को पी
तू बना अमर
उस रस को ही मैं पीऊंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन जिस प्रकार मानते हैं कि यह अवसर्पिणी चक्र का पांचवा आरा है अर्थात् मानव शरीर, बल, आयु आदि की दृष्टि से धीरे धीरे ह्रास की ओर जा रहा है, धार्मिक दृष्टि से भी धीरे धीरे उसका पतन हो रहा है। उसी प्रकार वैदिक संस्कृति में भी यह कहा जाता है कि यह कलिकाल है, और प्रत्येक दृष्टि से मानव पतनोन्मुख है। दोनों में भेद मात्र यह है कि जहां जैन ह्रासोन्मुख काल के छह भाग करते हैं वहां वैदिक सत्, त्रेता, द्वापर एवं कलि, ये चार ही भाग करते हैं। अस्तु, जैनों द्वारा मान्य मानवसभ्यता के विकास की कहानी वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण अधिक है। इतिहास की दृष्टि से भी दोनों ही संस्कृतियों की पौराणिक काल की घटनाएं बहुत कुछ मिलती हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है क्योंकि दोनों एक ही धरा पर साथ साथ पल्लवित हुई हैं। इतिहास के आदि काल से लेकर आज तक श्रमण सभ्यता और संस्कृति के विकास की कहानी आप इस खोजपूर्ण लेख में पढ़िये और देखिये कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी किस प्रकार प्राचीनतर है और दोनों ने ही एक दूसरे से क्या और कितना लिया दिया है।

—पोल्याका

कुलकर और श्रमण संस्कृति

● डा० प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दि० जैन कॉलेज, बड़ौत

यद्यपि काल एक और अखण्ड है, किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिए उसको घण्टा-मिनट-सैकिण्ड, दिन-रात, मास-वर्ष और अयन-संवत्सर आदि में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने एक दूसरी दृष्टि से भी काल का विभाजन किया है उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। एक समय ऐसा आता है, जब जगत सतत उन्नति की ओर ही अग्रसर होता है और एक समय वह होता है, जब वह अवनति की ओर ढुलकता जाता है। इस दृष्टि से एक को उत्सर्पिणी काल और दूसरे को अवसर्पिणी काल कहते हैं। एक में मनुष्यों का बल, आयु, शरीर का प्रमाण और सुख-सुविधा बढ़ती है, तो दूसरे में घटती है। यह काल-चक्र घड़ी के समान होता है। जैसे घड़ी की सुई छः तक नीचे की ओर, फिर छः तक ऊपर की ओर चलती है, इसी भांति दोनों काल—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा के छः-छः चक्रों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्नति-अवनति के मध्य घूमते रहते हैं। दोनों को मिलाकर एक कल्प बनता है, जिसे आज की भाषा में युग भी कहते हैं।

उपर्युक्त अवसर्पिणी के छः में से प्रारम्भ के तीन कालों में यहां भोगभूमि थी। तब लोगों की आवश्यकताएं बिना श्रम किये ही, कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती थीं। ये कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे—मद्यांग, तूर्यांग, विभूषणांग, स्रगंग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनाङ्ग, पात्राङ्ग और वस्त्राङ्ग। नामानुकूल ही अपना-अपना फल देने में वे सक्षम थे। शनैः-शनैः उनकी संख्या और प्रभाव क्षीण होता गया तो धरा-वासियों के सम्मुख समस्याएं अभिनव रूप लेकर आने लगीं—ऐसी समस्याएं जो न कभी देखी गई थीं, और न सुनी गई थीं। उन्हें सुलझाकर जिन्होंने जनता को सही समाधान दिया, वे कुलकर संज्ञा से अभिहित किये गये। कुलकर युग के निर्माता थे—असाधारण प्रतिभा के धनी, अप्रतिम और अनुपम। ऐसे 14 कुलकर हुए। उनके नाम थे-प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुद्देव, प्रसेनजित और नाभिराय।' अनेक स्थलों पर नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को भी उनके महान् व्यक्तित्व के कारण कुलकर कहा गया है।

जब तीसरे काल की समाप्ति में कुछ समय शेष था और कल्पवृक्षों का प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जा रहा था, तब एक दिन उदय होते हुए चन्द्र और अस्त होते हुए सूर्य को देखकर लोग भयभीत हो उठे। उस समय प्रतिश्रुति नामक प्रथम कुलकर ने उनका समाधान किया—"ये चन्द्र और सूर्य ग्रह हैं। पहले ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों के प्रकाश के कारण ये धूमिल से मालूम पड़ते थे। अतः इनकी ओर ध्यान नहीं जाता था, किन्तु अब धीरे-धीरे ज्योतिरंग कल्पवृक्षों का प्रकाश म्लान होता जा रहा है, इसलिए ये सूर्य और चन्द्र ज्योतिर्वन्त, चमकते हुए स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे हैं। इनसे तुम्हें कोई भय नहीं है।" सुनकर, सब आश्वस्त हो गये। सूर्य और चन्द्र सौर जगत के दो ग्रह हैं, यह एक नया विज्ञान उन्हें ज्ञात हुआ।

तारों को देख कर भय-त्रस्त जनता को, सन्मति नाम के कुलकर ने ज्योतिर्विज्ञान से परिचित कराया। उन्होंने समझाते हुए कहा कि ये तारागण, नक्षत्रों का समूह है। बाद में, उन्होंने दिन-रात का विभाग, सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहों का एक राशि से दूसरी राशि पर जाना आदि बतलाया। क्षेमकर कुलकर ने सिंह, व्याघ्र आदि की गर्जना और उत्पात से बचने के लिये, उन्हें जंगलों में छुड़वा दिया। क्षेमंधर ने उन हिंस्र, व्याघ्र आदि भयकर पशुओं से रक्षा का उपाय बताते हुए लाठी आदि के प्रयोग से अवगत कराया। सीमंकर कुलकर ने कल्पवृक्षों की न्यूनता होने के कारण, उपस्थित विवादों को 'सीमांकन' के सिद्धान्त से शान्त किया। सीमंधर कुलकर के समय में, कल्पवृक्षों को लेकर विवाद और भी उग्र होने लगा, तब उन्होंने वृक्ष, झाड़ियों आदि के द्वारा पुनः सीमांकन किया। विमलवाहन ने हाथी, घोड़ा आदि पशुओं पर सवारी करने की शिक्षा दी।

पहले युगल पुत्र-पुत्री उत्पन्न होते थे। उन्हें 'युगलिया' अथवा 'जुगलिया' कहा जाता था। प्राकृतिक नियम था कि उत्पन्न होते ही माता-पिता दिवंगत हो जाते थे। कल्पवृक्षों के नीचे अंगूठा चूसते हुए वे स्वतः बड़े हो जाते थे। शायद कल्पवृक्षों की सुगन्धित वायु उनके स्वतः पोषण का मुख्य कारण बनती होगी। अब समय बदला और माता-पिता पुत्र का मुंह देखने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद ही मृत्यु को प्राप्त होने लगे। इस अजूबे से जनता भयभीत हुई तो कुलकर चक्षुष्मान ने उन्हें आश्वस्त किया।

समय बीतता गया और माता-पिता सन्तानोत्पत्ति के बाद, कुछ अधिक काल तक जीवित रहने लगे। इससे जन-मानस शंकाकुल हो उठा। यशस्वान् कुलकर ने उन्हें उपदेश दिया और वे लोग अपनी संतान को आशीर्वाद देने लगे। अर्थात् यशस्वान् ने उन्हें आशीर्वाद देना सिखाया। कुलकर अभिचन्द्र ने इसमें वृद्धि की। उन्होंने माता-पिता को बालकों के लालन-पालन का ढंग बताया। अतः वे बालकों को चन्द्रमा दिखला-दिखला कर, उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। चन्द्राभ कुलकर के काल में माता-पिता अपनी सन्तान के साथ कुछ अधिक समय तक जीवित रहने लगे और सन्तान-सुख का अनुभव भी करने लगे।

मरुद्देव कुलकर के समय में वर्षा होनी प्रारम्भ हो गई, नदियां बन गईं और कुछ पर्वत भी निकल आये। तब उन्होंने जल-संतरण के लिए नाव और पर्वतारोहण के लिए सीढ़ियों का आविष्कार किया तथा जनता को उसमें दक्ष बनाया।

काल-क्रम से प्रसेनजित के काल में बालक जरायु में लिपटे हुए उत्पन्न होने लगे, तब उन्होंने जरायु को फाड़ने की विधि बतलाई। नाभिराय कुलकर के समय में, उत्पन्न होते समय बालक की नाभि में नाल दिखाई देने लगा। उन्होंने नाल काटने की विधि सिखाई, इसीलिये वे नाभिराय कहलाये। महापुराण में लिखा है : "तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत्। स तन्निकर्त्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत्॥"[2] इस प्रकार चौदह ही कुलकरों ने अपने-अपने काल में जनोपयोगी कार्य किये।

इन सबमें नाभिराय से हम सब विशेष रूप से परिचित हैं। उनका नाम वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में समान रूप से प्राप्त होता है। वे अत्यधिक प्रतापशाली थे। उनके नाम पर इस देश को अजनाभवर्ष कहते थे। 'शाश्वत कोष' में लिखा है "प्राण्यंगे क्षत्रिये नाभिः प्रधाननृपतावपि",[3] अर्थात् जिस प्रकार प्राणी के अंगों में नाभि मुख्य होती है, इसी प्रकार सब राजाओं में नाभिराज मुख्य थे। 'मेदिनी कोष' में इसका समर्थन मिलता है, "नाभिर्मुख्यनृपे चक्रमध्यक्षत्रिययोरपि"[4] इसका अर्थ है कि चक्र के मध्य में जिस प्रकार नाभि कीली) मुख्य होती है, इसी प्रकार क्षत्रिय राजाओं में नाभि मुख्य थे। भागवतकार ने नाभि के नाम पर इस देश के नामकरण की बात कही है, "अजनाभं नामैतद्वर्षभारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति।"[5] अर्थात् इस देश का नाम पहले अजनाभवर्ष था, किन्तु चक्रवर्ती भरत के नाम पर इसे भारतवर्ष कहने लगे। स्कन्दपुराण में भी "हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्।"[6] आया है। इस पंक्ति को आधार बनाकर डॉ० अवधबिहारीलाल अवस्थी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राचीन भारत का भौगोलिक इतिहास' में लिखा है, "जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही नाभिखण्ड कहा गया।"[7] नाभि का दूसरा नाम अजनाभ था, इसी कारण उसे अजनाभवर्ष भी कहते थे। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मार्कण्डेयपुराणः सांस्कृतिक अध्ययन' के एक पाद-टिप्पण में लिखा है, "नाभि को अजनाभ भी कहते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।"[8]

नाभिराय का युग एक संक्रान्तिकाल था। जब वे सिंहासन पर बैठे भारत भोगभूमि थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पवृक्ष फलते थे। अपराध-वृत्ति का अभाव था। सभी में पारस्परिक सद्भाव था। प्रत्येक का मनोवांछित फल कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाता था, तो असद्वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु, उनके जीवनकाल में ही भोगभूमि समाप्त हो गई। कल्पवृक्ष निःशेषप्रायः हो गये। कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे। नाभिराय ने धैर्यपूर्वक उनका समाधान दिया। वे स्वयं त्राणसह बने। उन्हें क्षत्रिय कहा गया। 'क्षत्रियस्त्राणसहः' उन पर चरितार्थ होता था। आगे चलकर, क्षत्रिय शब्द नाभि अर्थ में रूढ़ हो गया। अमरकोषकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' लिखकर सन्तोष किया।[9] आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अभिधानचिंतामणि, 1/36 में "नाभिश्च क्षत्रिये" लिखा है। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सद्युग को जन्म दिया। प्रजा सुखी बनी और भोगभूमि के समान ही उसे सब सुख-सुविधाएं प्राप्त हुईं। महाराजा नाभिराय स्वयं कल्पवृक्ष हो गये। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है, "चन्द्र के समान वे अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान थे, इन्द्र के समान वैभव-सम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फलों के प्रदाता थे।

शशीव स कलाधारः तेजस्वी भानुमानिव।
प्रभु शक्र इवाभीष्टः फलदः कल्पशाखिवत्॥
—**महापुराण, 12/11**

भोगभूमि के अवशिष्ट नाभिराय ने, कर्मभूमि की उठने वाली नयी-नयी समस्याओं को बहुत सुलझाया, किन्तु नयी-नयी शंकाएं उठती ही जा रही थीं। जब उन्होंने इन सबके समाधान में अपने पुत्र ऋषभदेव को पूर्ण समर्थ देखा तो प्रजाओं को उन्हीं के पास भेजना प्रारम्भ कर दिया—

"तत्प्रहाराम्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृताम्।
नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवितकाम्यया॥
नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः।
प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलब्धया॥"
—**महापुराण, 16/133–34**

मोहन-जो-दरो के 1927–28 के उत्खनन में एक ऐसी मानव-मूर्त्ति प्राप्त हुई है, जो अभी तक की पुरातात्विक खोजों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वह सील नं० 88 पर रखी हुई है। विद्वानों का अनुमान है कि वह नाभिराय की मूर्ति है। उसका वेश-विन्यास एवं प्रशस्त वस्त्र तत्कालीन राजपरिच्छद का मानांक उपस्थित करते हैं। सिर पर मुकुट नहीं है। सम्भवतः वह ऋषभदेव को राजमुकुट पहनाने के पश्चात् का चित्र है। भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराण में एक स्थान पर लिखा है—

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभोः।
महामुकुटबद्धानामधिराड् भगवानिति॥
—**महापुराण, 16/232**

यह चित्र 'सूरसागर' में भी देखने को मिलता है। ऋषभदेव के प्रसंग में, एक स्थल पर सूरदास ने लिखा है—

"बहुरो रिसभ बड़े जब भये।
नाभि, राज दे वन को गये॥
रिसभ-राज परजा सुख पायो।
जस ताको सब जग में छायो॥"[10]

नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव, जिन्हें जैन आदि तीर्थंकर मानते हैं, एक युग पुरुष थे। उनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर श्रीमद्भागवत् तक में तथा सभी जैन ग्रन्थों में श्रद्धा-पूर्वक लिया गया है। सत्य यह है कि उनकी प्रतिभा सुविस्तृत थी, तो हृदय भी महान् था। उनमें दोनों का अद्भुत समन्वय हुआ था। उन्होंने कर्मभूमि की आदि प्रजा को जीने का मार्ग दिखाया, तो अपने त्याग और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्द्धर्ष तप के द्वारा मोक्षमार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होंने लोक और परलोक दोनों के आदर्श प्रस्तुत किये। शायद इसी कारण श्रीमद्भागवत् में उन्हें भगवान् कहा गया है--

"महर्षिः तस्मिन्नेव विष्णुदत्तः भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितः नाभेः प्रिचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनांशुक्लया तनुवावततार।"[11] इसका अर्थ है—हे परीक्षित! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर भगवान्, महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए, उनके अन्तःपुर में, महारानी मरुदेवी के गर्भ से, दिगम्बर श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

श्रीमद् भागवत्कार ने ही अन्यत्र एक स्थान पर लिखा है कि यद्यपि वे परमानन्द स्वरूप थे, स्वयं भगवान् थे, फिर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम में नियमित आचरण किया। उनका यह आचरण मोक्षसहिता के विपरीतवत् लगता है, किन्तु वैसा था नहीं। मोक्ष वही पा सकता है जो सही अर्थों में मानव हो, उसमें मानवीय गुण हों। उन्हें चरितार्थ करने में ऋषभदेव ने अपना जीवन खपा दिया। विपरीतता कैसी! भागवत का वह उद्धरण है—

"भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभवः ईश्वर एव विपरीतवत् कर्माण्यारभ्यमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचारेणोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्॥"[12] इसका अर्थ है—भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही, सब प्रकार की अनर्थ-परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए, उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण कर के, उसका तत्व न जानने वालों को, उसकी शिक्षा दी। साथ ही, सम, शान्त, सुहृद् एवं कारुणिक रह कर धर्म-अर्थ-यश-सन्तानरूप भोग-सुख तथा मोक्ष-सुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

यह सत्य है कि उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुलकीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शौर्य आदि गुणों के कारण, महाराजा नाभिराय ने उनका नाम ऋषभ रक्खा था। ऋषभ का एक अर्थ है—धर्म। ऋषभदेव साक्षात् धर्म ही थे। उन्होंने स्वयं कहा—मेरा यह शरीर दुर्विभाव्य है, अर्थात् मेरी शारीरिक आचारक्रियाएं सब की समझ में सहज नहीं आतीं। मेरे हृदय में सत्व का निवास है, वही धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म-स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है, अतएव मुझे आर्य लोग 'ऋषभ' कहते हैं—

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरादतो:,
हि मां ऋषभं प्राहुरार्याः॥[13]

एक स्थान पर परीक्षित ने कहा—हे धर्मतत्व को जानने वाले ऋषभदेव! आप धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्॥[14]

'पुरुदेवचम्पू' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जैन पाठकों के बीच उसकी ख्याति रही है। इसमें पुरुदेव (ऋषभदेव) का जीवन चरित्र साहित्यिक साँचे में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत किया गया है। एक स्थान पर लिखा है—वृष शब्द धर्मवाचक है और त्रिभुवनगुरु ! आप उस धर्म से शोभायमान हैं, इसलिये इन्द्र ने वृषभ नाम रक्खा—

वृषो धर्मस्तेन त्रिभुवनगुरुर्भाति यदयं।
ततो नाकाधीशो वृषभ इति नामास्य विदधे ॥[15]

'सुप्रभात स्तोत्र' में भगवान ऋषभदेव की वन्दना करते हुए भक्त कवि का कथन है कि हे प्रभो ! महान आत्मस्वरूप आप वृषभ के स्मरण से ही प्रभात सुप्रभात बन जाता है। आपने भव्य प्राणियों को सुख देने वाले तीर्थ की प्रवृत्ति की है—

सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्वसुखावहम् ॥[16]

भगवान ने धर्म का उपदेश दिया क्योंकि वे स्वयं धर्मरूप थे, तीर्थ का प्रवर्त्तन किया, क्योंकि स्वयं तीर्थंकर थे, यह सब कुछ सत्य है, किन्तु उन्होंने प्रजा को संसार में जीने का उपाय भी बताया। उन्होंने सब से पहले क्षात्रधर्म की शिक्षा दी। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—क्षात्रधर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेषधर्म इसके पश्चात् प्रचलित हुए—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः।
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥[17]

भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराण में भी 'आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः' लिखा हुआ है।[18] ब्रह्माण्ड पुराण में पार्थिवश्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—"ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्यपूर्वजम् ॥[19] प्रजाओं का रक्षण क्षात्र धर्म है। अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन, ये दोनों गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यमान थे। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर जिन लोगों को शस्त्रविद्या सिखाई, उन्हें क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय संज्ञा का अन्तर्निहित भाव यही था कि जो हाथों में शस्त्र लेकर दुष्टों और सबल शत्रुओं से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। उन्होंने शस्त्रविद्या की शिक्षा ही नहीं दी, अपितु सर्वप्रथम क्षत्रियवर्ण की स्थापना भी की—

"स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥"[20]

ऋषभदेव का यह कथन अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि केवल शत्रुओं और दुष्टों से युद्ध करना ही क्षात्र धर्म नहीं है, अपितु विषय-वासना, तृष्णा और मोह आदि जीतना क्षात्रधर्म है। उन्होंने दोनों काम किये। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्मविद्या का पुरस्कर्त्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध पृथ्वी जीतने के लिए आवश्यक है, उतना ही, उससे भी अधिक मोहादिक जीतने के लिए अनिवार्य है। ऋषभदेव ने सागर-पर्यन्त पृथ्वी जीती, व्यवस्थित की, और फिर मोहादि शत्रुओं का विनाश करने में भी विलम्ब नहीं किया। इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र ने भाव-भीना संस्कृत श्लोक लिखा है—

"विहाय यः सागरवारिवाससं
वधूमिवेमां वसुधां वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान्
प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥"[21]

इसका अर्थ है कि सागर वारि (समुद्र जल) ही है दुकूल जिसका (समुद्र पर्यन्त विस्तृत), ऐसी वसुधा रूपी सती वधू को छोड़ कर, मोक्ष की इच्छा रखने वाले, इक्ष्वाकुवंशीय, आत्मवान्, सहिष्णु और अच्युत प्रभु ने दीक्षा ले ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने अपने दोषों को अपने समाधि तेज से भस्म कर दिया। फिर, जगत को सही तत्व का उपदेश दिया और ब्रह्मपद से सुशोभित हुए। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने राज-पद भोगा और फिर, "स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया, निशात्य यो दुर्जय-मोह विद्विषं। अवापदामचिन्त्यऽऽर्हन्त्यमभिनयमद्भुतं, त्रिलोकपूजातिशया, स्पदं पदम् ॥"[22] अर्थात् अपने योग रूपी खड्ग की पैनी धार से मोह-रूपी शत्रु को काट कर, अचिन्त्य और तीनों लोको की पूजा के स्थान-स्वरूप आर्हन्त्य पद को प्राप्त कर लिया। तात्पर्य है कि क्षत्रिय का अर्थ केवल सांसारिक जीत ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक जीत है। उसके दो दुश्मन हैं—एक बाह्य है तो दूसरा आन्तरिक। एक स्थूल है तो दूसरा सूक्ष्म। एक आसान है दूसरा मुश्किल। दोनों का विजेता ही सच्चा क्षत्रिय है।

भगवान् ऋषभदेव के समय में इक्षुदण्ड स्वयं संभूत थे, किन्तु लोग उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। ऋषभदेव ने उनके रस निकालने की विधि बताई। शायद इसी कारण वे इक्ष्वाकु कहलाये। महापुराण में लिखा है "आवनाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्। इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः॥"[23] आवश्यकचूर्णि में 'अक्खु भक्खणे,[24] कहा गया है इस प्रकार 'इक्खु' और 'अकु' मिल कर 'इक्खागो' प्राकृत में और 'इक्ष्वाकु' संस्कृत में बनता है। आवश्यक निर्युक्ति में 'सक्को वसट्ठवणे इक्खु अगू तेण हुन्ति इक्खागो।"[25] लिखा है।

भगवान् को एक वर्ष से आहार नहीं मिला था। उन्होंने अपने मन में एक व्रत लिया था, तदनुरूप आहार उपलब्ध नहीं होता था। एक दिन हस्तिनापुर पहुँचे। वहां के महाराजा सोमप्रभ, उनकी महारानी लक्ष्मीमती और छोटे भाई श्रेयांस कुमार ने पूजा अर्चा पूर्वक स्वागत किया। पूर्वभव के एक स्मरण से, श्रेयांसकुमार ने अपने भाई और भावज के साथ भगवान् को इक्षु के प्रासुक रस का आहार दिया। यही भगवान् का व्रत था। उन्होंने आहार लिया। इस आहार दान की महिमा सभी प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित है। मैं इसे इस प्रकार मानता हूँ कि भगवान् ने जिस इक्षु दण्ड से रस निकालने की विधि बताई थी, उसे आध्यात्मिक उपयोग में प्रतिष्ठित कर, प्रजाओं के मस्तिष्क में उसकी महिमा और भी बढ़ा दी। बढ़ाई ही नहीं, स्थायी कर दी। आज इक्षुदण्ड और उसके रस का विश्व आभारी है।

प्राकृतिक अवरोध कि कल्पवृक्षों से भोजन की व्यवस्था निःशेषप्रायः हो गई। तब भगवान् ने प्रजाओं को कृषि की शिक्षा दी। कृषि का अर्थ है—कृषिः भूकर्षणे प्रोक्ता। पृथ्वी के विलेखन को कृषि कहते हैं। जैसे अनार को चीरने से उसमें से रस पूर्ण दाने निकलते हैं, उसी प्रकार हल मुख से विदीर्ण करने पर प्राणरक्षक अन्न प्राप्त होता है। उन्होंने खेती करने का ढंग बताया और उसमें प्रजाओं को निष्णात किया। वे खेती के पहले उपदेशक थे। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—

"प्रजापतिर्यः प्रथम जिजीविषुः।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः॥"[26]

उस समय खेती का मुख्य साधन था वृषभ। उन्होंने उस पर बल दिया। उसे महत्वपूर्ण घोषित किया, यहां तक कि इस आधार पर उन्होंने अपना नाम वृषभदेव कहलाना गौरवास्पद समझा। उन्होंने वृषभ को अपना मुख्य चिन्ह बनाया। वे वृषभलाञ्छन कहलाये। आज भारतीय पुरातत्व में वृषभदेव की मूर्तियां वृषभ चिन्ह से ही पहचानी जाती हैं। आगे चलकर वृषभ शब्द 'श्रेष्ठ' अर्थ का द्योतक हो गया, शायद वह वृषभदेव के द्वारा चिह्नरूप में धारण किये जाने के कारण ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्न-पाठक स्वप्न में वृषभ को शुभ फलदायी मानते हैं। वृषभदेव ने हल और बैल के द्वारा केवल कृषि करना ही नहीं सिखाया, अपितु उत्पन्न अन्न से भोजन की विधि भी बताई। अतः कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो अन्नाभाव से प्रपीड़ित रहा हो।

ऋषभदेव ने लिपि और गणित की शिक्षा अपनी पुत्रियों को दी। ब्राह्मी को भाषा और लिपि का ज्ञान कराया। उसी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि को ब्राह्मी लिपि कहते हैं। भाषाविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि ब्राह्मीलिपि पूर्ण और सर्वग्राह्य थी। आगे चलकर इस लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ। आज की देवनागरी लिपि उसी का विकसित रूप है। ब्राह्मीदेवी का एक मन्दिर, चम्बाघाटी के भरभौर नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। मन्दिर प्राचीन काल का अवशेष है। हो सकता है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री को उधर का राज्य दिया हो और उसके अच्छे कार्यों ने उसे देवी के रूप में प्रसिद्ध कर दिया हो, अथवा दीक्षा धारण कर उसने वहां तप किया हो और शताब्दियों तक किसी दिव्यशक्ति के रूप में पूजी जाती रही हो। ब्राह्मी के दीक्षा धारण करने की बात जिनसेन के हरिवंश पुराण से प्रमाणित है।[27] ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंकों का ज्ञान करवाया। उससे गणित विद्या का प्रसार समूचे जगत में हुआ। आज जैनाचार्यों के लिखे गणित-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। लिपि और अंक शिक्षा के सन्दर्भ में महापुराण का उद्धरण है—

"तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।
तत्संग्रहणकालोऽयम् युवयोर्वर्ततेऽधुना॥
इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥
ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम्॥
अकारादि हकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु सन्तताम्।
संयोगाक्षर सम्भूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम्॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्॥"[28]

इसका अर्थ है—तुम दोनों के विद्या ग्रहण का यही समय है, अतः विद्या-प्राप्ति में प्रयत्न करो। भगवान् वृषभदेव ने ऐसा कह कर, बार-बार उन्हें आशीर्वाद दिया तथा स्वर्ण के विस्तृत पट्ट पर, अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता का पूजन कर स्थापित किया। फिर दोनों हाथों से—दाहिने हाथ से अक्षरमालिका रूप लिपि का और बायें हाथ से संख्या का ज्ञान कराया। जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें 'सिद्धं नमः' इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर-व्यञ्जन के भेद से दो भेदों को प्राप्त है और शुद्ध मोतियों की माला के समान है, ऐसी अकार को आदि लेकर हकार-पर्यन्त तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह-पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और सुन्दरी ने इकाई-दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणितशास्त्र को भलीभांति अवग्रहण किया।

जगद्गुरु वृषभदेव ने अपने पुत्रों को भी अनेक शास्त्र पढ़ाये। भरत को अर्थशास्त्र, वृषभसेन को गन्धर्वशास्त्र, अनन्तविजय को चित्रकला आदि कलाओं का ज्ञान, बाहुबली को कामशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा आदि की जानकारी का निरूपण किया। लोकोपकारक सभी शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने अपने पुत्रों को सिखाये।[30] इसी कारण उनका युगपुरुष नाम सार्थक था।

वृषभदेव ने एक सुनियोजित व्यवस्थित रूप में प्रजाओं को अनुशासित किया। उन्होंने कर्म के आधार पर वर्गीकरण किया। वे चतुर्वर्णी व्यवस्था के सूत्रधार बने।[31] चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण-व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह वृषभदेव से प्रारम्भ हो चुकी थी। आचार्य सोमदेव के नीतिवाक्यामृत में वर्णित चतुर्वर्ण-व्यवस्था चाणक्य की अर्थनीति से प्रभावित न होकर, अपनी ही पूर्वपरम्परा, अर्थात् वृषभदेव की व्यवस्था से प्रभावित थी। कुछ अनुसन्धित्सु इस सम्बन्ध में भ्रम-मूलक मान्यताएं स्थापित कर डालते हैं। उन्हें उपर्युक्त बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ में, धरा और धरावासियों की आवश्यकताओं के समाधान में वृषभदेव ने जिस घोर श्रम का परिचय दिया, वही आत्मविद्या के पुरस्कर्त्ता होने में भी किया। वे श्रमणधारा के आदि प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। भागवतकार ने ऋषभदेव को नाना योग-चर्याओं का आचरण करने वाले "कैवल्यपति' की संज्ञा तो दी ही हैं,[32] साथ ही उन्हें दिगम्बर श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता और श्रमणधर्म का प्रवर्त्तयिता माना है।[33] उनके सौ पुत्रों में से नौ पुत्र श्रमण मुनि बने, भागवत में यह भी उल्लेख मिलता है—

"नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसितः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥"
—श्रीमद्भागवत्, 11/2/20

इसका अर्थ है—ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से नौ पुत्र बड़े भाग्यवान थे, आत्म-ज्ञान में निपुण थे और परमार्थ के अभिलाषी थे। वे श्रमणमुनि हो गये, वे अनशन आदि तप करते थे।

यहां श्रमण से अभिप्राय है, श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।" अर्थात् जो तपश्चरण करते हैं, वे श्रमण हैं। श्री हरिभद्रसूरि ने दश-वैकालिक सूत्र (1/3) में लिखा है, "श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।" इसका अर्थ है कि जो श्रम करता है, कष्ट सहता है अर्थात् तप करता है, वह तपस्वी श्रमण है। रविषेणाचार्य के पद्मचरित (6/212) में कथन है, "परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्। तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपोहि श्रम उच्यते।"

तैत्तिरीयारण्यक 2/7 में श्रमणों की परिभाषा दी है, "वातरशनानां श्रमणा नामृषीणामूर्ध्वमंथिनः।" सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या की है, "वातरशनाख्याः ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः।" इसका अर्थ है कि दिगम्बर श्रमण ऋषि तप से सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके ऊर्ध्वगमन करने वाले हुए हैं। ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव है, वह सदा से इसके लिए प्रयत्न करता रहा है, किन्तु कर्मों का भार उसे अधिक ऊंचाई तक नहीं जाने देता। जब जीव कर्म-बन्धन से नितांत मुक्त हो जाता है, तब अपने स्वाभावानुसार लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन करता है, जैसा कि तत्वार्थसूत्र का कथन है, "तदन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।"[34] जैन शास्त्रों में जहां भी मोक्षतत्व का वर्णन आया है, वहां पर इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों ने वातरशना श्रमण मुनियों के लिए ऊर्ध्वपंथी, ऊर्ध्व रेता आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन कर जाना श्रमण की साधना का मुख्य लक्ष्य होता है। 'बृहदारण्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोपनिषद' में लिखा है कि उस समय श्रमण अ-श्रमण हो जाता है और तापस अतापस, अर्थात् इसके साथ नाम की कोई बाह्य उपाधि नहीं रह जाती। वह श्रमण-अश्रमण, तापस अतापस से ऊपर उठ जाता है। न पाप रहते हैं और न पुण्य, दोनों से छुटकारा पा लेता है। हृदय में भरे शोक स्वयं चुक जाते हैं। वह उद्धरण है, "श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति"।[35] इस कथन की पुष्टि शांकरभाष्य से भी हो जाती है, "श्रमण परिव्राट्, यत्कर्मनिमित्तो भवति, स तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः"[36] अर्थात् जिस कर्म-भार को चुकाने के लिए पुरुष श्रमण परिव्राट् बनता है, उसके चुक जाने पर वह अश्रमण हो जाता है, तात्पर्य है कि उसे फिर तप-रूपी श्रम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैन शास्त्रों के अनुसार भी क्षपणक श्रेणी आरोहण करने वाला श्रमण मुनि पाप और पुण्य दोनों से रहित हो जाता है और कषाय तथा घाति चतुष्क का नाश करके कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। ब्रह्मोपनिषद् में भी परब्रह्म का अनुभव करने वाले की जिस दशा का वर्णन किया गया है, वह हू-बहू ऐसी ही है—

"श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापसः एकमेव
तत् परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्।।"[37]

श्रमण शब्द सर्व प्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। इस ऋचा में भी 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की तरह ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है—

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता
अतृष्णजः।।[38]

इस पर सायणाचार्य ने लिखा है—"अश्रमणाः श्रमणवर्जिताः अशृथिताः अन्यैरशिथिलीकृताः अमृत्यवः अमारिताः अनातुराः अरोगाः अजराः जरारहिताः स्थ भवथ। किञ्च अभविष्णवः उत्क्षेपणावक्षेपणगत्युपेताः हे ग्रावाणः तृदिलाः अन्येषां भेदकाः अतृदिलासः स्वयमन्ये नाभिन्नाः सुपीवसः सुबलाः अतृषिताः तृषारहिता. अतृष्णजः निस्पृहा भवथ" इसका हिन्दी अर्थ है—आप श्रमण-रहित, दूसरों के द्वारा शिथिल न किये जा सकने वाले, बलवान, तृष्णा-रहित और निर्मोह हों। यहां श्रमण-रहित का अर्थ है कि आप श्रमण की उपाधि से मुक्त हो जायें, अर्थात् आपको तप—रूपी श्रम करने की आवश्यकता न रह जाये, अर्थात् आपको कैवल्य प्राप्त होजाये।

'श्रमण' शब्द का अधिकाधिक महत्व रहा है। वैय्याकरण अत्यन्त अनिवार्य स्थिति में ही किसी किसी शब्द-विशेष के लिए नियम बनाते हैं, अन्यथा नहीं। किन्तु श्रमण शब्द के सम्बन्ध में व्याकरण-ग्रन्थों में विशेष नियम उपलब्ध हैं। शाकटायन ने लिखा है—"कुमारः श्रमणादिना" (शाकटायन 2/1/78) 'श्रमण' के साथ कुमार और कुमारी शब्द की सिद्धि के सम्बन्ध में यह सूत्र है। उस समय 'कुमारश्रमणा'—जैसे पद लोक-प्रचलित थे। यह उस तापसी को कहते थे, जो कुमारी अवस्था में श्रमणा बन जाती थी। 'श्रमणादि—गणपाठ' के अन्तर्गत 'कुमार प्रव्रजिता', 'कुमार तापसी'—जैसे निष्पन्न शब्दों से यह सिद्ध होता है कि उस समय कुमारियां प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं, यह लोक-विश्रुत था। भगवान् ऋषभदेव की दोनों पुत्रियों ने कुमारी-अवस्था में ही 'श्रमणा' पद ग्रहण किया था। आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' में लिखा है, "ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसंगते। प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते।"[39] अर्थात् धैर्य से युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियां अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं। इसी पुराण में एक दूसरे स्थान पर लिखा है, 'ब्राह्मीयं सुन्दरीयं च समस्तार्यगणाग्रणीः। कुमारीभ्यां प्रिये ताभ्यां मारभङ्गः स्फुटीकृतः।[40] इसका अर्थ है—हे प्रिये! यह समस्त आर्याओं की अग्रणी ब्राह्मी है और यह सुन्दरी है, इन दोनों ने कुमारी अवस्था में कामदेव को पराजित कर दिया है। नेमिनाथ विवाह-द्वार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही दीक्षा ले तप करने चले गये थे, अतः राजुल का विवाह न हो सका और वह भी कुमारी अवस्था में ही दीक्षा ले अर्जिका हो गई थी। शाकटायन स्वयं श्रमण-संघ के आचार्य थे—"महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः।"[41] अतः श्रमणों के सम्बन्ध में उनकी जानकारी प्रामाणिक कही जा सकती है। पाणिनीय ने भी अष्टाध्यायी (2/1/70) में 'कुमारः श्रमणादिभिः' लिख कर शाकटायन का समर्थन ही किया है।

किन्तु पाणिनीय के उपर्युक्त सूत्र पर पातञ्जलि के महाभाष्य 3/4/9, येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणः ब्राह्मणम्।" का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। यहां शाश्वतिक शब्द ध्यान देने योग्य है। श्रमण और ब्राह्मणों में विरोध था और वह भी ऐसा-वैसा नहीं, शाश्वतिक। जो विरोध हेतु या विरोध जन्य होता है, वह उस हेतु के दूर होने पर समाप्त हो जाता है, किन्तु यह तो शाश्वतिक है। शाश्वतिक वही हो सकता है, जिसके मूल सिद्धान्त में विरोध हो। अर्थात् यह विरोध सैद्धान्तिक है किसी निमित्त से उत्पन्न नहीं हुआ। ब्राह्मण वैदिक धारा का प्रतिनिधि था और श्रमण श्रमणधारा का। जहां वैदिकधारा एकेश्वरवादी थी, वहाँ श्रमणधारा अनेकेश्वरवादी। श्रमणों का विचार था कि राग-द्वेष का समूल नाश करके प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म बन सकता है, वह केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है, कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता नहीं। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक जीव में, अपने ही तप-समाधि-रूप श्रम से ईश्वरत्व प्राप्त कर लेने की सम्भावना पर बल दिया। ऋषभदेव ईश्वर के अवतार नहीं थे, अपितु उन्होंने अपने ही समाधि-तेज से, अपने कर्मों को भस्म करके ब्रह्म पद प्राप्त किया था।[42] पार्श्वनाथ भी अपने योग रूपी खड्ग की तीखी धार से मोह-शत्रु को नष्ट करके आर्हन्त्यलक्ष्मी को प्राप्त कर सके थे।[43] सभी तीर्थंकरों और मोक्षगामियों के साथ यही बात थी।

जहाँ श्रमणधारा पूर्णरूप में अहिंसक रही-द्रव्य रूप से भी, भाव रूप से भी, बाह्य रूप से भी और अन्तः रूप से भी, वहाँ 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को अपना कर वैदिक धारा उत्तरोत्तर हिंसा-परक होती गई। उसके यज्ञों में बलि को प्रमुखता मिली। कर्मकाण्ड बढ़ा और आडम्बर धर्म कहे जाने लगे। इसी कारण, उनमें असहिष्णुता बढ़ी तो बढ़ती ही गई। डॉ. मंगलदेव शास्त्री का कथन है, "ऋषि या वैदिकी संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमण-संस्कृति या मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी।[44]" श्रमणों के उदारता-परक दृष्टिकोण का उत्तम निदर्शन है—अनेकांत। इसे सापेक्ष दृष्टि कहें तो उचित ही होगा। इससे वस्तु स्वभाव सही रूप में समझा जा सका। इसमें हठ या आग्रह को कोई स्थान नहीं। इससे तटस्थ और निष्पक्ष मूल्यांकन हो पाता है। यह दृष्टि वही अपना पाता है जो सहिष्णु और उदार हो। दूसरी ओर ऐकान्तिक दृष्टि होने से हठ और आग्रह स्वतः प्रविष्ट हो गये।

एक में निवृत्ति-मूलकता थी, तो दूसरी में प्रवृत्ति प्रधान थी। निवृत्ति के ही कारण श्रमण विशुद्ध अध्यात्मवादी रहे श्रीमद्भागवत् का यह कथन सत्य है कि—'श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाः।' अनन्त शक्तियों की स्रोत अपनी आत्मा को ही उन्होंने ब्रह्म माना, उसी की भक्ति की और उसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया उससे बड़ा किसी को नहीं माना, न राजा को, न सम्राट् को। यही कारण है कि वे किसी के सामने कभी नहीं झुके। सम्राट् सिकन्दर के पास जाने से श्रमण आचार्य दोलामस ने स्पष्ट इनकार कर दिया था, तब सिकन्दर को स्वयं उनके पास आना पड़ा। वह उनकी आध्यात्मिकता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उनमें से एक कल्याण मुनि को वह अपने साथ यूनान ले गया था। फिर, यूनान जो कि भोग-प्रधान देश था, आध्यात्मिकता की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर खिंचने लगा। पं० सुन्दरलाल ने 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म' में लिखा है, "उस जमाने की तवारीख से पता चलता है कि पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों जैन संत महात्मा जा-जा कर जगह-जगह बसे हुए थे। ये लोग वहाँ बिलकुल साधुओं की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए वहाँ मशहूर थे।[45] डॉ. नीलकंठदास ने अपने ग्रन्थ 'उड़ीसा में जैन धर्म' में लिखा है, "जैन धर्म संसार के सारे धर्म तथा मानविक आत्मविकास के मूल में है। कहा जा सकता है कि इसी के ऊपर मानव-समाज के विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।"[46]

इस भाँति महर्षि पतञ्जलि दोनों में शाश्वतिक विरोध स्वीकार करते हैं, किन्तु यह विरोध की बात बहुत आगे चल कर प्रारम्भ हुई। गीता के समय तक दोनों में मैत्रीभाव था और दोनों एक-दूसरे की पूरक थीं। गीता में मुनि का प्रशंसा-मूलक एक श्लोक है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधी मुंनिरुच्यते ।।[47]

गीता में ही नहीं, ऋग्वेद में भी मुनिधर्म का अच्छा निवेचन मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ० मंगलदेव शास्त्री का एक कथन दृष्टव्य है, "ऋग्वेद के एक सूक्त (१०/१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातरशना दिगम्बर पिशंगा वसतेमला-मृत्तिका को धारण करते हुये पिंगल वर्ण और केशी-प्रकीर्ण केश इत्यादि कहा गया है। यह श्रीमद्भागवत् (पंचमस्कंध) में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण मुनियों के धर्मों को प्रगट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[48] ऋषभदेव दोनों धाराओं के सन्धिस्थल थे। उनका व्यक्तित्व समन्वयकारी था। उनका व्यक्तित्व सर्वमान्य, सार्वजनिक, अखण्ड और अबाधित था। यही कारण है कि जैन, वैदिक, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों में उनका समभाव से स्मरण किया गया है। सम्राट भरत—जो ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे, के साथ भी यही बात थी। सभी आचार्यों—जैन और अजैन दोनों ने उन्हें मनु की संज्ञा से विभूषित किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण (३/२३२) में लिखा है, "वृषभौ भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतो मनुः।" मैं पहले ही कह चुका हूं कि दोनों ने यदि एक ओर जगत् को साधा तो दूसरी ओर निःश्रेयस को भी प्राप्त किया। एक ओर भौतिकवाद को व्यवस्थित किया तो दूसरी ओर अध्यात्मवाद को भी चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। उन्होंने ऐसा रास्ता बताया जो दोनों तत्वों की प्राप्ति का सुगम उपाय था। यह शताब्दियों चला। दोनों धाराओं में कोई वैमनस्य और मनमुटाव नहीं हुआ।

इस सन्दर्भ में बाबू गुलाबरायजी का कथन दृष्टव्य है, "वैदिक और श्रमण संस्कृति में सामञ्जस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होंने भारतवर्ष की बौद्धिक एकता बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया।"[49] यह सामञ्जस्य की भावना स्वयं ऋषभदेव और भरत ने अपने जीवन के द्वारा प्रस्तुत की थी, अतः वह बहुत समय तक प्राणवन्त बनी रही। श्री वाचस्पति गैरोला ने भी अपने 'प्राचीन भारतीय दर्शन' नाम के ग्रन्थ में दोनों धाराओं के पूरक और समन्वय की बात कही है। उनका कथन है, "पहली विचार-धारा परम्परा-मूलक, ब्राह्मण या ब्रह्मवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य के वृहत् स्वरूप में प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमण-प्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई। ये दोनों विचार-धाराएं एक-दूसरे की प्रपूरक रही हैं। इस राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने में उन दोनों का समानतः महत्वपूर्ण स्थान है।"[50]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात रह जाती है प्राचीन होने की। इस सम्बन्ध में विद्वानों का अभिमत है कि श्रमण संस्कृति वैदिक ही नहीं, प्राग्वैदिक थी। भारतरत्न लोकमान्य तिलक ने १३ दिस०, सन् १९०४ के केसरी में लिखा था, "ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैनधर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के दृढ़ सबूत हैं।" डॉ० विशुद्धानन्द पाठक ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास और संस्कृति' में लिखा है, "विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धुघाटी की सभ्यता से मिली योगमूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में ऋषभ तथा अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णु पुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।"[51] श्री रामधारीसिंह दिनकर का 'संस्कृति के चार अध्याय' में कथन है, "कई विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेदपूर्व हैं।"[52] मेजर जनरल फरलांग ने तो 'Studies in Science of Comparative Religions' में यहां तक लिखा है, "It is impossible to find a biginning for Jainism. Jainism thus appears an earliest faith of India."[53] महामहोपाध्याय सतीशचन्द का अभिमत है, "जैनमत तब से प्रचलित हुआ है, जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार उज्र नहीं है कि जैनधर्म वेदों से पूर्व का है।"[54]

श्रमण-परम्परा का मूलमंत्र था—'अहिंसा परमोधर्मः।' अहिंसा ब्रह्म है, ऐसी उनकी मान्यता थी। ऋषभदेव ने अपनी साधना से वह ब्रह्मपद प्राप्त किया था। आचार्य समन्तभद्र ने एक चित्र खींचा है—

"स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि तेजसा
निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्।
जगाद् तत्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा
बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥"

—स्वयम्भूस्तोत्रं, १।४

इसका अर्थ है—जिन्होंने अपने आत्म-दोषों के मूलकारण को अपने समाधि-तेज से निर्दयता-पूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत करदिया, तथा जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगत को तत्त्व का सम्यक् उपदेश दिया और जो ब्रह्म पद रूपी अमृत के ईश्वर हुए।

ऋषभदेव की भाँति ही अन्य तेईस तीर्थंकरों ने भी इस अहिंसारूप-ब्रह्मपद को प्राप्त किया था। उन्होंने अहिंसा के गीत ही नहीं गाये, अपितु उसे अपने जीवन में प्रतिफलित कर दिखाया। इसका प्रभाव पड़ा। वह भारतीय इतिहास और संस्कृति के शताब्दियों के पृष्ठों पर देखा जा सकता है। वेदों के ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते ही रह गये कि इन नग्न देवों से हमारे यज्ञों की रक्षा करो, किन्तु रक्षा न हो सकी। शनैः शनैः इन्द्र का देव-पद और आराध्य-पद समाप्त हो गया। कृष्ण ने इन्द्र के विरुद्ध क्रांति की और उसे समूल नष्ट कर दिया। जैन साहित्य में वह जीवित तो रहा, किन्तु नग्नदेव का भक्त बन कर। उसे जिनेन्द्र की गर्भावस्था से निर्वाण-पर्यन्त जै-जै के गीत गाने पड़े। समय-समय पर समारोहों का आयोजन करना पड़ा। आज भारतीय धरा पर यज्ञ और उनमें होने वाली पशु-बलि और नर-बलि का समूलोच्छेद हो गया है।

मध्यकाल में एक वैष्णव आन्दोलन चला, जो अत्यधिक सामर्थ्यवान और व्यापक था। उसने जातिवाद को चुनौती दी तो हिंसा को भी निरर्थक प्रमाणित किया। अहिंसा उसका मूलमन्त्र बना। केवल हिन्दुओं ने ही नहीं, मुसलमानों ने भी समवेत स्वर में अहिंसा को मान्यता दी। उनका साहित्य इसका साक्षी है। सभी मुसलमान भक्त कवि अहिंसक थे। क्या रसखान, क्या कबीर और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायसी। इन्होंने हिंसक शाक्तों को तो बुरा कहा ही, उन अहिंसकों को भी फटकारा, जिन्होंने अहिंसा के नाम पर कर्माडम्बरों का घटाटोप रच रक्खा था। इस प्रकार अहिंसा का रथ जो चला तो चलता ही रहा, रुका नहीं। बाधाएं आयीं, रुकावटें समुपस्थित हुईं, किन्तु वह शान के साथ चलता रहा। फिर आये गान्धीजी। उन्होंने इस रथ को राजनीति की टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों पर घुमा दिया। वहां भी वह खरा प्रमाणित हुआ। गान्धीजी को सफलता मिली और राजनीति को नई परिभाषा। राजनीतिज्ञों ने उसे समझा, वैज्ञानिकों ने सराहा और गणपतियों ने उसकी प्रशंसा की। आज अहिंसा समूचे जगत का प्रिय विषय है।

डॉ० मंगलदेवशास्त्री ने 'जैन दर्शन' के प्राक्कथन में लिखा है, "भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमत-सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन-दर्शन और जैन-विचारधारा की जो देन है, उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।"[55] डॉ० कालिदास नाग का कथन है, "यदि किसी ने आज महान परिवर्तन करके दिया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त ही है। अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति संसार की समस्त खोजों और प्राप्तियों से महान् है। मनुष्य का स्वभाव है नीचे की ओर जाना, किन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्व प्रथम यह बताया कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाता है।[56] दोनो ही भारत के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने हलके ढंग से नहीं लिख दिया है और न अभ्यास-वशात् ही लिखा है। उनके कथन में सार्थकता है। यह सच है कि भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के पहले अहिंसा को समझना अनिवार्य है। अर्थात् अहिंसा इस देश की संस्कृति का अनिवार्य तत्त्व था। यह श्रमणधारा की एक महत्वपूर्ण देन थी।

अनेकांत समन्वय का प्रतीक है—श्रमण आचार्यों के तटस्थ हृदय का द्योतक है। उसमें पक्ष-विपक्ष नहीं। हठ-दुराग्रह नहीं। विरोध नहीं, विरोधाभास नहीं। सभी दृष्टियों से विचार खुला है। कुछ ने ऐकान्तिक दृष्टिकोण से सोचा, तो उन्हें वह दोष-पूर्ण लगा, उपहासास्पद प्रतीत हुआ। यह उनका भ्रम ही था, जो बाद में ठीक हो गया। सिद्धान्त ऐसा जो विरोधों में भी अविरोध की, अनेकांत में एकता की और वैषम्य में साम्य की स्थापना करता है। अतः यह ही धर्म की परिभाषा की कसौटी पर खरा उतरता है। धर्म वह है जो अविरोधी हो। यदि एक धर्म में दूसरे धर्म का विरोधी तत्व है, तो वह परमसत्यरूप नहीं है, उसमें कहीं कमी है, यह स्पष्ट ही है। महाभारत के वनपर्व में लिखा है, 'धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्। अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥"[57] इसका अर्थ है—जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुंचावे, दूसरे धर्म से रगड़ पैदा करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। धर्म तो वह होता है, जो अन्य धर्म विरोधी न हो।

इस विश्व में अनेक धर्म हैं। उन्हें मिटाकर एक नहीं किया जा सकता। यह कथन उचित नहीं है कि जब परमसत्य एक है, तो धर्म भी एक होना चाहिए। फिर तो, परमब्रह्म एक है तो जीव भी एक ही होना चाहिए। ऐसा होता नहीं। अथर्ववेद में ठीक ही लिखा है, "जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम ॥[58] इसका अर्थ है--पृथ्वी बहुत से जनों को धारण करती है जो पृथक धर्मों के मानने वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलने वाले हैं। जगत ही नहीं वस्तु तक नाना धर्मात्मक होती है। पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकधर्मात्मक है, एक धर्म रूप प्रमाणित नहीं होता। तो, जगत और पदार्थों के नानात्व को मिटाया नहीं जा सकता।

नाना धर्म रहेंगे और नाना जन रहेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उनमें आपस में प्रेमभाव हो। वह सहिष्णुता से उत्पन्न होता है। इस संदर्भ में महात्मा गान्धी का कथन दृष्टव्य है, "इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है कि सबका धर्म एक बना दिया जाये, बल्कि इस बात की है कि भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदरभाव और सहिष्णुता रक्खें। हम सब धर्मों को मृतवत् एक सतह पर लाना नहीं चाहते बल्कि चाहते हैं कि विविधता में एकता हो। हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म-विषयक प्रेम अन्ध-प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य-दर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है।"[59] किन्तु यह समभाव और सहिष्णुता कैसे उत्पन्न हो ? उसका एकमात्र उत्तर है —अनेकांत। आज उसकी बहुत अधिक आवश्यकता है। उसे समय के अनुरूप रचनात्मक रूप दिया जा सकता है, किन्तु शास्त्रीय परिवेश से निकाल कर ही।

अनेकांत के सम्बन्ध में डॉ० मंगलदेवशास्त्री का कथन है, "प्रत्येक तत्व में अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैन दर्शन की परिभाषा में अनेकांत कहा गया है। जैन दर्शन का तो यह आधार स्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए।"[60] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा कि सारे नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्व रखता है। जैन दर्शन के अनेकांत का महत्व इसी आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का सम्मान निहित है। जहां व्यक्तित्व का समादर होता है, वहां स्वभावतः साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं रह सकती।

अन्यत्र उनका विचार है कि अनेकान्त और अहिंसा में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने लिखा, "विचार-जगत् का अनेकांत दर्शन ही नैतिक जगत् में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसीलिये जहाँ अन्य दर्शनों में परमत-खण्डन पर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकांत सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थिति-मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है।"[61]

अपरिग्रहवाद श्रमण संस्कृति का ऐसा सिद्धान्त है, जो आज के युग के लिये भी अनिवार्य है। जहाँ कार्लमार्क्स का साम्यवाद मानव की विषमताओं का भौतिकवादी समाधान है; वहाँ अपरिग्रहवाद आध्यात्मिकता के आधार पर विषमताओं को सहज स्वाभाविक ढंग से नकार देता है। एक बाह्य है, दूसरा आन्तरिक। एक हलका है, दूसरा ठोस। एक में पूंजीपतियों को कोई स्थान नहीं, दूसरे में है। दूसरा मानव के प्रत्येक वर्ग और उसके स्वतन्त्र विचारों का समादर करता है। उसमें सबको स्थान है। वह साम्यवाद और साम्यवादियों की भाँति दूसरों के विचारों पर लदता नहीं।

अपरिग्रहवाद, अ+परिग्रह से बना है। परिग्रह न करना इसका अर्थ है। परिग्रह का अर्थ है धन, जमीन और विभिन्न भौतिकवादी वस्तुओं का संग्रह। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने स्त्री को भी परिग्रह माना था। इसी कारण अपरिग्रहवाद में स्त्री-त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक था। अर्थात् अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य अन्तर्भुक्त था। किन्तु उसे समझदार ही समझ पाते थे। महावीर के युग तक आते-आते यह समझदारी नितांत समाप्त हो चली थी अतः समय देख कर ही महावीर ने ब्रह्मचर्य का स्पष्ट और पृथक उपदेश दिया। अर्थात् पार्श्वनाथ के अपरिग्रह का ही एक अंश आगे चलकर ब्रह्मचर्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

किन्तु, प्रश्न तो यह है कि जिस आदमी के पास जितनी अधिक स्त्रियाँ, धन-दौलत और राज्य-साम्राज्य होता था, वह उतना ही अधिक पुण्यवान माना जाता था, सम्मानास्पद होता था—जैसे 'चक्रवर्ती'। दूसरी ओर जैन धर्म का कथन है कि अपरिग्रह के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। फिर इस विरोधाभास का समाधान क्या है? वास्तविकता यह है कि संग्रह और संग्रह की भावना दो भिन्न बातें हैं। यदि परिग्रह करते हुए भी कोई उसके प्रति अनासक्त रहता है तो वह परिग्रही नहीं कहलायेगा। भरत के सहस्रशः सुन्दर रानियाँ और सागर-पर्यन्त पृथ्वी का राज्य था, किन्तु उनके प्रति नितांत अनासक्त होने के कारण वे घर में ही वैरागी कहलाते थे। जैन इतिहास में ऐसे सहस्रशः दृष्टान्त हैं, जबकि कोई राजा-महाराजा अपने भरे वैभव, भरे परिवार और भरे सैन्यबल को तृणवत् त्याग कर जंगल की राह लेता था। यहाँ उसके जीवन-भर के संकलन-संग्रह के प्रति अनासक्त भाव ही था। धन-सम्पत्ति हो और उसके प्रति गहरी आसक्ति तथा चिपकन हो तो, वह संघर्षों को जन्म देगी और वैषम्य तथा वर्गभेद उत्पन्न करेगी ही। कोई रोक नहीं सकता। यदि ऐसा न हो, अर्थात् आसक्ति न हो तो विषमताएं जन्म ही न ले पायेंगी। फिर वर्ग-भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। भेद तो रहता आया है, आगे भी रहेगा, मिटाया नहीं जा सकता, किन्तु सुख-दुख बराबर बांटे जा सकते हैं और उन्हीं का बांटा जाना मुख्य है। अपरिग्रहवाद का मूल रहस्य यही है।

---

1. देखिए त्रिलोकसार 792–793,
2. महापुराण, भगवज्जिनसेनाचार्य, 3/164.
3. शाश्वतकोष, 508.
4. मेदिनीकोश, भ वर्ग 5.
5. देखिए श्रीमद्भागवत् 5/7/3.
6. स्कन्दपुराण, 1/2/37/55.
7. 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप', डा० अवधबिहारीलाल अवस्थी, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, सन् 1964, पृष्ट 123, परिशिष्ट 2.
8. मार्कण्डेयपुराणः सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाद-टिप्पण संख्या 1, पृष्ठ 138.
9. अमरकोष 3/5/20.
10. सूरसागर, पंचम स्कंध, पृष्ठ 150-51.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. श्रीमद्भागवत्, 5/3/20.

12. वही, 5/4/14.

13. श्रीमद्भागवत्, 5//5/19.

14. वही, 1/17/22.

15. पुरुदेवचम्पू, 5/31.

16. सुप्रभातस्तोत्र

17. महाभारत, शान्तिपर्व, 12/64/20.

18. महापुराण, 42/6.

19. ब्रह्माण्डपुराण, 2/14.

20. आदिपुराण, 16/243.

21. स्वयम्भू स्तोत्र, 1/3.

22. स्वयम्भू स्तोत्र, 23/3.

23. महापुराण, 16/264.

24. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ 152.

25. आवश्यक निर्युक्ति, गा० 186.

26. स्वयम्भू स्तोत्र, 1/2.

27. ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसङ्गते।
प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते॥

हरिवंशपुराण, 9/217.

28. महापुराण, 16/104–109.

29. महापुराण, 16/118.

30. महापुराण, 16/119–25.

31. महापुराण, 16/242–46.

32. "इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिः ऋषभः"

—श्रीमद्भागवत्, 5/6/64.

33. "वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनां।"

—श्रीमद्भागवत्, 5/3/20.

34. तत्वार्थसूत्र, 10/5.

35. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/32.

36. शांकरभाष्य (बृहदा० 4/3/32).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

37. ब्रह्मोपनिषद्, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 151, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

38. ऋग्वेद, 10/8/94/11

39. हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 9/217.

40. हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 12/42.

41. शाकटायनव्याकरण, चिंतामणिटीका 1.

42. स्वयम्भू स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, 1/4

43. स्वयम्भू स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, 23/3.

44. 'भारतीय संस्कृति का विकास; औपनिषद्धारा', डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृष्ठ 180.

45. 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म', पं० सुन्दरलाल, पृष्ठ 22.

46. 'उड़ीसा में जैनधर्म', ग्रन्थ प्रवेश, डा० नीलकंठदास, पृष्ठ 6.

47. भगवद्गीता 2/56.

48. 'भारतीय संस्कृति का विकास: औपनिषद् धारा', पृष्ठ 180.

49. 'भारतीय संस्कृति की परम्परा', बाबू गुलाबराय जी, पृष्ठ 66.

50. 'भारतीय दर्शन', बाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 86.

51. 'भारतीय इतिहास और संस्कृति', विशुद्धानन्द पाठक, पृष्ठ 199-200.

52. 'संस्कृति के चार अध्याय', रामधारीसिंह दिनकर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 39.

53. 'Studies in Science of Comparative Religions', Page 13–15.

54. 'जैनधर्म की प्राचीनता पर महत्वपूर्ण सम्मतियाँ', पृष्ठ 1.

55. 'जैनदर्शन', पं० महेन्द्र कुमार जैन, वर्णी जैनग्रंथमाला, काशी, प्राक्कथन, डॉ० मंगलदेव शास्त्री लिखित, पृष्ठ 16.

56. 'जैन इतिहास पर लोकमत', मुनिश्री विद्यानन्द जी सम्पादित, पृष्ठ 31

57. महाभारत, वनपर्व, 131/11.

58. देखिए अथर्ववेद, 12/1/45.

59. गांधीवाणी, पृष्ठ 100–101.

60. जैनदर्शन, द्वि०सं० 1966, प्राक्कथन, पृष्ठ 14.

61. वही, पृष्ठ 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु के पश्चात् क्या घटित होता है यह एक रहस्य है। ब्रह्मवादी सबको ब्रह्म स्वरूप और ब्रह्म में लीन होना ही प्राप्य समझते हैं तो कुछ इसे ब्रह्म और माया के खेल मानते हैं। कोई आत्मस्वरूप की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य निर्धारित करते हैं। कोई इस सृष्टि का नियन्ता ईश्वर को मानते हैं तो कोई उसका खण्डन करते हैं। फलस्वरूप सबके रहस्य अलग-अलग हैं किन्तु इस अनेकता में भी एक अद्भुत एकता है। सभी इस जन्म-मरण के चक्कर से छूट मुक्तिलाभ करना चाहते हैं। सभी मानव जन्म को दुर्लभ मानते हुए अपने इष्ट की प्राप्ति के प्रयत्न में इसे लगा देने की सलाह देते हैं। रहस्यवादी कवि प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय में हुए हैं। जैन कवि भी किसी हालत में उनसे पीछे नहीं हैं। किन्तु हिन्दी संसार के सामने आज भी उनका मूल्यांकन होना बाकी है। वास्तव में जैनों की अवस्था उस व्यक्ति की सी है जिसके पल्ले में लाल है मगर वह उसका मूल्य और महत्व नहीं जानता।

—पोल्याका

सगुण भक्तों की रहस्यभावना

● डा० पुष्पलता जैन
ए. ए. (हिन्दी व भाषा विज्ञान), Ph. D.
न्यू एक्सटेन्सन एरिया
सदर, नागपुर

सगुण साधकों में मीरा, सूर और तुलसी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मीरा का प्रेम नारी सुलभ समर्पण की कोमल भावना गर्भित 'माधुर्य भाव' का है जिसमें अपने इष्टदेव की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है। उनका कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं, वे तो मात्र भक्ति की साकार भावना की प्रतीक हैं, जिसमें चिरन्तन प्रियतम के पाने के लिए मधुर प्रणय का मार्मिक स्पन्दन हुआ है। "म्हारो तो गिरधर गोपाल और दूसरा न कोई" अथवा "गिरधर से नवल ठाकुर मीरां सी दासी" जैसे उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने गिरधर कृष्ण को ही अपना परम साध्य और प्रियतम स्वीकार किया है। सूर, नन्ददास आदि के समान उन्हें किसी राधा की आवश्यकता नहीं हुई। वे स्वयं राधा बनकर आत्मसमर्पण करती हुई दिखाई देती हैं। इसलिए मीरा की प्रेमाभक्ति पराभक्ति है जहाँ सारी इच्छायें मात्र प्रियतम गिरधर में केन्द्रित हैं। सख्यभाव को छोड़कर नवधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्ति के सभी अंग भी उनके काव्य में मिलते हैं। एकादश आसक्तियों में से कान्तासक्ति, रूपासक्ति और तन्मयासक्ति विशेष द्रष्टव्य है। प्रयत्त भावना उनमें कूट-कूटकर भरी हुई है। उनकी आत्मा दीपक की उस लौ के समान है जो अनन्त प्रकाश में मिलने के लिए जल रही है।

सूफी कवियों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा के रूप में की है। उनके अद्वैतवाद में निजी सत्ता को परमसत्ता में मिला देनी की भावना गर्भित है। कबीर ने परमात्मा की उपासना प्रियतम के रूप में की पर उसमें उतनी भाव-व्यञ्जना नहीं दिखाई देती जो मीरा के स्वर में निहित है। मीरा के रंग-रंग में पिया का प्रेम भरा हुआ है जबकि कबीर समाज सुधार की ओर अधिक अग्रसर हुए हैं।

मीरा की भावुकता चीरहरण और रास की लीलाओं में देखी जा सकती है जहां वे "आज अनारी ले गयी सारी, बैठी कदम की डारी, म्हारे गेल पड़्यो गिरधारी" कहती हैं। प्रियतम के मिलन हो जाने पर मीरा के तन की ताप मिट जाती है और सारा शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो उठता है—

म्हाँरी ओलगिया घर आया जी,
तनकी ताप मिटी सुख पाया,
हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया,
यूँ आणन्द आया जी।
मगन भई मिली प्रभु अपणाँसूँ,
भौ का दरद मिटाया जी॥
चंद को देखि कमोदणि फूलै,
हरखि भया मेरी काया जी।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी,
हरि मेरे महल सिधाया जी॥
सब भगतन का कारज कीन्हा,
सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीरा विरहणि सीतल होई,
दुख दुन्द दूर नसाया जी॥

मीरा की तन्मयता और एकाकारता के दर्शन 'लगी मोहि राम खुमारी हो' में मिलते हैं जहां वह 'सदा लीन आनन्द' में रह कर ब्रह्मरस का पान करती हैं। उनका ज्ञान और अज्ञान, आनन्द और विषाद एक में ही लीन हो जाता है। इसी के लिए तो उन्होंने पचरंगी चोला पहिनकर झिरमिट में आंखमिचौनी खेली है और मनमोहन से सोने में सुहागा-सी प्रीति लगायी है। बड़े भाग से मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मीरा पर रीझे हैं।

इसी माधुर्य भाव में मीरा की चुनरिया प्रेम-रस की बूंदों से भीगती रही और आरती सजाकर सुहागिन प्रिय को खोजने निकल पड़ी। उसे वर्षात् और बिजली भी नहीं रोक सकी। प्रिय को खोजने में उसकी नींद भी हराम हो गई, अंग-अंग व्याकुल हो गये पर प्रिय की वाणी की स्मृति से "अन्तर वेदन विरह की वह पीड़ न जानी" गई। जैसे चातक घन के बिना और मछली पानी के बिना व्याकुल रहती है वैसे ही मीरा "व्याकुल विरहणी सुध बुध विसरानी" बन गई। उसकी पिया सूनी सेज भयावन लगने लगी, विरह से जलने लगी।[1] यह निर्गुण की सेज एक ऊंची अटारी पर है, उसमें लाल किवाड़ लगे हैं, पंचरंगी झालर लगी है, मांग में सिन्दूर भरकर सुमिरण का थाल हाथ में लेकर प्रिया प्रियतम के मिलन की बाट जोह रही है—

ऊंची अटरिया लाल किवड़िया,
निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहे,
फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहै,
मांग में सिन्दूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोभा अधिक भली ।
सेज सुखमणां मीरा सोवै,
सुभ है आज घड़ी।[2]

जिनका प्रियतम परदेश में रहता है उन्हें पत्रादि के माध्यम की आवश्यकता होती है पर मीरा का प्रिय तो उसके अन्तःकरण में ही बसता है, उसे पत्रादि लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती । सूर्य, चन्द्र आदि सब कुछ विनाशीक है यदि कुछ अविनाशी है तो वह है प्रिय परमात्मा, सुरति और निरति के दीपक में मन की बाती और प्रेम-हटी के तेल से उत्पन्न होने वाली ज्योति अक्षुण्ण रहेगी---

जिनका पिया परदेश बसत है,
लिख लिख भेजें पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है,
ना कहूं आती जाती ।।
चन्दा जायगा सूरज जायगा,
जायगा धरणि अकासी ।
पवन पानी दोनों हूं जांयगे,
अटल रहै अविनाशी ।।
सुरत निरत का दिवला संजोले,
मनसा की कर ले बाती ।
प्रेम हटी का तेल मंगाले,
जग रह्या दिन से राती ।।
सतगुरु मिलिया संसा भाग्या,
सैन बताई सांची ।
ना घर तेरा ना घर मेरा,
गावै मीरा दासी ।।[3]

डॉ० प्रभात ने मीरा की रहस्य भावना के सन्दर्भ में डॉ० शर्मा और डॉ० द्विवेदी के कथनों का उल्लेख करते हुए अपना निष्कर्ष दिया है । निर्गुण भक्त बिना बाती, बिना तेल के दीप के प्रकाश में पारब्रह्म के जिस खेल की चर्चा करता है, वह मूलतः सगुण भक्तों की 'हरि लीला' से विशेष भिन्न नहीं है । डॉ० मुन्शीराम शर्मा ने वेद, पुराण, तन्त्र और आधुनिक विज्ञान के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि 'हरि लीला आत्म-शक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं का चित्रण है ।'[4] राधा, कृष्ण, गोपी आदि सब अन्तः शक्तियों के प्रतीक हैं । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का निष्कर्ष है कि "रहस्यवादी कविता का केन्द्रबिन्दु वह वस्तु हैं जिसे भक्ति साहित्य में 'लीला' कहते हैं । यद्यपि रहस्यवादी भक्तों की भांति पद-पद पर भगवान का नाम लेकर भाव-विह्वल नहीं हो जाता परन्तु वह मूलतः है भक्त ही । ·······ये भगवान अगम अगोचर तो हैं हीं, वाणी और मन के भी अतीत हैं, फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रति-दिन प्रतिक्षण देखता रहता है ····संसार में जो कुछ घट रहा है और घटना सम्भव है, वह सब उस प्रेममय की लीला है ··· भगवान के साथ यह निरन्तर चलने वाली प्रेम केलि ही रहस्यवादी कविता का केन्द्रबिन्दु है ।[5] अतः मीरा की प्रेम-भावना में 'लीला' के इस निर्गुणत्व-निराकारत्व तक और कदाचित् उससे परे भी प्रसारित सरस रूप का स्फुरण होना अस्वाभाविक नहीं है । आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करने वाले की दृष्टि से यह यथार्थ है, सत्य है । पश्चिम के विद्वानों के अनुकरण पर इसे 'मिस्टिसिज्म' या रहस्यवाद कहना अनुचित है । यह केवल रहस् (आनन्दमयी लीला) है और मीरां की भक्ति-भावना में इसी 'रहस्' का स्वर है ।[6]

सूर और तुलसी दोनों सगुणोपासक हैं पर अन्तर यह है कि सूर की भक्ति सख्य भाव की है और तुलसी की भक्ति दास्य भाव की । इसी तरह मीरा की भक्ति भी सूर और तुलसी, दोनों से पृथक् है । मीरा ने कान्ताभाव को अप-नाया है । इन सभी कवियों की अपेक्षा रहस्य-भावना की जो व्यापकता और अनुभूतिपरकता जायसी में है वह अन्यत्र नहीं मिलती । कबीर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्गुण अथवा सगुण के घेरे में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने यद्यपि निर्गुणोपासना अधिक की है पर सगुणोपासना की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। उनका उद्देश्य परिपूर्ण ज्योति रूप सत्पुरुष को प्राप्त करना रहा है।"[7]

सूर की मधुर भक्ति के सम्बन्ध में डॉ० हरवंशलाल शर्मा के विचार दृष्टव्य हैं--"हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्रीभाव को तो प्रधानता दी है परन्तु परकीया की अपेक्षा स्वकीया भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्टता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसीलिए उनकी प्रीति को काम रूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है जिसका प्रतिनिधित्व गोपियां करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक-रूप है। आत्मसमर्पण और अनन्यभाव मधुर भक्ति के लिए आवश्यक है जो सूरसागर की दान लीला, चीरहरण और रास लीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं।[8]

सगुणोपासना में रहस्यात्मक तत्वों की अभिव्यक्ति इष्ट के साकार होने के कारण उतनी स्पष्ट नहीं हो पाती। कहीं-कहीं रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन अवश्य मिल जाते हैं। सूर ने प्रेम की व्यंजना के लिए प्रतीक रूप में प्रकृति का वर्णन रहस्यात्मक ढंग से किया है। जो उल्लेखनीय है—

चलि सखि तिहि सरोवर जाहि।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहि।
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहां चुनि चुनि खाहिं।[9]

सूर की अन्योक्तियों में कहीं-कहीं रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन होते हैं—

चकई री चल चरन सरोवर, जहां न मिलन बिछोह।

एक अन्य स्थान पर भी सूर ने सूरसागर की भूमिका में अपने इष्टदेव के साकार होते हुए भी उसका निराकार ब्रह्म जैसा वर्णन किया है--

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को,
रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबहीं सु निरन्तर,
अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर,
सो जानै जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु
निरालंब मन धावै।
सब विधि अगम विचारहि तातें
सूर सगुन पद पावै॥[10]

सूर के गोपाल पूर्ण ब्रह्म हैं। मूल रूप में वे निर्गुण हैं पर सूर ने उन्हें सगुण के रूप में ही प्रस्तुत किया है। यद्यपि सगुण और निर्गुण, दोनों का आभास मिल जाता है।

तुलसी भी सगुणोपासक हैं पर सूर के समान उन्होंने भी निर्गुण रूप को महत्व दिया है। उनको भी केशव का रूप अकथनीय लगता है—

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि !
समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं,
तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुख पाइग्र एहि तनु हेरे ॥
रविकर-नीर बसै ग्रति दारुन,
मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर,
पान करन जे जाहीं ।
कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोउ,
जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम,
सो ग्रापन पहिचानै ।[11]

तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी अपने ग्राराध्य को किसी निर्गुणोपासक रहस्यवादी साधक से कम रहस्यमय नहीं बतलाते । रामचरित मानस में उन्होंने लिखा है—

"ग्रादि ग्रन्त कोउ जासु न पावा ।
मति ग्रनुमानि निगम जस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥"

इस प्रकार सगुणोपासक कवियों में मीरां को छोड़कर प्रायः ग्रन्य कवियों में रहस्यात्मक तत्वों की उतनी गहरी ग्रनुभूति नहीं दिखाई देती । इसका कारण स्पष्ट है कि दाम्पत्यभाव में प्रेम की जो प्रकर्षता देखी जा सकती है वह दास्य भाव ग्रथवा सख्य भाव में सभव कहाँ ? इसके बावजूद उनमें किसी न किसी तरह साध्य की प्राप्ति में उनकी भक्ति सक्षम हुई है ग्रौर उन्होंने परम ब्रह्म की ग्रनिर्वचनीयता का ग्रनुभव किया है ।

सगुण रहस्य भावना ग्रौर जैन रहस्य भावना—

जैसा हम पीछे देख चुके हैं सगुण भक्तों ने भी ब्रह्म को प्रियतम मानकर उसकी साधना की है । जैन भक्तों ने भी सकल परमात्मा का वर्णन किया है जो सगुण ब्रह्म का समानार्थक कहा जा सकता है । मीरा में सूर ग्रौर तुलसी की अपेक्षा रहस्यानुभूति ग्रधिक मिलती है । इसका कारण है कि सूर ग्रौर तुलसी का साध्य प्रत्यक्ष ग्रौर साकार रहा । मीरा का भी, परन्तु सगुण भक्तों में कान्ता भाव मीरा में ही देखा जाता है इसलिए प्रेम की दीवानी मीरा में जो मादकता है वह न तो सूर में है ग्रौर न तुलसी में ग्रौर न जैन कवियों में । यह ग्रवश्य है कि जैन कवियों ने ग्रपने परमात्मा की निर्गुण ग्रौर सगुण, दोनों रूपों की विरह-वेदना को सहा है । एक यह बात भी है कि मध्यकालीन जैनेतर कवियों के समान हिन्दी जैन कवियों के बीच-निर्गुण ग्रथवा सगुण भक्ति शाखा की सीमा-रेखा नहीं खिची । वे दोनों ग्रवस्थाओं के पुजारी रहे हैं क्योंकि ये दोनों ग्रवस्थायें एक ही ग्रात्मा की मानी गई हैं । उन्हें ही जैन पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध ग्रौर ग्रर्हन्त कहा गया है ।

मीरा की तन्मयता ग्रौर एकाकारता बनारसीदास ग्रौर ग्रानन्दघन में ग्रच्छी तरह से देखी जाती है । रहस्य साधना के बाधक तत्वों में माया, मोह ग्रादि को भी दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकार किया है । साधक तत्वों में से इन भक्तों में भक्ति तत्व की प्रधानता ग्रधिक रही है । भक्ति के द्वारा ही उन्होंने ग्रपने ग्राराध्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है । यही उनकी मुक्ति का साधन रहा है ।

साधना का पथ सुगम बनाने ग्रौर सुझाने के सन्दर्भ में जैन एवं जैनेतर सभी सन्तों ग्रौर भक्तों ने गुरु की महिमा का गान किया है । मीरा के हृदय में कृष्ण प्रेम की चिनगारी बचपन से ही विद्यमान थी । उसको प्रज्ज्वलित करने का श्रेय उनके गुरु रैदास को है जो एक भावुक भक्त एवं प्रेमी सन्त थे । मीरां के गुरु रैदास होने में कुछ समालोचक सन्देह व्यक्त करते हैं । जो भी हो, मीरा के कुछ पदों में जोगी का उल्लेख मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोई।[12]–जैन साधकों ने भी मीरां के समान गुरु (सद्गुरु) की महत्ता को साधना का मार्ग प्रशस्त बनाने के सन्दर्भ में अभिव्यंजित किया है। अन्तर मात्र प्रेम की चिनगारी प्रज्ज्वलित करने का है।[13] मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का है जिसमें कृष्ण की उपासना प्रियतम के रूप में की है। इससे अधिक सुन्दर सम्बन्ध की कल्पना हो भी नहीं सकती। विरह और मिलन की जो अनुभूति और अभिव्यक्ति इस माधुर्यभाव में खिली है वह सख्य और दास्य भाव में कहां। इसलिए मीरां के समान ही जैन कवियों ने दाम्पत्यमूल भाव को ही अपनाया है। मीरा प्रियतम के प्रेम रस में भीगी चुनरिया को ओढ़कर साज शृंगार करके प्रियतम को ढूंढने जाती हैं उनके विरह में तड़पती है। इस सन्दर्भ में बारहमासे का चित्रण भी किया गया है। सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज सजा रही है परन्तु मीरां को प्रियतम का वियोग खल रहा है। आखिर प्रियतम से मिलन होता है। वह तो उसके हृदय में ही बसा हुआ है वह क्यों यहां वहां भटके। यह दृढ़ विश्वास उसे हो जाता है। उस अगम देश का भी मीरा ने मोहक वर्णन किया है।

जैन साधकों की आत्मा भी मीरां के समान अपने प्रियतम के विरह में तड़पती है।[14] भूधरदास की राजुल रूप आत्मा अपने प्रियतम नेमिश्वर के के विरह में मीरां के समान ही तड़पती है।[15] इसी सन्दर्भ में मीरा के समान बारहमासों की भी सर्जना हुई है।[16] प्रियतम से मिलन होता है और उस आनन्दोपलब्धि की व्यंजना मीरां से कहीं अधिक सरल बन पड़ी है।[17] सूर और तुलसी यद्यपि मूलतः रहस्यवादी कवि नहीं हैं फिर भी उनके कुछ पदों में रहस्यभावनात्मक अनुभूति झलकती है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

इस प्रकार सगुण भक्तों की रहस्य भावना जैन धर्म की रहस्य भावना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। जो अन्तर भी है, वह दार्शनिक पक्ष की पृष्ठभूमि पर आधारित है। साधारणतः मुक्ति के साधक और बाधक तत्वों को समान रूप से सभी ने स्वीकार किया है। संसार की असारता और मानव जन्म की दुर्लभता से भी किसी को इन्कार नहीं। प्रपत्ति भावना गर्भित दाम्पत्यमूलक प्रेम को भी सभी कवियों ने हीनाधिक रूप से अपनाया है। परन्तु जैन कवियों का दृष्टिकोण सिद्धान्तों के निरूपण के साथ ही भक्तिभाव को प्रदर्शित करता रहा है। इसलिए जैनेतर कवियों की तुलना में उनमें भावुकता के दर्शन उतने अधिक नहीं हो पाते। फिर भी रहस्य भावना के सभी तत्व उनके काव्य में दिखाई देते हैं। तथ्य तो यह है कि दर्शन और अध्यात्म की रहस्य-भावना का जितना सुन्दर समन्वय मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों के काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। साहित्य-क्षेत्र के लिए उनकी यह एक अनुपम देन मानी जानी चाहिये।

---

1. भींजें चुनरिया प्रेमरस बून्दन।
   आरत साजकै चली है सुहागिन पिय पिय अपने को ढूंढन॥
   मीरा की प्रेम साधना, पृ० 218
2. वही, पृ० 222
3. मीरा पदावली, पृ० 20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. भारतीय साधना और सूरदास, पृ० 208

5. साहित्य का साथी, पृ० 64

6. मीरांबाई, पृ० 405

7. वेद कहे सरगुन के आगे निरगुण का बिसराम।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहिं निजधाम।
सुख दुख वहा कछू नहीं व्यापै, दरसन आठों जाम।
नूरै ओढ़न नूरै डासन, नूरै का सिरहान।
कहै कबीर सुनो भई साधो सतगुरु नूर तमाम ॥
कबीर— डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 275

8. सूर और उनका साहित्य, पृ० 245

9. सूरसागर, 339

10. वही, स्कन्द 1, पद 2

11. विनयपत्रिका, 111वां पद

12. जोगिया कहां गया नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया बिसवास संघाती प्रेम की बाती बराय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई ॥
मीरा की प्रेम साधना, पृ० 168

13. दिन दिन महोत्सव अति घृणा, श्री संघ भगति सुहाइ।
मन सुद्धि श्री गुरुसेवी यह, जिणि सेव्यइ शिव सुख पाइ ॥
जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह—कुशल लाभ- 53वां पद।

14. अध्यात्म गीत, बनारसी विलास, पृ० 159–60

15. भूधरविलास, 45वां पद पृ० 25

16. कवि विनोदीलाल–बारहमासा संग्रह, कलकत्ता, 42वां पद्य, पृ० 24; लक्ष्मीवल्लभ नेमि–राजुल बारहमासा, पहला पद्य

17. आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल बम्बई, चौथा पद, पृ० 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म शान्ति को छू न सकेंगी नभ छूती उल्काएँ

कविवर श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि' रामपुर।

रत्न-जड़ित, चन्दन मण्डित, सिंहासन झटकाते हैं
जो इनके स्वामी हैं, आत्मिक-शान्ति वही पाते हैं
चिर अतृप्त तृष्णा के पथ पर चरण फिसल जाते हैं
यही जन्म जन्मातर, भव भव में चक्कर खाते हैं

इन माया-मरीचिकाओं में गर्भित दुर्घटनाएँ
सन्मति के सन्देशों में, बहती सुख की सरिताएँ

(2)

निर्धन धन की चमक देखकर, धन पर ललचाता है
किन्तु न धन का कुटिल, भीतरी रूप समझ पाता है
धन का चक्र-व्यूह, ईर्ष्या, तृष्णा को जन्माता है
शान्ति, प्रेम, विश्वास, धनी से दूर चला जाता है

मन पर जमे कोहरों की, परतें तत्काल हटाएँ
सन्मति के सन्देशों में बहती सुख की सरिताएँ

(3)

दर्प, श्रेष्ठता घमण्ड, संतुलन नहीं देते हैं
चर्चित-मानवीयता को, यह बरबस हर लेते हैं
जो एकाधिकार पर रीझे कभी नहीं चेते हैं
वही सफल हैं जो असफल की नैया को खेते हैं

मानवता को अपनाएं भेड़ियावाद ठुकरायें
सन्मति के सन्देशों में बहती सुख की सरिताएँ

(4)

त्याग-तपस्या मय जीवन के पथ में शूल नहीं है
राजनीति का ताण्डव, आत्मा के अनुकूल नहीं है
काम वासनाओं में मिलता, शिव का कूल नहीं है
फल, वह वृक्ष नहीं देता, जिसका जड़मूल नहीं है

आत्म शान्ति छू को न सकेंगी नभ छूती उल्काएँ
सन्मति के सन्देशों में बहती सुख की सरिताएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक इतिहास का विद्वान् नहीं हैं। अपने सीमित ज्ञान और साधनों के बल पर उसने इसे बहुत कम समय में तैयार किया है। लेखक खण्डेलवाल है और अपनी जाति के इतिहास से परिचित होने की उसकी स्वाभाविक इच्छा है। लेखक की दृष्टि में खण्डेलवालों से सम्बन्धित ऐसी सामग्री है जिसका प्रयोग करके 20X30/8 के आकार के कम से कम 2000 पृष्ठों का इतिहास तो तैयार किया ही जा सकता है लेकिन सहयोग और प्रेरणा शर्त है। जयपुर के कई मन्दिरों में पैसा है और ऐसे क्षेत्रों के कार्यालय हैं जो खण्डेलवालों के हाथ में हैं, जिनकी लाखों रुपया वार्षिक की आय है, लेकिन वे या तो मन्दिरों में सोना मंढवाते हैं या अनावश्यक इमारतें बनाते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण कार्य के लिए उनके पास पैसा नहीं है। वे या तो इसका महत्व नहीं जानते या उन्हें आपसी झगड़ों से ही फुरसत नहीं है। अस्तु, विद्वानों से हमारा निवेदन है कि वे लेखक का त्रुटियों की ओर ध्यान दिलावें। एतदर्थ उनका आभार और सुझावों का स्वागत होगा इसी पवित्र भावना के साथ—

—पोल्याका

खण्डेलवाल श्रावकों की उत्पत्ति

❀ भंवरलाल पोल्याका,
जैनदर्शनाचार्य, साहित्य शास्त्री,
जयपुर।

खण्डेलवाल श्रावक जिन्हें 'सरावगी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है, जैनों की एक बहुत महत्वपूर्ण जाति है, न केवल संख्या की दृष्टि से ही इसका महत्व है अपितु, बड़े बड़े त्यागी तपस्वी श्रीमान् धीमान् इस जाति में हुए हैं और वर्तमान में हैं। राजनीतिज्ञों में भी संख्या की दृष्टि से इसका प्रतिशत अधिकतर ही निकलेगा। खेद है कि ऐसी जाति के इतिहास लेखन का आज तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया। जाति के इतिहास का अपना एक महत्व है। वह घटनाओं द्वारा हमारे में हेयोपादेय का भेदविज्ञान जागृत करता है। जैनों की अन्य जातियों ने अपने अपने छोटे बड़े इतिहास प्रकाशित किए हैं किन्तु खण्डेलवाल श्रावक जाति का इस ओर कभी कोई प्रयत्न या तो हुआ ही नहीं या हुआ तो सम्वत् आदि का घटना विशेष से तारतम्य न बैठने के कारण उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़ दिया गया। बड़े बड़े विद्वानों ने यहां तक लिखने का साहस किया कि पुराने गुटकों इत्यादि में जो खण्डेलवाल जैनों की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त होती है इतिहास से वह प्रमाणित नहीं होती अतः अविश्वसनीय तथा कपोलकल्पित है।

हमारे पास सम्वत् 1879 के साल में लिखा हुआ 5.8"×5.8 की साइज की सांगानेरी कागज पर लिखी हुई एक पुस्तक है जिसके प्रत्येक पृष्ठ में 16 पंक्तियां हैं। पृष्ठ के दोनों ओर '7" का हासिया छोड़ा गया है। कुल 15 पृष्ठ हैं जिसमें अन्तिम पृष्ठ का बांयी ओर का भाग खाली है। इसके पृष्ठों पर काली स्याही गिर गई है फिर भी अक्षर पढ़ने में आते हैं। इसके खण्डेलवालों के उत्पत्ति सम्बन्धी प्रारम्भिक अंश इस प्रकार हैं—

'श्री वीतरागाय नमः अथ चोरासी जाति लिखते। सहर खेडेलो खंडेलगिर चोहान खडेल..............न्याति मैं आधी मैं तो खंडेलवाल ब्रीह्मण।। आधी मैं खंडेलवाल महाजन।। ती आधी मैं खंडेलवाल महश्री।। आधी मै खडेलवाल श्रावक ती श्रावका को वोरो कहूं छुं।। सहर खंडेलो खंडेलगिर चोहाम राज करै ति सहर कोस 22 का फेर मैं बसै।। अर कोडी धज कोट मै बाईस हजार बसै 22000 अर नो सै देहरा जैन का 900 कस्म मलवाइ धकल हूवो अधिको। तब राजा पण्डितां नै बुलाइ बुझो जो दिखल कदि मिटै। तदि पंडिता कही बारा बरस ताईं रहसी। तब राजा कही प्रजा छीजि जासी।। कोइ पुन्य को उपाय करो तदि ब्राह्मण कही ज नरमेद जग्य करो।। राजा कही कुण ग्रह।। तदि ब्रामण कही ज येक सो येक 101 आदमी होमिजे।। तदि होम की तयारी करि राखी सो दई जोग करि जती 500 नगन मुद्रा धार्या न जग्रापड्या।। जत्या को अखाडो बाग मै आइ उतरो। तदि पंडितां राजा का बीना हूकम एक सो येक 101 जती होम्या।। तदि पाप करि सहर मैं मलवाइ घणी हुई। गरीब घणा छीज्या। सतरा हजार तो 17000 कोडी धज मूवात्या को पाणी देवो न रही।। तत्र भाग नगर सु भटारक अपराजित पदांकित नामा जसोभद्रजी जिनसेनजी चेला नै बीदा कीयो।। जो खडेले घणो पाप हूवो।। सहर खाली ह्वै सी सो थे जाय पाप काटो सहर बचै।। सो जिनसेनजी आदिपुराण का करता छै। सो श्री भटारकजी का भेज्या जिनसेनजी खंडेले आव्या।। सो म्हाजन सहर का छा त्याने जुदो ही गुढो करि दे अर देवी चक्रेश्वरी आराधि करि रख्या दीनी।। यों करि जती म्हाजन छा सो सारा वच्या येता ही मै खंडेलगिर चोहाण राजा छो ती कै गोल नीकली।। राजा मरवा समान हूवो।। तब राजलोक रणवास छो त्या घणो ही जतन कीयो सो न लाग्यो।। तब राजा नै जती नखै म्हाजना का गुडा में ले गया।। सो जती को दरसण करता ही नीका हूवो।। सावधान हूवो।। अर जती न राजा बुझी जो येती प्रजा छीजी सो सबब काई तब जिनसेनजी कही जो जतीश्वरा को होम हूवो छो तीको सारो बोरो कहो।। जो पंडिता करि जग मैं मोटो पाप हूवो थे राजा जाणो नहीं।। ती करि येतो सहर मैं दखल हूवो।। तब राजा कही अब असो उपदेस दो ती करि म्हारो पाप कटै अर सहर वसतो होय।। तब राजा नै जिनसेनजी जैन उपदेस दीवो राजा कबूलि कीयो रजपूत राह छोडि जैन राह पकड़ी जैनी हूवो अर चोगडदा का ओर भाई बेट" 8। इक्यासी गावाका ख्वाबद छा सो भी जैन राह पकड़ि जैनी हूवा सो गावा क नाय गोत कहाय्या। खंडेला का धणी साह हूवो ओर गाव का धणी छा सो तिस तिस नाव पकड्या।। चोहाण को राज छो सो गांव 81 मै रजपुत सरबलाख 300000 घरम जैनी हूवा।। ओर जो चोहाण का भाई 14 ताकै......जैनी हूवा।। गोत गह्या ताकि चक्रेश्वरी साहि करी।। सो चक्रेश्वरी कुलदेव्या भाई चोरा कै हुई सो महावीरजी सु. संवत 490 पाछै जसोभद्र लघु सिष्य जिनसेनजी खंडेले आय जैनी कीया गोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14 येकस महावीरजी सूं बरस 490 विक्रम सु संवत् 2 प्रथम गोत्र साहै ।। बंस सोम कुल चौहाण उतन खंडेलगिर कुलदेव्या चक्रेश्वरी ।।1।। दुसरो गौत्र विक्रम सू संवत 3 गोत्र भाव-सौ वंस सोम कुल चोहाण उतन भावसौ राज्ये श्री भावस्यंघजी कुलदेव्या चक्रेसुरी ।।2।। ....

इस तरह आगे भी विक्रम संवत् 6 तक 14 गोत्र बताने के पश्चात् आगे लिखा है—

'इ तरह जिनसेनजी या नै जैनी कीय्या ।। आग छ उतपत्ति जसोभद्रजी क वारं सर्व एक छा ।। सो जसोभद्रजी जैन धरम को विरमाण जाणि सरव सिद्धि जति जना मै कही जो खंडेले उतपात हूवो सो अब कोई जावो तब सगला कही ज त्या न श्री गुर आप आग्या दे सो जाव सो श्री गुर आग्या तो ओर ही न करी छी ।। अर जिनसेनजी उनमत थको होय कही जो खडेल ह जास्यौं ।। तब सबल पणै आग्या बिना ही गमन कीयो ।। तदि सिखि छा त्या वोचारो जो उनमत होय करि गयौ सो जिनसेनजी खडेलं जाइ अर खडेलबाल म्हाजन छा सरेष्ठी त्या मै आय वाकी रख्या करी ।। अर राजा खंडेलगीर की गोली मेटी ।। सो खडेलगिर आदि भाइ 14 तो जैनी कीय्या ।। तैठा पाछै जिन-सेनजी काल वांस हूवा तैठा पाछै गोत्र मत्र धौ खंडेलगिर आदि भाई चौदा तो जैनी कीय्या गोत बांध्यौ ।। पाछै बाकी गोत ओरा ओरा आचार्य्या प्रतिबोध्या गोत्र 84 परजंति खडेला का गावयु श्रावका भटारक आगणा कीय्या ।। जसोभद्रजी पाछै जिनसेनजी ही गाव मै रह्या । जसोभद्रजी ताइतो वनवासी छा पाछै भद्रभावजी पाट बैठ्या सगला जत्यां आग्या मानी अर आइ नम्या पणि जिनसेनजी आग्या तो मानी पणि हजुरी न गय्या ।। तैठा सु गच्छ विरोध हूंता गय्या ।। पण भद्रभावजी ताई भी बनवासी रह्या ।। अर सीतांवर घणा दिन ताई वन मैं ले जाइ अहार कीयो पाछै भद्रभावजी दुरसीस दीनी..........।'

इतना ही अंश यहां दिया जा रहा है। आगे लेख के विस्तार भय से यहां नहीं दे रहे हैं।

इसके संवत् आदि यद्यपि गलत मालूम देते हैं किन्तु निम्न बातें स्पष्ट हैं।

1. खण्डेल में खंडेलगिर नामका चौहान राजा था।
2. उस समय वहां विदेशियों का दिखल (कब्जा) हो गया था।
3. चौहानों को जैनी आदिपुराण के कर्ता जिन-सेनजी ने बनाया था।

हमारे सामने जयपुर के साह परिवार वालों की एक छपी हुई वंशावली है जिसमें इस प्रकार लिखा है—

पुराने सरकारी रेकार्ड के आधार पर

खडेले (खंडेले ?) जैनी हुआ तींको अहवाल संवत् 110 कै साल खंडेलेगिर चौहाण जैनी हुआ जिनसेनाचार्यजी का उपदेश सूं, राजा को गोत साह कहायो पाछे सम्वत् 782 की साल खंडेलो छूट्यो, अभैरामजी हीरानन्द जी जात्रा गिरनारजी रिखबदेवजी की कर चीतोड रावल रतनसीजी सूं मिल्या, गांव इजारे कीयां पाछै सम्वत् 992 के साल ऊठां सूं रायमलजी ऊठ्या, सो घटाली आया, कीलणदी वालणदेव सोलखी घटाली का ठाकुर त्यासूं गांव इजारे लिया सो सं 1656 की साल छाजू साह जी घटाली सूं चाटसू आया, अर राजा मानसिंहजी सूं मिल्या।

पुराने रेकार्ड के आधार पर

प्रथम साह उहडणजी तींको बेटो दूल्हजी तींको बेटो लाखो, तींको बेटो खींवसी तींको काल्हाजी तींको बेटो सरवण तींको बेटो बोपतजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तींको बेटो छाजू साह घटावली सूं विसर कियो तीं पाछै महाराजाधिराज श्री मानसिंहजी बुलाया तहि महाराजजी सैं मिल्या तीं परि म्हैंला कोट को चोक कस्बा चाकसू को काढ़ी कोटड़ी बंधाय वास करायो और जमीन इनाम में बीघा 500 बक्सी, अर यो मुरातिब बकस्यो, जो थांने वा थांकी वस्ती का ने वाछ विराड फरो माफ कीयो फरो नहीं सावक माफ, अर थांकी कोटड़ी खूनी (कोणे?) तक सीदी आ जावे। तीने राज ल्यासी नहीं, कस्बा चाकसू में इन्साफ होसी सो थांकी कोटड़ी होसी, अर परगना का गांवा का होली दसेरा की भेंट साहजी की करता रहसी ।।

इसमें सम्वत् से पूर्व विक्रम नहीं लिखा है और यदि यह पता चल जावे कि ये कौन से संवत् हैं तो आसानी से इसकी ऐतिहासिकता की जांच की जा सकती है। मानसिंहजी वाला संवत् 1656 विक्रमी है जो सही है क्योंकि संवत् 1647 से 1672 विक्रमी तदनुसार सन् 1590 से 1615 ईस्वी महाराजा मानसिंहजी का समय जयपुर के इतिहास से सिद्ध है। ये सम्राट अकबर के काल में हुए हैं तथा इतिहास प्रसिद्ध हैं।[1]

हर्ष संवत् और विक्रमी संवत् में 662 वर्ष का अन्तर इतिहासकार मानते हैं। रावल रतनसिंह चीतोड़ का काल 1359 विक्रमी[2] (697 हर्ष संवत्) है। खण्डेला छूटने का संवत् 782 जो छपा है वह मुद्रण की या रेकार्ड से प्रतिलिपि की भूल ज्ञात होती है। यह संवत् 682 होगा जिसका विक्रम संवत् 1344 होता है। 15 साल गिरनार जी की यात्रा में लगे होंगे क्योंकि उस समय बैल-गाड़ियों में यात्रा होती थी। इतना समय यात्रा में लगना अधिक नहीं है। अर्थात् विक्रम संवत् 1344 तक साह परिवार खण्डेले में रहा। वंशावली के अनुसार रायमल छाजू साह के पुत्र थे जिनका संवत् 992 (1654 वि०) में चीतोड़ से उठकर घटाली आना लिखा है। उस समय उनके पिता छाजू साह जीवित थे जिनको 1656 में मानसिंह जी ने बुलाया। अभैरामजी हीरानन्दजी चीतौड़ आए तब से लेकर घटाली या घटावली आने तक का समय 295 वर्ष होता है। उहड़णजी से रायमल तक नौ पीढ़ियां होती हैं जिनका औसत 33 वर्ष प्रति पीढ़ी आता है जो अधिक नहीं है। अगर अभैराम हीरानन्द के पश्चात् और उहड़ण के बीच एक दो पीढियां और गायब हों तो यह औसत और भी कम हो जायगा। वंशावली में रायमल के पोतों के पश्चात् उसके वंश का कुछ पता नहीं चलता। शायद यह वंश घटावली में ही रहता रहा या समाप्त हो गया।

चौहानों का राज्य प्रारंभ में नागौर में था। वहां से शाकम्भरी (सांभर) और शाकम्भरी से अजमेर आया।

खण्डेला वर्तमान में शेखावाटी में है। इतिहासकारों के अनुसार इस हिस्से में पहले सांभर के और फिर अजमेर के चौहानों की शाखाओं का राज्य रहा है। अजमेर बसने का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी है।[3]

अब प्रश्न है कि आचार्य जिनसेन ने यदि खण्डेलवाल जाति की स्थापना की तो कौन से संवत् में ? जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन द्वारा अधूरी छोड़ी हुई जयधवला टीका को शक संवत् 759 वि. सं. 894 में पूर्ण की। इसके पश्चात् उन्होंने महापुराण की रचना प्रारम्भ की।[4] जैसा कि अनुमान किया जाता है आदि पुराण को पूर्ण करने में उन्हें 4–5 वर्ष का समय लगा हो तो वे संवत् 899–900 तक अवश्य जीवित रहे थे। इसके आगे वे कहां गये, कब उनकी मृत्यु हुई आदि प्रश्नों पर इतिहास की पुस्तकें जो अब तक लिखी गई हैं, मौन हैं। किन्तु हमारी उक्त संवत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1879 में लिखी पुस्तक के अनुसार जिनसेनजी खण्डेले गये और वहां उन्होंने सम्वत् 6 तक 14 गोत्रों की स्थापना की और तत्पश्चात् स्वर्गवासी हो गये।

प्रश्न यह रह जाता है कि इन वि. सं. 2–3 आदि की संगति जिनसेनजी के साथ कैसे बैठे ? ये संवत् यथार्थ में 901–902–903 आदि हैं और बोलने में इनको सम्वत् 1–2–3 आदि बोलते हैं। आज भी सन् 1904 चार ही कहलाता है और 1910 आदि को अन्त की दो संख्या जो हो तदनुसार कहते हैं जैसे 1910 संवत् या सन् को मात्र 10 ही बोलेंगे और कभी कभी लिखेंगे भी। यह परिपाटी जैसे वर्तमान में है वैसे भूत काल में भी रही होगी। उनके पश्चात् अन्य आचार्यों द्वारा सम्वत् 1110–12 तक नए जैनी बनाने का कार्य चालू रहा और नए नए गोत्र बांधे जाते रहे। जिनका विवरण इसी पुस्तक में है तथा और भी ऐतिहासिक घटनाएं हैं जिन्हें यहां स्थानाभाव से नहीं दिया जा रहा है। वंशावली में मुद्रण दोष अथवा लिपि दोष से सम्वत् 110 छप गया है या लिखा गया है।

यह वंशावली लेखक के मामा श्री गेंदीलालजी साह एडवोकेट ने छपाई है जिसे देखकर हमें सत्य जानने की प्रेरणा हुई। वे लेखक के पितृसम हैं। जो भी जैसा भी मैं आज हूं उनके ही आशीर्वाद और शुभकामनाओं का फल है।

---

1. Thirty Decisive Battles of Jaipur by Thakur Narendra Singh, 1939 edition page 57.
2. ऐतिहासिक शोध संग्रह : रामवल्लभ सोमानी : जनवरी 1970 सं., पृ. 49
3. AJMER : Historical and Descriptive : by—SARDA Part II Chapter XVII (1941 edition)
4. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग : परमानन्द शास्त्री पृष्ठ 181—182.

मुक्तक

जगत के जीव सब सम हैं किसी को कम नहीं लेखो,
सभी को प्राण प्यारे हैं किसी पर गम नही फेंको,
श्री महावीर स्वामी की अहिंसा ये बताती है—
इन्हें कुछ दे नहीं सकते तो केवल प्यार से देखो।

—'काका' बुन्देलखण्डी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम स्वयं महावीर हो

हास्य कवि, श्री हजारीलाल 'काका' बुन्देलखण्डी पो० सकरार
जिला, झांसी उ० प्र०

करवटें बदलोगे कब तक बिस्तरों पर, बहुत सोये अब खुमारी को हटा दो,
खोल दो अवरुद्ध मन की अर्गलायें, तुम स्वयं महावीर हो जग को दिखा दो,

लेकिन तुम्हें फुर्सत कहां इस राग रंग से, सांझ होने को हुई पर गा रहे अब भी प्रभाती,
बज रहे हैं कूच के बेसुर नगाड़े, पर तुम्हें अब भी प्रणय सरगम सुहाती,
छोड़ना होगा तुम्हें अब इस मकां को, इसलिए तुम स्वयं ही आसन हटा लो,
खोल दो अवरुद्ध मन की अर्गलाये, तुम स्वयं महावीर हो जग को दिखा दो ।

बन चुके महमान कितने इस मकां के तुम समझते हो कि शायद हमीं पहले,
क्रम न टूटा आज तक इस कारवां का आ चुके कितने यहां नहले पै दहले,
इसलिये अध्यात्म की गंगा बहाकर नाम अपना मोक्ष सूची में लिखा लो,
खोल दो अवरुद्ध मन की अर्गलायें तुम स्वयं महावीर हो जग को दिखा दो ।

आपको अभिमान होगा लक्ष्मी पर किन्तु आमित्क शांति दे सकता न ये धन,
अर्थ के जल से बुझी किसकी पिपासा जब तलक वर्षा नहीं सम्यक्त्व का घन,
इसलिये 'काका' जगत से दृष्टि फेरो वक्त है चारित्र की गंगा नहालो,
खोल दो अवरुद्ध मन की अर्गलायें तुम स्वयं महावीर हो जग को दिखा दो,

———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराणों में सज्जन और दुर्जन, भले और बुरे, धार्मिक तथा पापी दोनों प्रकार के मनुष्यों के जीवन-वृत्त का चित्रण करने का उद्देश्य अच्छे और बुरे कार्यों का अच्छा बुरा फल बताना होता है। पशु यज्ञ, मांस भक्षण आदि सदाचार तथा धर्म विरुद्ध कार्यों का भी उनमें प्रसंगानुसार वर्णन आता है किन्तु उनका पुराणों में वर्णन होने मात्र से ही ऐसे कार्य विहित कोटि में नहीं आते। इस तथ्य को समझ कर ही पुराणों का स्वाध्याय करना चाहिये। हरिवंश पुराणकार जिनसेन पुन्नाट संघ के आचार्य थे और आदिपुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न थे किन्तु दोनों ही समसामयिक थे। हरिवंश पुराण की रचना शकसंवत् 705 में समाप्त हुई है। हरिवंश पुराण का महत्व इस दृष्टि से बहुत है कि उसमें वीर निर्वाण के बाद से वि० सं० 840 तक की अविच्छिन्न गुरु-परम्परा सुरक्षित है जो अन्य किसी भी पुराण अथवा ग्रंथ में आज तक देखने में नहीं आई।

—पोल्याका

"जैन" हरिवंशपुराण कालीन भारत की सांस्कृतिक झलक

डा० प्रेमचन्द जैन,
एम.ए., पीएच. डी., जैनदर्शनाचार्य,
जैनदर्शन विभाग, राजस्थान वि.वि., जयपुर

प्रत्येक युग का सच्चा साहित्यकार, कवि या महाकवि स्वयं अपने समय की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में एवं पृष्ठभूमि के पट पर ही अपने वर्ण्यविषय के काल की अमुक स्थिति के चित्र की रेखाएं अंकित करता है। चाहे वह किसी भी काल की स्थितियों का वर्णन करे, परन्तु उसके अनुमान का आधार तो उसका वर्तमान ही होता है। इसी वर्तमान के पट पर उसकी कल्पना-रूपी तूलिका मनमाने रंग भर-भरकर नये-नये चित्र बनाती है। उसका जागरूक यत्न रहता है कि वह पाठक को वर्तमान से उठाकर उसके मानस को अपने वर्ण्य काल के स्तर पर ले जाये और इस यत्न में उसे जितनी सफलता मिलती है, वही उसके साहित्यिक साफल्य का मापदण्ड बनती है। पर सम-सामयिक युग की स्थितियों का सही सही चित्रण भी उसके साफल्य की उतनी ही महत्वपूर्ण कसौटी है जितनी कथा-वस्तुगत वर्ण्य काल के चित्रण की। इस दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से जिनसेनाचार्य ने तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति, देश, प्रान्त और प्रमुख पर्वत, नगर, नदियाँ, वृक्ष, वनस्पतियां, पशु, पक्षी, दक्षिण से लगाकर उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम के दक्षिण पथ के मार्ग और विंध्य के उत्तर में उत्तर के प्रमुख महा जनपथों के सम्बन्ध में प्रभूत व प्रामाणिक जानकारी प्रदान की है। देश के तत्कालीन सामाजिक जीवन, व्यापार, कृषि, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक रीतिरिवाज एवं धार्मिक विश्वासों तथा ग्रामीण व नागरिक जीवन का सटीक परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से भी यहां प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। देश की राजनैतिक अवस्था के सम्बन्ध में कवि ने प्रत्यक्ष तो नहीं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से जो संकेत दिये हैं उनसे तत्कालीन समय की राजनैतिक अवस्था का अच्छा बोध हो जाता है।

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष के भौगोलिक विभाजनों का कवि का ज्ञान विशद और प्रामाणिक था। इसकी अनुभूति हमें हरिवंशपुराण के ११वें सर्ग में वर्णित भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के प्रकरण में चारों दिशाओं के अनेक नगरों के उल्लिखित होने से होती है—कुरूजांगाल, पांचाल, सुरसेन, पटँचर, यवन, अभीर और भद्रक, क्वाथतोय, तुलिंग, काशी, कौशल्य, मद्राकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, आत्रेय, काम्बोज, शूर, बाटवाता, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशरूक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर दिशा की ओर थे। खंग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, युत्रक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे। बाणमुक्त, वैदर्भमाणव, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिस्क, पुरुष और भोगवर्द्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे। माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सुपर्ट, कर्मुक, काशि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत तापस, महिम भरूकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद ये पश्चिम दिशा के देश थे। दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पतन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे। भद्र, वत्स, विदेश, कुश, भंग, सैतव और वज्रखंडिक ये देश मध्यदेश के आश्रित थे।[1] इनमें वत्स, अवन्ती, कौशल और मगध में राजतन्त्र था, बाकी गणतन्त्रात्मक थे।

राजतन्त्रों का राजा निरंकुश नहीं होता था, वह मन्त्रिपरिषद की राय से कार्य करता था और प्रजा की भावना का समादर करता था। गणतन्त्र में कहीं एक मुख्य राजा होता था, कहीं गणराजाओं की परिषद थी, कहीं मुख्य राजा होते हुए भी गणपरिषद् प्रधान थी और कहीं मुख्य-गण बारी-बारी से राज्य करते थे। कुछेक महत्वाकांक्षी बिस्तार लोलुप सम्राट भी थे। गणतन्त्रों से इनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे और कभी कभी वे युद्ध तक कर बैठते थे। गणतन्त्रों के सम्बन्ध आपस में प्रायः अच्छे थे। कारण विशेष से कभी कभी कुछ विवाद भी उठते रहते थे। नदी, जल, परिवहन, ग्राम आदि के कारणों से विवाद उठना ही इनमें मुख्य था। कभी कभी किसी कन्या को लेकर भी झगड़े खड़े हो जाते थे।

राजा का पद परम्परागत होता था। राजा के अपदस्थ होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था।[2] पुत्र विहीन राजा का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री का पुत्र होता था। राज्यासन पर पदारूढ़ होने से पूर्व अभिषेक होने की परम्परा थी।[३]

इस काल का भारतीय समाज युद्ध विज्ञान में पर्याप्त उन्नति कर चुका था। स्वार्थसिद्धि के लिये देव, असुर, मानव और पशु सबका चरम साधन एक मात्र युद्ध ही था। पशुओं और मनुष्यों में भी युद्ध होने के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस काल में रथयुद्ध,[4] पदातियुद्ध,[5] मल्लयुद्ध,[6] दृष्टियुद्ध,[7] जलयुद्ध,[8] प्रभृति विविध प्रकार के युद्धों के उदाहरण मिलते हैं। युद्ध में प्रमुखतः हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गान्धर्व और नर्तकी ये सात अंग होते थे। व्यूहों में क्रौंच गरुड[9] चक्रादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। असि, उलूखल, कायत्राण, कार्मुक, कौमुदगदा, खंग, खुर, गदा, गाण्डिव, चक्र, जानु, तल, तोमर, त्रिशुल, दण्ड, बाणादि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र थे। कतिपय शस्त्रास्त्रों में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति भी विद्यमान थी। गज, घोड़े, रथ, ऊंट, खच्चर आदि भी युद्ध की सवारियां थीं। राजमहिषियां भी रण-कौशल मे निष्णात होती थीं और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध भी करती थीं। कभी कभी अपने पतियों की सहायतार्थ भी युद्ध में साथ-साथ जाती थीं।[10]

सामाजिक जीवन

हरिवंशपुराण में एक संगठित समाज का स्वरूप मिलता है। समाज में चारों वर्णों[11] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की स्थिति ज्ञात होती है पर उनके घेरे कठिन नहीं थे। चारों वर्गों के अतिरिक्त भी समाज में व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग थे, इनमें राजक, चाण्डाल, चर्मकार, स्वर्णकार, दारूशिल्पी आदि प्रमुख हैं।

प्राचीनकाल से ही विवाह जीवन की सर्वोत्कृष्ट घटना मानी जाती है। उसका इस काल में ह्रास देखने को मिलता है। विवाह अब दैविक विधान न रहकर, योग्यता, पराक्रम और शक्ति का मापदण्ड रह गया था। इस काल में स्मृतियों में प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में से अन्य विवाहों के प्रकार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) को निन्दनीय या परित्याज्य माना जाता था।[12]

इस काल में उक्त आठ विवाह विधियों में से कोई भी एक विशुद्ध रूप से प्रचलित नहीं थी। समाज में ऊंचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गान्धर्व व राक्षस विधि का प्रसार था।[13] अन्य विवाहों में वाग्दान से, भविष्यवाणी से, साटे से विवाह,[14] विधवा-विवाह[15] एवं विधुर-विवाह आदि भी प्रचलित थे। समाज में बहुपत्नी प्रथा[16] प्रचलित थी। मातुल कन्या से विवाह सम्भव था।[17] चारुदत्त का विवाह उसके मामा की लड़की से किया गया था। 21 38 अर्जुन और सुभद्रा का सम्बन्ध भी ऐसा ही था। विवाह दो विकसित व्यक्तियों का सम्बन्ध था। कन्यायें पिता के घर में ही युवा हो जाया करती थीं। दहेज प्रथा का भी उल्लेख है। यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दहेज' शब्द का न नाम आता है और न उसकी मांग की जाती है। खुशी से लड़की वाला लड़के को यथाशक्ति और यथेच्छ कुछ दे देता था।

इस समय स्त्री जाति का समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। स्त्रियां पुरुषों की इच्छा के अनुसार उसके उपभोग के उपकरण मात्र थीं। स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में भी माना जाता था।

हरिवंशकालीन व्यक्ति का जीवन सभ्य और सुसज्जित था। वह विविध परिधानों द्वारा शरीर का अलंकरण करता था। उसके वस्त्रों में वासस्, उपवासस्, नीवि,कम्बल आदि प्रमुख थे।[18] आभूषणों में मुकुट,[19] कुण्डल,केयूर, चूड़ामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र, कंठक, रत्नावली, नूपुर, आदि का प्रचलन था (8/26। प्रसाधन सामग्री भी अनेक विध थीं। साधारण से लेकर बहुमूल्य सामग्रियां व्यवहृत होती थीं।[20] चन्दन, कुंकुम, अंगराग, आलक्तक, अंजन, शतपाक, तेल, गंध आदि अनेक सुगन्धित द्रव्य मिश्रित लेप सिंदुर, कस्तुरी, माला, ताम्बूल आदि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है (8वां सर्ग)। वृद्धायें प्रायः त्रिपुण्डाकार तिलक लगाती थी। (22-47)

समाज में शाकाहारी और मांसाहारी दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही तरह के भोजन भोज्य होते थे। शाकाहारी भोजन में जौ, धान, गेहूं, तेल, शाक, उड़द, मूंग आदि मुख्य थे।[21] पशुओं का मांस मांसाहारियों के लिए भोजन में सम्मिलित होता था।[22] पेय पदार्थों में दूध,[23] सुरा, मधु[24] आदि उल्लेखनीय हैं। भोजन करने के बाद सुगंधित द्रव्यों से मिश्रित पानी से कुरला किया जाता था।[25] बाद में पान सुपारी खिलाई जाती थी। पान को थूकने के लिये पीक-दान भी रखा रहता था।[26] महाकवि बाण की कादम्बरी और हर्ष चरित्र में भी इनके उल्लेख प्राप्त होते हैं।

विश्राम के लिए शय्या (आसन्दी) उपधान, पर्यंकादि हुआ करते थे। मनोरंजन के लिए नाटक, गीत, वाद्य, चित्रकला, द्यूत-क्रीड़ा,[27] वन-विहार,[28] जलक्रीड़ा[29] आदि का प्रमुखता से प्रचलन था। विशेष अवसरों पर अनेक सामूहिक महोत्सव भी होते थे।

उन दिनों व्यायाम करने की प्रक्रिया आज जैसी ही थी। गोलाकार अखाड़ों में पहलवान लोग अपने अपने दावपेच दिखाते थे इस ग्रंथ को देखने से यह भी पता चलता है कि आजकल जो मुष्टि-युद्ध प्रचलित है वह पाश्चात्य देशों की देन नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल में मुष्टियुद्ध का आम रिवाज था।[30] श्रीकृष्ण और बलभद्र ने चाणुर और मुष्टिक पहलवान को मुष्टियुद्ध में पराजित किया था (३६/४५)।

आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से भी तत्कालीन भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन व्यापार, वाणिज्य, कला, कौशल में भी यह देश काफी प्रगति कर चुका था। आन्तरिक व्यापार, के साथ ही विदेशों से जलपोतों के द्वारा व्यापार होता था। यहां से कपास और बहुमूल्य रत्नादि का व्यापार किया जाता था। दूर देशों या विदेशों से व्यापार के लिए कई व्यापारी समूह में जाते थे और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे जिनको मार्ग का पूरा ज्ञान होता था। सार्थ सम्पन्न भी होते थे। व्यापारियों को निश्चित शुल्क या भागीदारी के आधार पर ऋण भी देते थे। सार्थों के अपने यान, वाहन, चालक, वाहक, रक्षक आदि भी होते थे। प्राचीन भारत में सार्थों की भूमिका की विशेष जानकारी डा० मोतीचन्द्र की पुस्तक 'सार्थवाह' में मिलती है।

व्यापार में लेने देने के लिए निष्क, शतमान, कार्षापण आदि का प्रचलन था। मुद्राओं पर जनपद श्रेणी अथवा धार्मिक चिह्न हुआ करते थे। वाणिज्य व्यापार पर राजकीय नियन्त्रण नहीं था। कर भाग आय के दसवें से छठे भाग तक सीमित था विशेष परिस्थितियों में युद्ध दुर्भिक्ष आदि[31] के समय यह अवश्य ध्यान रखा जाता था कि कोई अनुचित लाभ न ले सके। जंगलों दुर्गम स्थानों में कहीं कहीं दस्युदल भी सक्रिय होते थे। थे। अपराध बहुत कम होते थे।

धार्मिक जीवन

यदि धर्म और विश्वास या समाज की संस्कृति की उत्कृष्टता का द्योतक है तो हरिवंशपुराण एक ऐसे व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है जो तप: प्रधान था। इस युग में प्राचीन धार्मिक परम्परायें टूट रही थी। बलि यज्ञादि क्रिया काण्डों का स्थान भक्ति उपासना सत्कर्म और सदाचार ने ले लिया था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियां साथ साथ चल रही थीं।

हरिवंश पुराण का समस्त वर्णन किसी न किसी प्रकार मुक्ति आदि कार्यों से सम्बद्ध है। तीर्थंकरों, पंच परमेष्ठियों के स्तवन के साथ साथ विभिन्न आचारों और व्यवहारों का भी वर्णन किया गया है। पुराण में सर्वतोभद्र,[32] महासर्वतो-भद्र,[33] चान्द्रायण[34] आदि अनेक व्रत उपवासों की विधियो एवं उनके फलों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

1. हरिवंशपुराण, 11/57–74
2. हरिवंशपुराण, 27/54, 21/122
3. हरिवंशपुराण, 27/47-60
4. लेखक का शोध प्रबन्ध पृ० 86
5. हरिवंशपुराण, 42/80, 50/103–104, 42/41
6. हरिवंशपुराण, 36/30–34, 24/8, 11/84, 36/41–43, 36–45
7. हरिवंशपुराण, 11/80–82
8. हरिवंशपुराण, 11/83
9. हरिवंशपुराण 50/102–110
10. हरिवंशपुराण, 52/5
11. हरिवंशपुराण, 9/39
12. पाटील, डा०के०के० कल्चरल हिस्ट्री फ्रोम वायु पुराण–पूना, 1964, पृष्ठ 156
13. हरिवंशपुराण, 44/21–25, 43/171–176, 44/29–32, 42/74–97, 44/9–19
14. हरिवंशपुराण, 33/10–29
15. (1) नारद स्मृति, 12/97
    (2) बाल्वलकर, हिन्दु सोसल इंस्टिट्यूशन्स बम्बई, 1939
    (3) विवाह सम्बन्धी अध्याय-अल्टेकर पोजीशन आफ वुमन इन ऐनसियन्ट इण्डिया, पृष्ठ 181–183
16. हरिवंशपुराण, 12/32, 24/9, 44/3–50, 59/116
17. हरिवंशपुराण, 33/11–24, 33/1–36, 21/38
18. हरिवंशपुराण, 26/7–17, ?/18–38
19. हरिवंशपुराण, 25/30
20. हरिवंशपुराण, 47/42
21. हरिवंशपुराण, 18/171, 11/116, 36/27–28, 18/161–163

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. हरिवंशपुराण, 21/104-110

23. हरिवंशपुराण, 18/171

24. हरिवंशपुराण, 61/23, 61/51, 61/36, 61/25

25. हरिवंशपुराण, 36/27-28

26. हरिवंशपुराण, 8/50

27. हरिवंशपुराण, 48/14, 46/3, 21/54-62

28. हरिवंशपुराण, 55/29, 14/21

29. हरिवंशपुराण, 55/51-55

30. हरिवंशपुराण, 24/8, 11/84, 36/41-43

31. हरिवंशपुराण, 21/76

32. हरिवंशपुराण, 34/52-55

33. हरिवंशपुराण, 34/57-58

34. हरिवंशपुराण, 34/90, इस व्रत में कृष्ण प्रतिपदा के दिन से चन्द्रमा घटने के साथ साथ प्रतिदिन एक एक ग्रास भोजन घटाते हुए अमावस्या के दिन पूर्ण निराहार रहा जाता है. और शुक्ल पतिपदा को एक ग्रास भोजन लेकर प्रतिदिन एक एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन केवल १५ ग्रास आहार लिया जाता है। इस प्रकार यह व्रत एक मास में पूर्ण होता है।

35. तत्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् तत्वार्थ सूत्र-1/2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत में नाटकों के विकास का मूल भारतीय ही है अथवा विदेशी यह प्रश्न अनुसन्धित्सुओं के मध्य चर्चा का विषय रहा है। भारतीय मूल बताने वाले वेदों में यम यमी के संवाद में इसे खोजते हैं तो दूसरे नाटकों में प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द के कारण विदेशों में। सचाई कुछ भी हो किन्तु भारत में नाटको का इतिहास बहुत पुराना है और संस्कृत भाषा के नाटक किसी समय पर्याप्त लोकप्रिय रहे हैं और उनका मञ्चन भी हुवा है। संस्कृत नाटकों के निर्माण में जैनों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके लिखे नाटक किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। जैन नाटककार हस्तिमल्ल ऐसे ही सिद्धहस्त नाटककारों में थे जिन्होंने जैन पुराणों से कथावस्तु ग्रहण कर अपने नाटकों की रचना की। उनकी कृत्तियों का मूल्यांकन विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों में पढ़िये।

—पोल्याका

–संस्कृत नाट्यसाहित्य में हस्तिमल्ल के नाटकों का स्थान

डॉ० कन्छेदीलाल जैन
गव० संस्कृत कालेज,
कल्याणपुर शहडोल

संस्कृत साहित्य में अनेक प्रशस्त नाटककारों में हस्तिमल्ल और अनेक नाटकों में उनके नाटक स्मरणीय रहेंगे। दसवीं शताब्दी के बाद सशक्त नाटककारों द्वारा नाटक रचना में ह्रास दिखाई देता है, उसका कारण यह था कि संस्कृत का कला पक्ष सबल होता जा रहा था जो नाटक की अपेक्षा महाकाव्य के अनुकूल होता है। जयदेव का प्रसन्नराघव तेरहवीं शताब्दी का माना जाता है उसमें भी नाटकीयत्व की अपेक्षा कवित्व की ही सत्ता विशेष है। इस दृष्टि से तेरहवीं शती का यह सशक्त नाटककार संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों के लिए कथावस्तु का चुनाव रामायण, महाभारत तथा लौकिक कथाओं से किया है, हस्तिमल्ल ने अपने नाटकों की कथावस्तु को दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के पुराणों से चुना है जिनको आधार बनाकर नाटक लिखने की ओर किसी का ध्यान नहीं था। नाटकों के लिए कथावस्तु का नवीन स्रोत जैन पुराणों को हस्तिमल्ल ने ही चुना है। अश्वघोष ने शारिपुत्र प्रकरण लिखकर नाटक निर्माणार्थ बौद्ध धर्म की कथाओं को आधार बनाने का उपक्रम कर दिया था। मेरा आशय यह नहीं है कि सम्प्रदाय विशेष की कथावस्तु चुनने के कारण नाटककार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्व होना चाहिए किन्तु सरस तथा उदात्त कथायें चाहे लौकिक हों चाहे किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थों की हों, उनके द्वारा यदि काव्य रचना अपना स्वरूप सजा सकती है तो उनका उपयोग करने वाला भी एक नवीन मार्ग का अन्वेषक है। शूद्रक का विशेष महत्व इस कारण है कि उसने अपने मृच्छकटिक प्रकरण के लिए सामान्य जीवन की कथा को चुनकर नया मार्ग अपनाया था और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के लिए राजनीति के दांव पेंच से सम्बन्धित कथा चुनी थी। इन्हीं नवीनताओं के कारण से ये नाटककार संस्कृत नाटककारों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सके। स्व० मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत और द्वापर लिखने के साथ म० बुद्ध की सहचारिणी यशोधरा को चुनकर जो यशोधरा काव्य बनाया उससे उनकी महिमा बढ़ी है, इसी कारण जैन ऐतिहासिक कथाओं को आधार बनाकर लिखने के कारण हस्तिमल्ल का भी अपना विशिष्ट स्थान है। जिन कथाओं को आधार बनाकर कई नाटक या काव्य बन चुके हों उन्हीं को न चुनकर नई कथाओं को चुनना विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि इन कथाओं को नाटक का आधार बनाने से हस्तिमल्ल का यश और नाम उतना व्यापक स्थान नहीं पा सका है जितना व्यापक यश ये महाभारत, रामायण या अन्य लौकिक कथाओं की कथा-वस्तु को चुनकर पा सकते थे, यही कारण है कि अधिकांश संस्कृत के इतिहास लेखकों ने तो नाटककारों में उनके नाम का भी उल्लेख नहीं किया है और अनेक सस्कृत के विद्वान् उनका काम और नाम कम ही जानते हैं।

दि. जैन साहित्य का पर्यावलोचन करें तो उसमें धर्म, दर्शन, न्याय के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभ चरित्र आदि महाकाव्य, यशस्तिलक और जीवन्धर जैसे चम्पू काव्य, गद्यचिन्तामणि जैसे गद्य काव्य हैं किन्तु नाटक लेखन की ओर जैसे काव्यकारों का ध्यान नहीं था, उसकी पूर्ति के कारण हस्तिमल्ल दि. जैन समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

संस्कृत नाटककार दक्षिण देश में नहीं के बराबर हुए हैं। दशम शताब्दी के शक्तिभद्र नाटककार का आश्चर्य चूडामणि नाटक है उसमें सूत्रधार के मुख से नटी ने दक्षिणी देश के नाटक के अभिनय की बात सुनकर कहा था कि दक्षिण देश में नाटक का निर्माण हुआ है तो समझो आकाश में फूल उग आये हैं और बालू से तेल निकल आया है। इस प्रकार यदि दक्षिण को नाटककारों की उत्पत्ति के लिए मरुस्थल माना जाता है तब हस्तिमल्ल का स्थान भी कम महत्व का नहीं है क्योंकि ये दक्षिण के ही थे। इनके नाटकों की एक नवीनता यह है कि इन्होंने स्वयंवर की घटनाओं को अपने नाटकों में स्थान दिया है।

नाट्यकला की दृष्टि से भी हस्तिमल्ल के नाटक संस्कृत नाट्य साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सकेंगे, केवल विद्वानों की दृष्टि में आने का विलम्ब है। भास और कालिदास के नाटक सरलता, सरसता के कारण संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान बना सके हैं। हर्षवर्धन में भी हम सरलता और सरसता पाते हैं। उसके बाद संस्कृत साहित्य में सरलता का वह रूप नहीं दिखाई देता है। हस्तिमल्ल हर्षवर्धन के बहुत बाद हुए हैं किन्तु उनकी सुभद्रा नाटिका और अंजना पवनंजय नाटक में सरलता, समता और उदात्त भावभूमि के दर्शन होते हैं। इसलिए वाचस्पति गैरोला ने लिखा है कि जैन साहित्य के क्षेत्र में हस्तिमल्ल का अनोखा व्यक्तित्व दृश्य काव्यों के प्रणयन में प्रकट हुआ है और उन्होंने तेरहवीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार हस्तिमल्ल को माना है।[2]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि नाटकीय शैली, भाव, भाषा, छन्द, अलंकार, चरित्रचित्रण, कथावस्तु आदि सभी दृष्टियों से परीक्षण करने पर हस्तिमल्ल के नाटक खरे उतरते हैं। उनके नाटकों का कवित्व कल्पना की नवीन उद्भावनायें[3] और सुन्दर सूक्तियां तो सहृदयों को अवश्य आकर्षित करेंगी।[4]

हस्तिमल्ल के चारों नाटकों को एक तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होगा कि वे एक सी प्रक्रिया पर लिखे गये हों। उनमें से तीन का मंगलाचरण मगण से आरम्भ हुआ है जो लक्ष्मी प्राप्ति की लिप्सा और विक्रांत कौरव का मंगलाचरण नगण से आरम्भ हुआ है जो आयुष्कामना का द्योतक है। इनके चारों नाटकों का मुख्य रस शृंगार है जिनमें अन्तिम कार्य नायक नायिका का वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा स्थायी मिलन है। प्रत्येक नाटक वैवाहिक कार्य के बाद पूर्ण हो जाता है। केवल अंजना पवनंजय नाटक में अंजना पवनंजय का विवाह प्रथम अंक में ही हो जाता है। उसमें उनका पुत्र सहित स्थायी मिलन हो जाने पर नाटक की समाप्ति हो जाती है। उनमें भी विक्रांत कौरव में स्वयंवर विधि के पश्चात् विवाह होता है। अंजना पवनंजय में स्वयंवर की सूचना है और स्वयंवर का अभिनय ही मुख्य स्वयंवर का प्रतीक है, क्योंकि पुराण के अनुसार अंजना का स्वयंवर नहीं हुआ था। मैथिली कल्याण नाटक में धनुर्भंग का साहस दिखाने वाला सीता का पति होगा इसे प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं सीता उस वर को वरण करेगी जो धनुर्भंग करके अपना शौर्य प्रकट करेगा। इस प्रकार उनके तीनों नाटक स्वयंवर से सम्बन्धित हैं जिनसे कन्याओं की अच्छी सामाजिक स्थिति प्रतीत होती है। उनको स्वयंवर इतना प्रिय है कि वे स्वयंवर का सूत्रपात करने वाले महाराजा अकम्पन की बुद्धि को विशिष्ट प्रतिभाशालिनी मानते हैं और अपने को सरस्वति द्वारा स्वयंवृत्त लिखते हैं।[5] सुभद्रा तो उनकी नाटिका लिखने की क्षमता की कसौटी है। सभी नाटकों में नायक नायिका परस्पर में एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होते हैं। क्रमशः उनके अनुराग का विकास होता है। उनके परस्पर मिलन में कुछ बाधायें आती हैं, उन बाधाओं के दूर हो जाने पर नायक नायिका का स्थायी मिलन हो जाता यही चारों नाटकों का क्रम है। फ्रांसिसी आलोचक ब्रूनेलरे के अनुसार नाटक का आधार दो इच्छा शक्तियों का द्वन्द्व है।[6] ये दो इच्छा शक्तियां दो प्रकार की हो सकती हैं। किसी एक व्यक्ति की दो इच्छाओं का द्वन्द्व हो सकता है जैसे सुभद्रा नाटिका में राजा भरत रानी वैलाती को भी प्रसन्न रखना चाहते हैं और सुभद्रा से भी स्नेह करना चाहते हैं। विक्रान्त कौरव में जयकुमार और अर्ककीर्ति दोनों सुलोचना को चाहते हैं। यहां दो व्यक्तियों की एक वस्तु की इच्छा शक्ति के कारण द्वन्द्व है। अंजना पवनंजय में पवनंजय एक ओर संग्राम का कर्तव्य भी पालन करना चाहते हैं दूसरी ओर स्वयं तथा पत्नी अंजना के एक दूसरे से वियुक्त रहने के कष्ट का प्रतिकार करना चाहते हैं। इस प्रकार एक ही व्यक्ति की दो इच्छा शक्तियों का द्वन्द्व है। मैथिली कल्याण नाटक में राम सीता को शीघ्र पाना चाहते हैं और सीता राम को शीघ्र पाना चाहती है जबकि पिता जनक सभाभूमि में धनुष के बल परीक्षण के पश्चात् सीता प्रदान करने का नियम ले चुके हैं। इस प्रकार की अड़चन से टकराकर घटना में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। इस द्वन्द्व के केन्द्र पर पहुचने पर सभी नाटकों में उन बाधाओं पर विजय प्राप्त हो जाती है और नायक नायिका का अभीष्ट मिलन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम सिद्धान्त की दृष्टि से भी यही सरणी इस प्रकार समझना चाहिए कि प्रेमपरक या शृंगार-परक नाटकों में ऐसे दो पात्रों को जिन्हे आगे चलकर प्रेमी युगल बनाना अभिप्रेत होता है प्रथम दर्शन में आकृष्ट दिखाया जाता है। इस प्रकार अनुरागोदय का फल आधुनिक युग में मंगलमय और अमंगलमय दोनों तरह का माना जाता है किन्तु आदर्शवादी विचारधारा यह है कि शुद्ध चरित्र वाला प्रेम जिसमें वासना की प्रबलता न समाई हो और पूर्व संस्कारों की आध्यात्मिक प्रेरणा हो तो प्रथम दर्शन का प्रेम क्रमशः विकसित होकर बाधाओं पर विजय पाकर अन्त में मंगलमय ही होगा।[7] हस्तिमल्ल के चारों नाटकों में हम प्रेम के इसी उदय, विकास और मंगल को देखते हैं।

मैथिली कल्याण में सीता और राम का अनुराग दोलागृह की भेंट में, विक्रान्त कौरव में सुलोचना और जयकुमार का प्रथम अनुराग नगर देवता यात्रा या गंगातीरोद्यान में, सुभद्रा नाटिका के भरत और सुभद्रा का अनुराग वेदीवन के परस्पर दर्शन के बाद तथा अंजना पवनंजय नाटक के नायक-नायिका का अनुरागोदय विवाह के पूर्व मन्दार वन में परस्पर दर्शन से हुवा था। राम के मिलन में धनुर्भंग की घटना निर्वाह, अंजना से मिलन में पवनंजय का रावण की सहायतार्थ युद्ध में व्यस्त रहना, युद्ध समाप्त हो जाने तक अंजना का निर्वासन, विक्रान्त कौरव में सुलोचना के इच्छुक राजाओं द्वारा उपस्थित किये गये संग्राम और सुभद्रा नाटिका में देवी वैलाती की अनुकूलता का अभाव ये नायिका नायक के मिलन की बाधायें थीं। उन नाटकों के नायक अपने कार्यों द्वारा या सहायकों द्वारा बाधाओं पर विजय पाकर अभीष्ट लाभ करते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म रीति से चारों नाटकों को एक मार्ग का अनुसरण करता हुआ पाते हैं।

मैथिली कल्याण नाटक के नायक राम, विक्रान्त कौरव के कौरवेश्वर जयकुमार, सुभद्रा के नायक भरत और अंजना पवनंजय में बिम्ब प्रति-बिम्ब भाव एकसा पाते हैं। सी प्रकार उनकी नायिकाओं सीता, सुलोचना, सुभद्रा और अंजना में भी चारित्रिक साम्य है। सीता की सखी विनीता, सुलोचना, की सखी नवमालिका, सुभद्रा की सखी मंदारिका और अंजना की सखी वसन्तमाला के कार्यों की तुलना भली प्रकार हो सकती है। मैथिली कल्याण का विदूषक गार्ग्यायण, विक्रान्त कौरव का विदूषक सौधातकि, सुभद्रा का विदूषक कात्यायिन और अंजना पवनंजय के विदूषक प्रह-सित में भी साम्य देख सकते हैं। सुभद्रा और मैथिली कल्याण के विदूषकों की कथन प्रणाली भी समान प्रतीत होती है।[8]

वियोग वर्णन के लिए प्रकृति के वर्णन में अंजना पवनंजय (पृष्ठ 41), विक्रान्त कौरव (पंचम अंक) मैथिली कल्याण (चतुर्थ अंक) में इस प्रकार सभी में चन्द्रोदय का वर्णन होने पर भी नवीन कल्पनाओं और नवीन शैली में है।

अंजना पवनंजय नाटक में प्रथम अंक में मधुकारिका और वसन्तमाला भविष्य में होने वाले स्वयंवर का अभिनय करती हैं इस प्रकार इसमें अभिनय के भीतर भी एक अभिनय है। इसी प्रकार मैथिली कल्याण नाटक में सीता विनीता राम और विदूषक की भूतकाल की एक घटना का अभिनय करती है। सुभद्रा नाटिका में बालाशोक को मालतीलता प्रदान करने की घटना को भरत को सुभद्रा का दान का अभिनय समझना चाहिए।

विक्रान्त कौरव और मैथिली कल्याण दोनों नाटकों के भरत वाक्य रत्नत्रय (सम्यदर्शन, सम्य-ग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) धारण करने की प्रेरणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। दूसरी ओर सुभद्रा नाटिका और विक्रान्त कौरव दोनों के मंगलाचरण में भगवान आदिनाथ को स्मरण किया गया है। चारों ही नाटकों में मनुष्यों के साथ विद्याधरों का भी उल्लेख है। इतना ही नहीं कतिपय छन्द एक दूसरे नाटकों में वेही हैं।[8] ये समान छन्द अपने-अपने स्थान पर इस प्रकार के प्रसंगों में उल्लिखित हैं जिससे ऐसा आभास नहीं होता है कि दूसरे नाटक से लेकर इसमें जोड़े गये हों।

सभी नाटकों की कथा वस्तु जैन पुराणों से उद्धृत है और इन सभी नाटकों की कथा चरित कथा के अन्तर्गत आती है।[10]

चारों नाटकों की इन अनेक पारस्परिक समानताओं के रहते हुए चारों की कथा वस्तु भिन्न-भिन्न हैं और उनके क्रमिक विकास का ढंग अलग-अलग है। नाटकों के पढ़ते या देखते समय इन समानताओं की ओर ध्यान ही नहीं जाता है।

इनके नाटकों के अध्ययन से जैन धर्म के कतिपय सिद्धान्तों तथा अन्य बातों के परिचय के अतिरिक्त संस्कृत, इतिहास, भूगोल, संगीत (वाद्य शास्त्र) वनस्पति आदि अनेक विषयों की जानकारी मिलती है। नाटक अपनी विविध प्रकार की सामग्री के कारण विविध प्रकार की रुचि वाले के लिए विनोदजनक होता ही है। इसलिए इनके नाटक भी रोचक कथावस्तु, प्रसादमयी भाषा, सरल शैली और काव्य सौष्ठव के कारण भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्तियों के लिए अवश्य ही रुचिकर होंगे।[10]

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास–बलदेव उपाध्याय पृष्ठ 601; 602
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ 359
3. ख्यातः पूर्व जगति समरो मत्कुले भूपतीनाम्।
   काञ्चित् कन्यां प्रति रणमिदं तद्यशो मे प्रमार्ष्टि॥
   इत्युद्भूतात् प्रकृति सुलभात् स्त्रीषु सापत्न्यवैरात्
   क्वाऽपि क्षोणी घनतिमिररजश्छद्मना गच्छतीव॥ विक्रान्त कौरव 84/32
4. सरस्वत्या देव्या श्रुति गुणावतं सत्वमयते।
   सुधया सध्री चीना त्रिजगति यदीया सुभणितिः॥
   कवीन्द्राणां चेतः कुवलयसमुल्लासन विधौ॥
   शरज्ज्योत्स्नालीलां कलयति मनोहारि रचना॥ विक्रान्त कौरव 3/5
5. अस्ति किल सरस्वती स्वयंवर वल्लभेन हस्तिमल्ल नाम्ना–महाकवितल्लजेन विरचितं विक्रान्त कौरव नाम रूपकम्। पृष्ठ 3,
6. नाटक की परख पृष्ठ 21
7. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृष्ठ 259
8. 1 – (क) विक्रान्त कौरव 142/75, सुभद्रा 15/33,
   2 – (ख) विक्रान्त कौरव 141/74, सुभद्रा 62/17,
   3 – (ग) विक्रान्त कौरव 63/53, सुभद्रा 84/27,
   4 – (घ) विक्रान्त कौरव 140/73, मैथिली कल्याण 11/21,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5 – (ङ) विक्रान्त कौरव 19/36,　　　　मैथिली कल्याण 39/38,

6 – (च) विक्रान्त कौरव 46/6,　　　　मैथिली कल्याण 45/10,

9. साहित्य (बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना) वर्ष 12. अंक 2, लेख-जैन आगमों में कथा साहित्य का वर्गीकरण ले. श्री ज्ञानचन्द, समवायांग सूत्र में कथायें दो प्रकार की बताई गई हैं। (1) चरित और (2) कल्पित। चरित से तात्पर्य सच्ची कहानियों से है।

10. नाट्यं भिन्नरुचर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् (मालविकाग्निमित्र)

एक सत्य का हाथ बहुत है

● श्री भवानीशंकर

सौ-सौ पीड़ा-शर सहने को
एक तुम्हारा प्यार बहुत है
एक किरन हो, लाख अन्धेरा
जीने का आधार बहुत है

लगा रहे धरती पर पहरा
उड़ने को आकाश बहुत है
बन्द हवाएं हो जाने दो
पंखों पर विश्वास बहुत है

सारे जग को ठुकराने दो
एक तुम्हारा द्वारा बहुत है
हीरे मोती छल जाने दो
फूलों वाला हार बहुत है

तीखे शूलों पर चलने को
प्राण, तुम्हारा साथ बहुत है
झूंठी दुनिया से लड़ने को
एक सत्य का हाथ बहुत है

115, सराफा वार्ड
जबलपुर-2 (म. प्र.)

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

वैदिक सम्प्रदाय में जहां राम विष्णु के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पूज्य हैं वहां जैनों ने भी अपने ६३ महापुरुषों में उनकी गणना की है तथा उन्हें सिद्ध माना है। एक आदर्श राजा के रूप में तो उनकी ख्याति भारत के जन-जन में है ही अतः प्रत्येक भारतीय धर्म के अनुयायियों द्वारा उनका जीवन चरित्र लिखा गया है। जैनों ने श्रीराम का यशोगान किया है किन्तु जैनों के राम और वैदिक राम में मुख्य भेद यह है कि जहां वैदिकों के राम ने भगवान होकर मनुष्य रूप में अवतार ग्रहण किया वहां जैनों के राम सामान्य मानव के रूप में जन्मे और अपनी साधना के बल पर भगवान बने। दोनों द्वारा राम के चरित्र चित्रण में और भी कई दृष्टिभेद हैं जिनमें से कुछ का तुलनात्मक अध्ययन विद्वान् लेखक ने अपनी इस रचना में प्रस्तुत किया है। —पोल्याका

वाल्मीकि रामायण और जैन रामकथा

●डाक्टर लक्ष्मीनारायण दुबे

सागर वि० वि०, सागर

जैनों के त्रिषष्टिशलाका पुरुषों में चौबीस र्थङ्करों के अलावा 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 सुदेव तथा 9 प्रतिवासुदेव होते हैं। जैन मान्यता मुताबिक राम अवसर्पिणी के 63 शलाका पुरुषों 8 वें बलदेव, लक्ष्मण अष्टम वासुदेव तथा रावण तेवासुदेव हैं।

जैन धर्म भी रामकथा से ओतप्रोत है। जैन म्परा का श्रीगणेश विमलसूरि के प्राकृत ग्रन्थ म चरिय' से होता है। परन्तु यह सर्वथा निश्चित कि विमलसूरि के समय हिन्दू रामकथा का रूप विकसित तथा सम्वर्द्धित हो चुका था। वस्तुतः कथा को सुविकसित तथा सुस्थापित करने का र्ण श्रेय आदि कवि वाल्मीकि को है। डा० (आन दी रामायण) तथा दिनेशचन्द्र सेन बंगाली रामायंस) ने बौद्ध जातकों की राम कथा को वाल्मीकि से पूर्व माना था परन्तु अब इस अभिमत की निस्सारता प्रमाणित हो चुकी है। वाल्मीकि के आधार पर 'महाभारत' का रामोपाख्यान हुआ और तदनंतर जैन इस क्षेत्र में आये। जैन साधु-परम्परा में भी रामकथा का रूप विद्यमान था।

विमलसूरि (वि० स० 60) तथा रविषेणाचार्य (वि० सं० 733) जैन रामकथा के दो महान् पुरोधा थे। स्वयम्भू (आठवीं शताब्दी ईसा) भी रविषेणाचार्य से प्रभावित हुए थे। जैन रामकथा का एक प्रवाह गुणभद्राचार्य के 'उत्तर पुराण' में भी मिलता है। इस कथा में दशरथ वाराणसी के राजा थे। सीता मंदोदरी की पुत्री थी। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से ग्रसित होकर स्वर्गवासी हुए थे। स्वयम्भू के 'पउम चरिउ' में देवताओं को राम-लक्ष्मण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के परस्पर प्रेम से ईर्ष्या होती है और लक्ष्मण की परीक्षा के लिए कोई देवता राम की मृत्यु की घोषणा कर देता है जिसके कारण लक्ष्मण शरीर त्याग देते हैं। गुणभद्र में वाल्मीकि रामायण के धनुष यज्ञ, कैकयी हठ, राम-वनवास, पंचवटी, दण्डक वन, जटायु, सूर्पणखा, खर दूषण, सीता अपवाद आदि सन्दर्भों की चर्चा नहीं है।

गुणभद्र की रामकथा दिगम्बर सम्प्रदाय की शोभा है परन्तु विमलसूरि दिगम्बर- श्वेताम्बर दोनों में मान्य है। स्वयम्भू विमल तथा रवि, दोनों की रामकथा को अपना आधार बनाते हैं।

विमलसूरि ने वाल्मीकि की रामकथा में बड़ा परिवर्तन ला दिया है। कतिपय प्रसंग तथा पात्रों का नामोनिशान नहीं मिलता। अनेक मौलिक उद्भावनाएं तथा प्रसंग समाविष्ट हो गये हैं।

विमलसूरि को हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं, धार्मिक क्रियाकलापों तथा ऋषियों-मुनियों से सरोकार नहीं। उनमें वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा ऋषि श्रृंग की चर्चा नहीं है। वाल्मीकि के राम मिथिला के मार्ग में ताड़का का वध करते हैं परन्तु 'पउम चरिय' में इसका कोई सूत्र नहीं मिलता। राम-परशुराम सम्वाद, श्रवण का आख्यान, मंथरा-कैकयी-सम्वाद, स्वर्णमृग प्रसंग और सेतुबंध के वर्णनों का यहां अभाव है।

वाल्मीकि रामायण के कुछ सन्दर्भों को विमलसूरि थोड़े परिवर्द्धन के साथ स्वीकार करते हैं। वाल्मीकि के राम, कौशल्या तथा शूर्पणखा विमलसूरि में आकर पद्म, अपराजिता तथा चन्द्रनखा बन जाती हैं। वाल्मीकि नहीं अपितु विमलसूरि सीता स्वयंवर रचते हैं। विद्याधर राजाओं ने लक्ष्मण को अट्ठारह कन्याओं से विवाहित किया। जैन रामकथाओं में राम की आठ हजार पत्नियों तथा लक्ष्मण की सौलह हजार रानियों का विवरण मिलता है।

वाल्मीकि और तुलसी राम को वन यात्रा में कहीं तैरते नहीं बताते परन्तु 'पउम चरिय' में राम वन-स्थित भयंकर नदी को तैर कर पार करते हैं। चित्रकूट को जैन रामकथा में गरिमा नहीं मिली। राम-लक्ष्मण तथा सीता का वनवास तथा क्रियाकलाप विमलसूरि में वाल्मीकि से सर्वथा वैभिन्न्य की स्थिति रखता है। वाल्मीकि रामायण का सीता-हरण पंचवटी में होता है परन्तु जैन रामकथा में दण्डक वन में। वालि जैन दीक्षा लेता है। 'पउम चरिय' में राम-रावण युद्ध में सीता का भाई भामण्डल भी राम की मदद के लिए वाहिनी सहित आता है। रावण का वध राम न करके लक्ष्मण के हाथों उसका वध होता है। वहां के लवकुश यहां अनंग-लवण तथा मदनांकुश हैं। नारद दोनों कथाओं में तरो-ताजगी के साथ वर्तमान है।

विद्याधर, राक्षस तथा वानरों के प्रति जैन दृष्टिकोण हिन्दुओं की रामकथा की अपेक्षतया अधिक उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण है। 'पउम चरिय' के पच्चीसवें उद्देशक और 'पउम चरिउ' की बीसवीं संधि में रामकथा का शुभारम्भ है। दोनों में विद्याधर-राक्षस-वानर के वंशों के वर्णनों के विस्तारपूर्वक महत्व मिला है। 'रामायण' विद्याधर को देवयोनि मानती है परन्तु 'पउम चरिय' मानव। जैनों ने इनको एक मानव कुल की विविध प्रशाखाओं के रूप में देखा परखा है।

विमलसूरि की यह नवीन प्रसंगोद्भावना है कि राम-जन्म के पूर्व, दशरथ तथा जनक एक साथ देशाटन करते हैं। विमलसूरि अनेक गौण कथाओं को जन्म देते हैं यथा वज्रकर्ण, कपिल, अतिवीर्य, वनमाला, रामगिरि आदि। लक्ष्मण कोटिशिला उठा वानरों में शक्ति का संचार करते हैं। राम-सुग्रीव तथा बालि-सुग्रीव के प्रसंग में साहसगति विद्याधर की कल्पना विमलसूरि का मौलिक सृजन है।

अंत में सीता सर्वगुप्त नामक मुनि से दीक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करती है। डा० शंकटाप्रसाद उपाध्याय ने लिखा है कि वाल्मीकीय रामकथा का प्रवाह इस प्रकार विमलसूरि के हाथों अनेक परिष्कारों-तिरस्कारों एवं आविष्कारों के मार्ग से होता हुआ अपनी चरम परिणति को प्राप्त होता है। ब्राह्मण परम्परा से प्रत्येक विलगाव साभिप्राय है और वह अभिप्राय है सभी मुख्य पात्रों का जैन होना दिखाना। इसके अतिरिक्त आधिकारिक कथा के बीच-बीच में जो जैन धर्म, शिक्षा, सृष्टि-व्याख्या, साधु-धर्म, पूर्वभव-वृत्तान्त, कर्म-सिद्धान्त, जैन-कर्मकाण्ड आदि का विवेचन मिलता है, वह सब विमल की कल्पना से प्रसूत नवीनता है। डा० हीरालाल जैन (भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान) का अभिमत विचारणीय है कि राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्यभाव रहा है व उन्हें अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी त्रेसठ शलाका पुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित का वर्णन किया है। जो लोग जैन-पुराणों को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हंसते हैं कि इन पुराणों में महापुरुषों को जैनमतावलम्बी माना गया है व कथाओं में व्यर्थ हेरफेर किए गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं जाती कि कितनी आत्मीयता से उन्हें अपने भी पूज्य बना लिया गया है और इस प्रकार अपने तथा अन्य धर्मों, देश भाइयों की भावना की रक्षा की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओंकारं बिन्दु संयुक्त.........

श्री नन्दकिशोर जैन एम० ए०
सम्पादक—"ज्ञानकीर्ति"
चौक, लखनऊ

(1)

बिन्दु युक्त ओंकार जिसे, योगी जन नित प्रति ध्याते हैं।
जिसकी भक्ति प्रसाद भव्यजन, काम मोक्ष सुख पाते हैं ।।
जिसकी गुरु, गम्भीर, निरन्तर, ध्वनि सुन पाप नसाते है।
जग के अघ-प्रक्षालक को हम, सविनय शीश नवाते हैं ।।

(2)

जिसकी महिमा सुर, नर गाते, तीर्थ समान बखानी है ।
मुनीश्वरों से पूजित ऐसी, सरस्वती जिन बानी है।।
दूर करें अज्ञान अंधेरी, आंजें ज्ञान सलाई ज्यों ।
मोहित, बन्द नयन जो खोलें, वंदन ऐसे गुरुवर को ।।

(3)

सकल कलुष विध्वंस करे जो, पथ कल्याण दिखाता है।
धर्म समन्वित शास्त्र वही, मन भव्य-जनों के भाता है।।
वक्ता, श्रोता उभय पक्ष को, अरु जो शास्त्र प्रदाता है ।
पुण्य प्रकाशक, पाप प्रणाशक, जिन-वाणी सुखदाता है ।।

(4)

गिरी सम श्री सर्वज्ञ देव मुख, मूल रूप से आई है ।
गणधर पुनि प्रति गणधरादि, ग्रन्थों की धार बहाई है।।
ऐसी पतित पावनी माता, सबको गले लगाती है ।
सावधान हो सुनिए प्रियवर, शान्ति हृदय सरस तो है।।

(5)

मंगल कारक महावीर प्रभु, गौतम गणधर मंगल रूप।
करें कुंदकुंदादिक मंगल, मंगल दा जिन धर्म अनूप ।।
यह मंगल चित लाते सत्वर, पाप सभी गल जाते हैं ।
करते हैं कल्याण जीव का, संकट सभी नशाते हैं ।।
इसीलिए तो सब धर्मों में, सर्व प्रधान बखाना है ।
जयतु-जयतु जय जय जिन शासन, सुख अरु शाँति खजाना है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राय: ऐसा समझा जाता है कि मुसलमान शासक मूर्तियों के और वह भी दिगम्बर जैन मूर्तियों तथा दिगम्बर साधुओं के विशेषकर कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हजारों जैन मंदिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया था, यह बात इतिहास से सिद्ध भी है किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है जो अब तक प्राय: अप्रचारित रहा है। प्रस्तुत रचना मुस्लिम शासकों द्वारा जैनों, उनके धर्म तथा आयतनों के प्रति बरती गई सहानुभूतियों और उन पर जैन धर्म के प्रभाव का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करती है। धार्मिक सहिष्णुता के प्रचार प्रसार के लिए, जिसकी कि वर्तमानकाल में अतीव आवश्यकता है, ऐसी रचनाओं का महत्व स्वयंसिद्ध है।

—पोल्याका

मुस्लिम राज्य में जैन धर्म

● श्री दिगम्बरदास जैन, एडवोकेट,
सहारनपुर

The Muslim Emperors, who are known for their cruel behaviour, were also influenced by the flowless noble lives of Jaina Acharyas, Jain Saints and Jain teachings. Jain Acharyas by theii character, attainments and scholarship commanded respect of even Mohammaden sovereigns like Allaudin and Aurangzeb.

—Prof. Ramaswami Ayanger; Studies in South Indian Jainism, Vol. II, Page 132.

1. गौरी वंश (1175–1206 ई०) के मोहम्मद गौरी के राज्य-काल में नग्न जैन साधु भारी संख्या में बिना किसी रोक-टोक के भरे बाजारों में विहार करते थे। उनकी नग्नता का मोहम्मद गौरी पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि उन की बेगम को भी नग्न जैन साधुओं के दर्शनों की अभिलाषा हुई। मोहम्मद गौरी ने नग्न दिगम्बर जैनाचार्य को अपनी राज्य सभा में बुला कर उन का बड़ा सम्मान किया।[1]

2. गुलाम वंश (1206-1290 ई०) के राज्य काल में मूलसंघ सेनगण के आचार्य दुर्लभसेन आदि दिगम्बर जैन साधु विनयपूर्वक विहार करते थे।[2] कुतबुद्दीन (1206–1210 ई०) पर जैनाचार्य जिनप्रभसूरि की मधुर व प्रभावशाली वाणी का बड़ा प्रभाव था।[3] इतिहासरत्न श्री अगरचन्द नाहटा के शब्दों में जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने कुतबुद्दीन को प्रतिबोध दिया।[4] पाण्डु देश के जैन राजा समरसिंह को ससंघ जैन तीर्थों की यात्रा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का राज्य-फरमान दिया और जब वह विशाल संघ यात्रा से वापस लौटा तो कुतुबुद्दीन ने इनका बड़ा आदर-सम्मान किया ।[5] नासिरुद्दीन (1246-1266 ई०) के राज्यकाल में जैनाचार्य पदमदेव की भविष्यवाणी से कि अगले 3 सालों में भारत में अत्यन्त भयानक अकाल पड़ने वाला है, कच्छ देश के जैन सेठ जगडु शाह ने जनता के हित के लिए इतना अधिक अनाज करोड़ों रुपयों का खरीदा कि समस्त भारत के 215 नगरों में बड़ी विशाल भोजन शालाएं खुलवाई जहां से प्रतिदिन 5 लाख व्यक्तियों को बिना जात-पांत के भेद के बिना मूल्य भोजन मिलता था । गुजरात, सिन्ध, मिवाड़, कन्धार, मालवा, काशी आदि देशों के राजाओं को ही नहीं बल्कि दिल्ली के सम्राट् नासिरुद्दीन को 62 लाख 10 हजार मन अनाज दिया । वह उसका मूल्य देने लगा तो इन्कार कर दिया ।[6] बलबन (1266–1290 ई०) के दो राज्य मन्त्री जैन थे । जिनके नाम सूर और वीर थे ।[7] इस के राज्य-काल में अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित और जैन मन्दिरों में बड़ी धूम-धाम से स्थापित हुई ।[8]

3. खिलजी वंश का सुप्रसिद्ध सम्राट अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई०) जैन साधुओं के आचरण और ज्ञान से बड़ा प्रभावित था । दिगम्बर जैन आचार्य महासेन की सुप्रसिद्धि सुनकर उसने उन्हें अपनी राज्य-सभा में बुलाया । उनके ज्ञान और आचरण से प्रभावित होकर अपना मस्तक नग्न आचार्य महासेन के चरणों में झुकाया ।[9] अलाउद्दीन ने श्वेताम्बर जैनाचार्य रामचन्द्र का भी बड़ा सम्मान किया ।[10] सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने दिगम्बर आचार्य श्रुत वीर स्वामी के भी दर्शन किए ।[11] अलाउद्दीन की राज्य-सभा में राघो चेतन के साथ नग्न आचार्य महासेन का बाद हुवा ।[12] अलाउद्दीन के खजान्ची और रत्नपरीक्षक ठाकुर और फेरू जैन अणुव्रती श्रावक थे ।[13] अलाउद्दीन का नगर सेठ पूर्ण चन्द भी जैन धर्मी था जिसका सुल्तान बड़ा आदर सत्कार करते थे ।[14] राज्य टकसाल का अधिकारी भी जैन था ।[15] जिस के प्रभाव से अलाउद्दीन ने 32 राज्य फरमानों द्वारा जैनधर्म की प्रभावना की ।[16] राजाज्ञा द्वारा अलाउद्दीन ने जैन मुनियों को अनेक प्रकार की सुविधा दी और जैन तीर्थ स्थानों पर जीव हत्या न करने के आदेश जारी किए ।[17] इन फरमानों की प्रतिलिपियां आज भी नागोद और कोहलापुर के भट्टारकों के पास सुरक्षित है ।[18] मेवाड़ के महाराणा हमीरसिंह जैन धर्म अपनाते थे । वे इतने योद्धा और वीर थे कि अलाउद्दीन को उनके देश पर उन के जीवन काल में आक्रमण करने की हिम्मत न पड़ सकी और उनसे मित्रता कर ली ।

4. तुगलक वंश के गयासुद्दीन तुगलक (1320-1325 ई०) पर जैन सेठ हरू के पुत्र राय पति का जो एक उत्तम श्रावक व्रति जैन था, बड़ा प्रभाव था, जिनको गयासुद्दीन ने समस्त भारत के तीर्थों की ससंघ यात्रा का ही फरमान नहीं दिया बल्कि प्रान्त राज्यों को भी आदेश दिया कि जहां जहां जैन संघ जावे इनको पूरा सहयोग दिया जावे और इस बात का ध्यान रखा जावे कि उनके संघ की यात्रा में किसी प्रकार का भंग न पड़ने पावे[19]। गयासुद्दीन ने जैन भट्टारक मल्लिभूषण का अपनी राज्य-सभा में बुला कर बड़ा आदर सम्मान किया[20] । मोहम्मद तुगलक (1325–1351 ई०) ने जैन आचार्य सिंह कीर्ति को अपनी राज्य सभा में बुलाकर बड़ा सम्मानित किया था[21] । इन्होंने उस की राज्य सभा में बौद्ध आदि अनेक धर्मों के विद्वानों पर वाद में विजय प्राप्त की थी[22] । डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार मोहम्मद तुगलक ने जैनियों को न केवल तीर्थों की यात्राओं बल्कि जैन नये मन्दिरों के[23] बनवाने और प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार की सहुलियतें दी । जैनाचार्य जिनप्रभ सूरि का सुल्तान पर बड़ा प्रभाव था । इन्होंने अपना सुप्रसिद्ध इतिहास "विविध तीर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्प'' इन्हीं के राज्य-काल में रचा [24]। और इनको जैन प्रभावना के अनेक फरमान दिये[25]। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का भी मोहम्मद शाह तुगलक पर बड़ा प्रभाव था। इन्होंने भी इस के राज्य-काल में अनेक महान प्रभावशाली जैन ग्रंथ रचे [26]। फिरोजशाह तुगलक (1351-1388 ई०) ने दिगम्बर जैन साधुओं के तप-त्याग, ज्ञान तथा आचरण की प्रसिद्धि सुनकर उन्हें न केवल अपनी राज्य-सभा में बल्कि अपने राजमहल में सादर बुलाया। इसकी बेगम ने भी जैन मुनि के दर्शन किये[27]। देश, काल और क्षेत्र का विचार करते हुये जैनाचार्य ने अपने एक शिष्य को लंगोटी लगाकर राज्य सभा में जाने का आदेश दिया और स्वयं तपस्यार्थ निर्जन बन में चले गये। इस प्रकार वह पहला भट्टारक हुवा। उसने इस का प्रायश्चित लिया फिर भी उस समय से भट्टारकों की एक नयी सम्प्रदाय प्रचलित हो गई[28]। हालांकि वे सदा जैन धर्म की प्रभावना और जैन सिद्धान्तों का पालन करते रहे[29]। मो० शाह तुगलक (1388–1394 ई०) पर भी जैनाचार्य जिन प्रभसूरि का बड़ा प्रभाव था। उन के राज्य–कोष में भ० महावीर की मूर्ति थी[30]। वह उसने आचार्य महाराज को भेंट की। इस विचार से कि सूरि जी महाराज को दूर से पैदल आने में कष्ट होता होगा सम्राट मो० शाह ने अपने महल के निकट सरकारी खर्चे से जैनियों के लिए भट्टारक-सराय नाम बस्ती बनवा कर तथा राज्य-भार पर ही जैन मन्दिर निर्माण करा कर भ० महावीर की वह मूर्ति जो राज्य-कोष में थी विनयपूर्वक उस मन्दिर में विराजमान करा दी[31] तुगलक राज्य में अनेक तीर्थंकरों की प्रतिमायें निर्मित और प्रतिष्ठित[4] होकर विशाल[1] पंच कल्याणक[2] उत्सव सहित जैन मन्दिरों में विराजमान होती रही [32]। वास्तव में तुगलक राज्य में जैन धर्म को बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी[33]।

5. सैयद वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् मुबारिक शाह (1421-1430 ई०) का राज्य मन्त्री साह हेमराज जैन धर्मी था जिस ने सम्राट की आज्ञा से एक भव्य जैन मन्दिर बनवाया और अनेक तीर्थंकरों की जैन मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उसमें बड़ी धूमधाम से विराजमान कराई। तथा समस्त 24 तीर्थंकरों के प्रतिविम्ब युक्त पाषाणपट्ट निर्माण कराये। हस्तिनापुर आदि अनेक तीर्थ यात्राओं के आज्ञा-पत्र जारी किये। जैन मुनि यशः कीर्ति आदि ने स्थान-स्थान पर विहार कर के जैन धर्म का प्रचार किया। पाण्डव पुराण आदि अनेक महान जैन ग्रन्थों की रचना और प्राचीन जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार समस्त भारतवर्ष में हुआ।[34]

6. लोधी वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट बहलोल लोधी (1451-1489 ई०) पर दि० जैन आचार्य जिनचन्द्र (1450-1518 ई०) का बड़ा प्रभाव था जिन्होंने इसके राज्य-काल में अनेक तीर्थंकरों की प्रतिमायें तथा समस्त 24 तीर्थंकरों की मूर्तियों के पट निर्माण कराकर अनेक जैन मन्दिरों में विराजमान कराये[35]। सिकन्दर लोधी पर दि० जैन आचार्य प्रभाचन्द्र का बड़ा प्रभाव था[36] जिस के कारण इनके राज्यकाल में 24 तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित होकर जैन मन्दिरों में स्थापित हुईं और जैन धर्म प्रभावना के अनेक कार्य हुए[37]। दि० जैनाचार्य विशाल-कीर्ति का सिकन्दर लोधी ने बड़ा सम्मान किया। नग्न जैन[38] साधु बिना किसी रोक-टोक के इन के राज्य में विहार करते थे। सम्राट के हृदय पर जैन साधुओं के ज्ञान, तप और आचरण का बड़ा प्रभाव था[39]। इब्राहीम लोधी (1517-1526 ई०) के राज्य काल में अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ जैन मन्दिरों में स्थापित हुईं। चौधरी टोडरमल ने 1518 ई० में महापुराण लिखा[40]।

7. बाबर (1526-1530 ई०) जैन कवि महाचन्द्र का बड़ा सम्मान करता था। बाबर के नगर सेठ साहु, साधारण जैन थे जिन्होंने बाबर से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज्ञा लेकर जैन मन्दिर बनवाया और हस्तिनापुर आदि जैन तीर्थों के लिए संघ चलाया[41]। साहुजी के पुत्र सेठ नेमिदास ने बाबर की आज्ञा से तीर्थंकरों की अगणित प्रतिमायें निर्माण कराकर पंच कल्याणक उत्सव द्वारा इनकी प्रतिष्ठा कराकर अनेक जैन मन्दिरों में विराजमान कराईं[42]।

8. हुमायू (1530-1540 ई०) के राज्य काल में इस युग के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का आदि पुराण रचा गया जिसमें उनके जीवन से सम्बन्धित 500 चित्र लगभग 450 वर्ष प्राचीन चित्रकला के महत्व को सिद्ध करते हैं। इस सचित्र आदि पुराण की एक प्रति आज भी जयपुर के तेरापंथी दि० जैन मन्दिर में सुरक्षित है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान पं० बनारसीदास के बाबा मूलचन्द जैन का हुमायू बड़ा आदर सत्कार करते थे और उनको जागीर प्रदान की थी[43]।

9. शेर शाह सूरि (1540-1555 ई०) के राज में जहां भी चोरी आदि अपराध होते थे, वहां के शासक द्वारा मुखिया और कोतवाल को भी उतना ही दण्ड दिया जाता था जितना अपराधी को दिया जावे। इस लिए इसके राज्य में जनता खुले किवाड़ सोती थी[44]। पिशावर से कलकत्ते तक पक्की सड़क बनवाई जिसको आजकल G. T. Road कहते हैं। प्रत्येक वर्ष पौने दो लाख स्वर्ण मुद्राएँ न केवल मसजिदों बल्कि मन्दिरों तक को भेंट देता था और हिन्दुओं को भी बड़े बड़े पदों पर नियुक्त कर रखा था[45]। जैन नग्न साधु इसके राज्य में बिना रोक-टोक विहार करते थे[46]। दि० जैनाचार्य विशाल कीर्ति का शेरशाह सूरि बड़ा सम्मान करता था[47]। इस के राज्य काल में भी अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियां निर्मित, प्रतिष्ठित और मन्दिरों में विराजमान हुईं[48]।

10. अकबर महान (1556–1605 ई०) पर जैन साधुओं का बड़ा प्रभाव था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ के शब्दों में जैन साधुओं ने निश्चित रूप से अकबर को वर्षों तक जैनधर्म की शिक्षा दी जिसके कारण उसका आचरण इतना अधिक बदल गया कि संसार यह समझने लगा कि अकबर जैन-धर्मी हो गया[49]। जैन त्यौहारों पर जीवहत्या करने वाले अपराधी को मृत्यु दण्ड घोषित किया[50]। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० ईश्वरी प्रसाद के अनु–सार अकबर द्वारा स्वयं मांस-भक्षण का त्याग और प्राणियों को किसी प्रकार का दुःख देने पर रोक लगाना केवल जैन साधुओं के प्रभाव का फल था[51]। स्वयं अकबर के विचार उस के राज्य मन्त्री अबुल फजल ने आइना–ए–अकबरी में लिखते हुए बताया है कि अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और मिष्टान्न प्राप्त होने पर भी मनुष्य अपने पेट को पशुओं की कब्र बना रहा है[52]। अकबर का आचरण देखकर पुर्तगीज पादरी पीन हेरू ने जो अकबर के समय भारत की यात्रा को आया था, 3 सितम्बर 1595 ई० में अपने बादशाह को अपने पत्र में सूचित किया कि अकबर जैन धर्म का अनुयायी है[53]। मुस्लिम बादशाहों के खजान्ची साधारण रूप से जैन धर्मी होते रहे परन्तु अकबर की टकसाल का महा-अधिकारी साह रनवीर भी जैन था जिस की ईमानदारी से प्रसन्न होकर अकबर ने उसे भूमि जागीर में दी जिस में उस ने एक नगर बसाया और अपने नाम साह रनवीर पर उस नगर का नाम सहारनपुर रखा[55]। अकबर की जैन-धर्म में अधिक श्रद्धा जानने के लिये आइना-ऐ-अकबरी के तीसरे भाग का 5 वां अध्याय देखिये जिसका हिन्दी अनुवाद जैन सन्देश के शोधांक दिनांक 10 अक्टूबर 1963 के पृ० 218 से 233 देखिये।

11-जहांगीर (1605-1627 ई०) को जैन साधुओं पर बड़ी श्रद्धा थी। वह अपनी राज्य सभा में उनका बड़ा सम्मान करता था[56] जिनके प्रभाव से उसने जैन धर्म की प्रभावना के अनेक फरमान जारी किये[57]। जैन आचार्य जिनसेन को युग प्रधान की उपाधि प्रदान की[58]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहमदाबाद के नगर सेठ सेवा सोम ने जैन मन्दिर इसके राज्य काल में बनवाया[59] जैन पर्व दशलक्षण के दसों दिन जीव हत्या बन्द रहती थी[60]। शत्रुञ्जय में नगर सेठ शान्तिदास ने 10वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का मन्दिर जहांगीर के समय में बनवाया था[61]। 1616 ई० में पंच कल्याणक उत्सव द्वारा तीर्थंकरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा और स्थापना हुई[62]।

12–शाहजहाँ ने (1627–1658 ई०) पक्का मुसलमान होने पर भी अपने जैन सेनापति को 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति अपने राज–तम्बुओं में रखने की आज्ञा दे रखी थी जिस की पूजा वह सैनिक कार्य आरम्भ करने से पहले किया करता था। अहिंसा व्रती होने पर भी यह सेनापति इतना योद्धा और वीर था कि शाहजहां ने अपने लाल किले के निकट ही दि० जैन लाल मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी। वह जैन मन्दिर तथा पार्श्वनाथ की वह मूर्ति जो उसके तम्बुओं में बिराजमान थी इस मन्दिर की आज भी मूल नायक प्रतिमा है[63]। यही कारण है कि लाल मन्दिर शाहजहां के समय का और पार्श्वनाथ मूर्ति सिकन्दर लोधी के राज्यकाल की 1491 ई० की प्रतिष्ठित है।

औरंगजेब जब युवक था तो उसने एक जैन मन्दिर को तुड़वा दिया। शाहजहां को पता चला तो उसने औरंगजेब को धमकाया और राज्यभार पर पहले जैसा ही शानदार मंदिर बनवा दिया और उसमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित कराई[63]। शाहजहां ने जैन धर्म की प्रभावना में पूरा सहयोग दिया। कुछ मुसलमानों ने शाहजहाँ से फरियाद की कि लालसिंह अपने घर में इतने जोर से अपने भगवान के भजन गाता है कि निकट की मसजिद में नमाज पढ़ने वालों को बाधा होती है। शाहजहां ने निर्णय दिया कि ऐसा कोई कानून नहीं है कि हिन्दू मसजिद के पास अपने भगवान का नाम न ले सकें। जब मुसलमान नमाज जोर से पढ़ सकते हैं तो हिन्दू जोर से भजन गाने में अपराधी कैसे ? शाहजहां को इस बात का दुःख हुआ कि हिन्दुओं के पास कोई मन्दिर नहीं जिस के कारण उन्हें भगवान का नाम घर पर ही लेना पड़ता है। उसने मसजिद के पास ही सरकारी भूमि पर राज्य भार से भगवान की पूजा के लिये एक मन्दिर बनवा दिया[64]। शाहजहां जैन साधुओं और विद्वानों का भी बडा आदर करता था। जैन महाकवि पं० बनारसीदास का उसने राज्य सभा में बुलाकर बड़ा सम्मान किया था[65]।

13. औरंगजेब (1658–1707 ई०) अत्यन्त मुस्लिम पक्षी बादशाह था परन्तु अपने तप, ज्ञान और आचरण से जैन साधुओं ने उसका कठोर हृदय भी जीत लिया था, इसलिये वह उनका उपदेश सुनता था, उनका बड़ा सम्मान करता था[66]। डा० बीनयर औरंगजेब के राज्य काल में भारत की यात्रा को आये थे उन्होंने नग्न जैन साधुओं को बडे बड़े बाजारों तक में बिना किसी रोक टोक के विहार करते देखा। स्त्रियां तक उनकी भक्ति करती थीं[67]। चान्दखेडी में भगवान महावीर का मन्दिर, तीर्थंकर– मूर्तियों की स्थापना तथा पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं औरंगजेब के राज्य काल में हुई[68]।

लालमन्दिर में प्रतिदिन नकारा बजा करता था। औरंगजेब का खयाल था कि उस की आवाज उस की निद्रा में बाधा डालती है क्योंकि लाल किला लाल मन्दिर के निकट था। उसने यह बहाना बना कर कि राज्य कार्यों में नकारे की आवाज से बाधा होती है उसके बन्द करने का आदेश दे दिया। आदेशानुसार नकारा नहीं बजाया गया फिर भी वह स्वयं बजता रहा। औरंगजेब ने पूछा—नकारा क्यों बन्द नहीं हुआ ? कोतवाल ने कहा कि बजाने वालों ने तो बन्द कर दिया परन्तु वह स्वयं ही बज रहा है। औरंगजेब को विश्वास न आया। स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दिर में आया और बिना बजाये नकारा बजने को उसने भगवान का अतिशय मान अपना आदेश वापस ले लिया और नकारा सदा की भांति बजाने का आदेश दिया।[69]।

14. मोहम्मद शाह (1729–1748 ई०) के मौलवियों ने फतवा दे रखा था कि हदीस के अनुसार जीव हिंसा उचित नहीं है इसलिये सम्राट् मोहम्मद शाह ने अपने राज्य में जीव-हिंसा बन्द कर दी थी।[70] दि० जैन मन्दिर खजूरतला मस्जिद दिल्ली इसी के राज्य काल में 1741 ई० में निर्मित हुआ था।[71] मोहम्मद शाह के कमसरियत विभाग के अधिकारी आज्ञामल जैन ने इसी के राज्य काल में दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर 1743 ई० में बनवाया था।[72] सहारनपुर में गुलाम वंशी मुस्लिम नवाब का राज्य था। यहां के मोहला संघियान में जैन तो बहुत रहते थे परन्तु, जैन मन्दिर कोई नहीं था। जैनियों के प्रतिनिधि नवाब से मिले और जैन मन्दिर बनवाने की आज्ञा मांगी। नवाब ने कहा कि वहाँ मस्जिद बनेगी। जैनियों ने कहा कि हमारे मोहले में एक भी मुसलमान नहीं रहता। नवाब ने उत्तर दिया कि इस से आप को क्या मतलब ? जब सहारनपुर के हर मोहले में मस्जिद बनी हुई है तो कोई कारण नहीं कि आपके मोहले में न बने। उसने मस्जिद बनवाना आरम्भ करा दिया। इसी मोहले में हकीम ठाकुरदास जैन रहते थे जो गरीब अमीर सब का इलाज निःशुल्क करते थे। उनके इलाज से मोहम्मद शाह की बेगम को आराम हो गया था। बादशाह ने प्रसन्न होकर कई ग्राम उन्हें पुरस्कार में देना चाहा परन्तु उन्होंने नहीं लिये। मोहले वालों के दुःख को अनुभव कर के वे तुरन्त देहली पहुंचे और बादशाह सलामत को सारा हाल सुनाया। बादशाह ने तुरन्त नवाब साहिब को आदेश दिया कि मोहला संघियान में मस्जिद बनवाना तुरन्त बन्द कर दो। हमने यह भूमि जैनियों को प्रदान कर दी है इसलिये उस स्थान पर जैन मन्दिर सरकारी खर्च पर बनवाया जावे। मन्दिर की नींव खोदते हुये भ० महावीर की हजारों वर्ष प्राचीन अत्यन्त मनोज्ञ सातिशय मूर्ति भू-गर्भ से प्राप्त हुई जो आज तक इसी मन्दिर में विराजमान है। यह विशाल मन्दिर 1745 में बनकर तैयार हुवा था।[73]

15. आलमगीर द्वि० (1754–1764 ई०) ने हकूमतराय जैन की सुप्रसिद्धी सुन कर हिसार (हरियाणा प्रान्त) से देहली बुलाकर नगर सेठ की पदवी प्रदान की। इनके सुपुत्र हरसुखराय जैन को अपना खजान्ची बनाया। इनकी ईमानदारी और राष्ट्रीय सेवाओं से प्रसन्न होकर आलमगीर ने इनको "राजा" की उपाधि भेंट की और इनको अपनी राज्य सभा के नौ रत्नों में स्थान दिया। लाल किले में बादशाह ने 9 रत्नों के चित्र अंकित कराये थे उन में इनका भी चित्र है। धर्मपुरा देहली का ऐतिहासिक विशाल जैन मन्दिर इन्होंने इन के राज्यकाल में बादशाह की आज्ञा से बनवाया था।[74]

16. हैदरअली दक्षिण भारत का अन्तिम बादशाह था। बड़ा कट्टर मुसलमान था परन्तु जैनियों की निष्पक्ष देश सेवाओं से प्रभावित होकर उसने तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा के खर्च के लिये अनेक ग्राम जैन मन्दिरों को भेंट किये।[75]

---

1. It was nudity of Jain Saints, whom Sultan found in a good number in India (ELLIOT : History of India, Vol. I P. 6) which specially attracted the attention of Muslim Sultan Mohd. Gori, who at least entertained

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

one of them, since his wife desired to see the Chief of Digamberas.—

(i) Indian Antiquary Vol. XXI P. 361.

(ii) New Indian Antiquary Vol. I. P. 517.

2. वीर, Vol. IX पृ० 153.
3. अगरचन्द नाहटा : ऐतिहासिक काव्य संग्रह पृ० 11–13.

4–5. जैन सिद्धान्त भास्कर, जनवरी 1941, पृ० 102.

6. विस्तार के लिये किस-किस प्रान्त के किस-किस राजा और बादशाहों को कितना अनाज बिना मूल्य दिया देखो—कल्याण मार्च 1954, पृ० 105.
7. Sur and Vir, the Jain Chiefs of Pragavator clan were the ministers of Ghyasudin (Balban)—Dr. B. A. Saletore : Karnataka Historical Review, Vol. VI Page 85.
8. जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा) भाग 1 अंक 4, पृ० 109.
9. Allaudin Khilji hearing fame of naked Jain Saints, called one Jain Acharya Maha Sen appeared in his Darbar and held religious discussions with his adversaries. THE SULTAN BENT his head before his profound learning and asceticism.—Jain Sidhant Bhaskar Vol. I Part IV, P. 109.
10. Allaudin honoured Svetamber Jain Acharya Ram Chandra. —Per Jainismis (Berlin) P. 66.
11. Allaudin also meet with Digamber Saint Shruti Vir Swami—Jain Sidhant Bhaskar Vol. I Part II P. 5.
12. अनेकान्त, अप्रेल 1972, पृ० 46.

13–18. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग 1 अंक 4, पृ० 109,

19. अगरचन्द नाहटा व भंवरलाल नाहटा : शंकरदान शुभ, पृ० 16.
20. भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) प्रस्तावना, पृ० 22.
21. It is evident from the Padmavati Basti Stone inscripti n & Humsa (Mysore) that Sultan Mohd. Tuglaq entertained Karnataka Jain Guru Sinh—Kirti,—Dr. Kamta Pd; The Religion of Tirthankaras (Aliganj) P. 511.
22. Jain Acharya Sinh—Kirti, the great logician won renown in the Court of Delhi Sultan Mohd. Tuglaq. The Jain Teacher is expressly stated to have defeated Buddha & other speakers in the Delhi Court—Mediaevel Jain Page 371.
23. अगर चन्द नाहटा कृत "शासन प्रभावक श्री जिनप्रभ सूरि".
24. जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष 15, पृ० 29

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25 (i) भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) प्रस्तावना

(ii) अनेकान्त, अप्रेल 1972, पृ० 46।

26. प्रशस्ति (वीर सेवा मन्दिर) भाग 2 प्रस्तावना, पृ० 80.

27-28. Sultan Firoz Shah Tuglaq invited Digamber Jain Saints and entertained them at his Royal Court and Palace. Hearing the great fame and learning his queen desired to see Digamber Jain Saint. For her sake the Jaina Saint put on a piece of cloth to hide his nakedness, appeared before her. He took Prayeshchit for his undue liberty, the example set by him was soon adopted by his fallowers and a new sect of Bhattarkas with cloth yatis came into existence.—Bhattarka Mim nsa (Surat) P. 2.

29. Bhattarkas were ever alert to keep the tradition and glory of Jainism and brought many social changes.—Der Jainism us (Berlin) P. 66.

30 जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष 13, पृ० 104.

31. The Sultan constructed a Jain temple and placed therein a Jain image.—Progress Report of Archaeological Survey Western Circle, 1908–09 P. 550.

32. विस्तार के लिये श्री नाहटा कृत विशालकाय, सचित्र "बीकानेर मूर्तिलेख संग्रह।"

33. During the Tuglaq reign Jains enjoyed much freedom, Since many kings of this dynasty entertained Jain Saints.—Karnataka Historical Review Vol. VI Page 85.

34. प्रशस्ति संग्रह (वीर सेवा मन्दिर देहली) भाग 2 प्रस्तावना.

35. विस्तार के लिये श्री अगरचन्द नाहटा व भंवरलाल नाहटा का सम्पादित सचित्र ग्रन्थ "बीकानेर के मूर्तिलेख संग्रह"।

36. आत्म धर्म, मार्च 1969, पृ० 151.

37. महापुराण (माणकचन्द जैन ग्रन्थ माला) प्रस्तावना, पृ० 15.

38–40. मद्रास व मैशुर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक पृ० 163–322,

41–42. दिल्ली जैन डाइरेक्टरी, पृ० 9.

43. भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) पृ० 241.

44–45. सामाजिक शिक्षा (स्कूलों में पढाई जाने वाली) पृ० 43–46.

46. Malik Mohd. Jayasi, an officer of Shershah Suri Govt. wrote a Classical Poem Padmavati" in Hindi, in which he referred Naked Jain Saints (2–607) quoted in "The Religion of Tirthankaras (Aliganj)

47. "Suri honoured The Jain Guru Vishal Kirti of Karnataka"—Dr. Seletore Karnataka Historical Review, Vol. IV PP. 78–81.

46. विस्तार के लिये अगरचन्द नाहटा व भंवरलाल नाहटा कृत, बीकानेर के जैन मूर्तिलेख संग्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

49. Jain holy teachers, undoubtly gave Akbar prolonged religious instructions for years, which influenced his actions to their doctrines so far that he was reputed to have been converted into Jainism—V. Smith; Jain Teachers of Akbar.

50. Killing of animals on certain days of the year was made capital sentence by Akbar for his contact with Jains on Jain Festivals Prof. A. N. Banerjee; Religion of Akbar.

51. Akbar's giving up meat and prohibition of injury to animal life were due to the influence of Jain Teachers. —Dr. Ishwari Pd; Jain Journal (Calcutta) Oct., 1966, P. 58.

52. Akbar himself says, "It is indeed from ignorance and cruelty that although various kinds of food are obtainable, men are bent upon injury living creatures and lending, a ready hand making themselves a tomb for animals. —Aina-i-Akbari, translated in English by H. Blockmann. Vol. I P. 61.

53. Pinheiro was Jesuis Missionary, who visited India during the reign of Akbar, experiencing the habits and association with Jains, wrote to his king, "He (Akbar) follows the sect of Jainism"—Smiths, Akbar, P. 2[illegible]1

54. (i) Delhi Jain Directory (1st Edn.) P. 228.

(ii) The city of Saharanpur was founded by a Digamber Jain Shah Ranbir, who got the locality in Jagir from Emperor Akbar. His son Gulab Rai mirged Delhi, where he built a Jain temple in Kucha Sukha Nand.—cf. No. 280 in the list of Mohammadan & Hindu Monuments. Vol. I.

55-56. नागरी प्रचार पत्रिका भाग 2 पृ० 249.

57. Indian culture, Vol. IV No. 3, PP. 311-312.

58. Jahangir honoured Jain Acharya Jinsen, the disciple of Jin Chandra and conferred the title of Yug Pradhan—WORLD-CHIEF".

59. Four-side-facing Jain temples of 1st Tirthankara Rsabha-Deo was built by Sewa Som of Ahmedabad in 1618 A. D. During the reign of Jahangir—Burgess notes of visit W. S. Hills, 1869.

60. It is worthy to note that Jahangir had forbidden hunting, fishing & other slaughter of animals in his reign during the 10 days of Pajju Sane—Pt. Someru Chand Diwakar; Religion & Peace, II Edn. 1962 Introd P. XVIII.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

61. Epigraphica India, Vol. II P. 72.

62. जैन शिलालेख संग्रह भाग 5, प्रस्तावना पृ० 33.

63. When Aurangzeb was a Prince, he destroyed Jain Temple built by Seth Shanti Das of Ahmedabad in 1638 A.D. When it came into the notice of Shah Jahan, he was very much displeased with the action of Aurangzeb and ordered for its conversion and reconstruction with the same prior attraction at the state cost; and also for installation of Tirthankaras' Jain images. Ancient Jain monuments of Bombay Province, P. 6.

64. Some Muslims complained to Shah Jahan that Bala Singh disturbs their prayer in mosque by his loud voice of hymn. Shah Jahan ordered, "There is no law that a Hindu can not recite his prayer near mosque. It is pity that there is no temple for him for his prayer. So a temple be constructed at state cost near the mosque.—Din Duniya, Delhi, January 1960, P. 49.

65. Shah Jahan favoured and honoured Jain poet Pt. Benarsi Das.—Benarsi Villas (Bombay) Introduction.

66. Although Aurangzeb was famous for his bigotedness, yet the profound learning, unpolluted piousness, simplicity nature and vigerous feelings to do good to man kind of JAIN SAINTS so much affected the heart of despotic Emperor that he was inclined to entertain and honour Jain Saints.—Dr. Kamta Pd; Religion of Tirthankaras, P. 575.

67. "I have seen the naked Jaina Saints walking start naked through large towns, women and girls looking at them without any more emotion. Females often bring them alms with devotion"—Dr. Eener's Travels in the Mugal Empire, P. 317.

68. In 1689 A. D. at Chand Khera (Kota Rajasthan) during the reign of Aurangzeb, a Jain Temple of Mahavir was constructed and the installation ceremony of the temple as well as of the images of Tirthankaras took place.—Jainism in Rajasthan P. 36.

69. हिन्दी दैनिक "नवभारत टाइम्ज, नई देहली 10 अगस्त 1959 पृ० 3.

70 जे० के० नारीमान : उर्दू दैनिक मिलाप कृष्ण विशेषांक अगस्त 1939, पृ० 36.

71–72. List of the Mohammadan & Hindu Monuments, Govt. of India, Publication, Vol. I.

73. (i) We have gloring account of individual influence upon Emperor Mohammad Shah in the case of Jain Temple of Mohala Sanghyan,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Saharanpur. It so happened that the local Muslim Ruler of Saharanpur being of despotic nature wished to build a mosque in Jain Mohala, where not even a single Muslim lived at the place, where Jains wanted to build their temple, A Jain Physician, Thakurdas who had cured the Emperor's queen from an incurable disease did not accept anything inspite of repeated insisting by the Emperor for the acquintance of a right cause, ran Delhi and narroted the whole story to the Emperor Mohammad Shah, who not only stopped the construction of the mosque but ordered that the Jain Temple of 23rd Tirthankara Parsvanath be built there at the State Cost : Voice of Ahinsa, Vol. XII P. 92.

(ii) सन्मति सन्देश मई 1960 पृ० 11.

(iii) अहिंसा वाणी वर्ष 12 पृ० 177.

74. सन्मति सन्देश गान्धी नगर, देहली, अक्तुबर 1962, पृ० 26.

75. Jains were so humantarianists, not only to man-kind but to all living beings on the earth, without any caste, colour or country distinction that even Hyder Ali the most bigoted Muslim king granted villages to the Jain temples for the worship of their Tirthankara's images installed there.—Prof. Rama Swami Ayanger : Studies in South Jainism, Vol. I, Page 117.

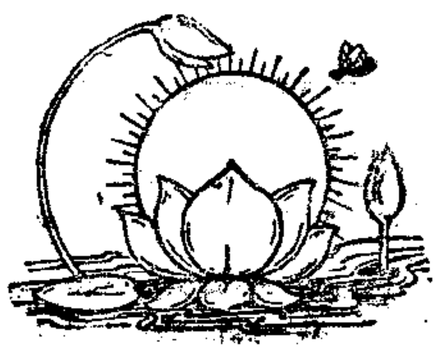

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-गीत

श्री भगवानस्वरूप जैन "जिज्ञासु"
एम० डी० जैन इण्टर कालेज,
आगरा ।

मैं पंछी उन्मुक्त गगन का, मुझे मुक्ति से प्यार है ।
मेरा घर अति दूर-दूर, भव-सागर के उस पार है ।।

माना अष्ट कर्म-बन्धन में, मैं अनादि से अटका हूं ।
और चतुर्गति-चक्र मध्य भी, मैं हर युग में भटका हूं ।।
माना लख चौरासी में मैं, अनगिन कष्ट उठाये हैं ।
जन्म-जरा-मरणादि अनन्ते, क्लेश घनेरे पाये हैं ।।

किन्तु कुफल ये पर-परिणति के, मम सुख मम आधार है ।
मेरा घर अति दूर-दूर, भव-सागर के उस पार है ।।

कस्तूरी मृग तुल्य सदा मैं, भव-वन में भरमाया हूं ।
पर विभाव की निज आदत से, बाज न अब तक आया हूं ।।
निज सुख-शान्ति-बन्ध को पर में पाने की हठ ठान रहा ।
आत्म शान्ति-जल भूल भोग-लपटों को ही जल मान रहा ।।

मृग मरीचिका प्यासे मृग को दारुण दुख दातार है ।
मेरा घर अति दूर-दूर, भव सागर के उस पार है ।।

पर-परिणति रूपी विभाव का कुल अभाव अब करना है ।
निज परिणति रूपी नौका से भव-सागर को तरना है ।।
स्व-पर-भेद विज्ञान सहारे, अद्भुत यान बनाना है ।
धर्म्य-शुक्ल शुभ ध्यान धार कर मुक्ति पुरी को जाना है ।।

मुक्ति पुरी ही मंजिल अपनी, शाश्वत सुख-भंडार है ।
मेरा घर अति दूर-दूर, भव-सागर के उस पार है ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयपुर में भूतकाल में राजाओं के शासन के समय जैनों और शैवों में चाहे जितना विग्रह, द्वेष रहा हो किन्तु यहां के राजाओं ने कभी भी एक के प्रति पक्षपात और दूसरे के प्रति दुराव नहीं किया। यदि कभी किसी मिथ्या सूचना के आधार पर ऐसा हुआ भी तो सचाई के प्रकट होते ही तत्काल उसका परिमार्जन भी कर दिया गया। वे अपने धार्मिक ग्रन्थों के पठन के साथ-साथ जैन ग्रन्थों का अध्ययन भी करते थे। इसका प्रमाण है उनके वैयक्तिक संग्रहालय (पोथीखाना) में संगृहीत सैंकड़ों हस्तलिखित जैन ग्रन्थ जिनमें से केवल कुछ का ही परिचय हमारे आग्रह पर विद्वान लेखक ने स्मारिका के पाठकों के लाभार्थ अपनी इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है।

— पोल्याका

जयपुर पोथीखाने का हिन्दी जैन साहित्य

—डॉ० प्रेमचन्द रांवका

प्राध्यापक–राजकीय शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालय,
मनोहरपुर (जयपुर)

'पोथीखाना', जयपुर राज्य के भूतपूर्व शासकों द्वारा अपने राज्य की आन्तरिक शासन-व्यवस्था के सम्यक् संचालन की दृष्टि से विभिन्न विभागों के रूप में स्थापित 36 कारखानों में से एक है। इसमें आम्बेर एवं जयपुर के शासकों द्वारा समय-समय पर संगृहीत विभिन्न भाषाओं में विभिन्न विषयों की पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। वस्तुतः यह उन शासकों का निजी पुस्तकालय है; जिसमें उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान-वर्द्धन हेतु विशाल परिमाण में साहित्य का संरक्षण एवं सम्वर्द्धन किया है। यह पोथीखाना विगत सातसौ वर्षों में सृजित एवं लिपिबद्ध अमूल्य साहित्य को अपने में समाविष्ट करता है। जो उक्त शासकों के अनुपम साहित्यानुराग का प्रतीक है। इसमें आम्बेर एवं जयपुर राज्य के भू० पू० राजाओं में मिर्जा राजा जयसिंह (वि. सं 1678-1724) से लेकर अन्तिम महाराजा मानसिंह द्वितीय (वि० सं० 1979-2027) तक के समय में रचित एवं लिपिबद्ध साहित्य सुरक्षित है।

पोथीखाने के ग्रन्थागार को निम्न संग्रहों में विभक्त किया गया है—1. खास मोहर संग्रह 2. पोथीखाना संग्रह 3. पुण्डरीक संग्रह और 4. म्यूजियम संग्रह/प्रकाशित संग्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'खास मोहर संग्रह' में विभिन्न शासकों के समय में रचित एवं लिखित लगभग 8,000 पाण्डुलिपियां संगृहीत हैं। यह भण्डार राजाओं की खास मोहर या निजी सील में रहता था और यदा कदा ही खुलता था। महाराजा इसे खोलने का विशेष आदेश निकालते थे। उस समय या तो वे स्वयं अथवा उनके प्रतिनिधि और खास मोहर संग्रह के अधिकारी उपस्थित रहते थे। सील महाराजा के निजी अधिकार में रहती थी और प्रत्येक वस्तु के भीतर रखने एवं बाहर निकालने का लेखा-जोखा मुसरफ और तहसीलदार रखते थे। खास मोहर अधिकारी अपने पंजीयन में प्रविष्टि-निविष्टि की काउन्टर एण्ट्री रखता था।[1]

खास मोहर संग्रह के ग्रंथों के ढूंढने के लिये पहले कोई पूर्ण और निश्चित सूची तैयार नहीं थी। इस विशाल संग्रह में सुरक्षित पाण्डुलिपियों का मूल्यांकन सहज कार्य नहीं था। वस्तुस्थिति यह है कि सवाई माधोसिंह प्रथम (वि. सं 1807-1824) या उनसे पूर्व के शासकों से सम्बन्धित शासकीय वार्षिक विवरणों में मोटे रफ कागजों में इन ग्रंथों की प्रकीर्ण निविष्टियां मिलती हैं; जो अब बीकानेर में राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संकलित है। सौभाग्य से अब इस संग्रह के ग्रन्थों की सूची श्रीयुत पं० गोपालनारायण बहुराजी के सद्प्रयत्नों से उन्हीं की पुस्तक "लिटरेरी हैरीटेज ऑफ दी रूलर्स ऑफ आमेर एण्ड जयपुर" में प्रकाशित हो चुकी है। राजाओं का निजी पुस्तकालय यही संग्रह है।

दूसरी 'पोथीखाना संग्रह' है जिसमें 2,200 पाण्डुलिपियां हैं। इसके ये ग्रंथ, संग्रह की स्थापना के पश्चात् खास मोहर संग्रह से स्थानान्तरित हुये हैं। इस संग्रह में पोथीखाने के कर्मचारियों द्वारा लिखित एवं लिपिबद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त विभिन्न समारोहिक अवसरों पर लेखकों, पंडितों, कवियों आदि द्वारा भेंट में प्राप्त एवं राजमाताओं, महारानियों, पड़दायतों एवं पासवानों द्वारा क्रय किये गये ग्रंथ संगृहीत हैं।

तृतीय 'पुण्डरीक संग्रह' में 2,300 पाण्डुलिपियां हैं, जो सवाई जयसिंह प्रथम (वि० सं० 1756-1800) के गुरु रत्नाकर पुण्डरीक और उसके विद्वान् उत्तराधिकारियों द्वारा संकलित हैं। पोथीखाने में यह संग्रह महाराजा सवाई माधोसिंह द्वितीय (वि० सं० 1937-1979) के शासनकाल में प्राप्त एवं सुरक्षित किया गया था। बाद के दोनों भंडारों की वर्गीकृत सूची उपलब्ध है परन्तु ग्रन्थों का सत्यापन कार्य अभी अपूर्ण है।

चतुर्थ 'म्यूजियम संग्रह' है जो सन् 1959 में महाराजा सवाई मानसिंह II द्वारा जनता के लिये खोला गया भण्डार है। इसमें प्राचीन प्रकाशित साहित्य एवं कलात्मक चित्र संगृहीत हैं जो दर्शनार्थ हैं।

इस प्रकार पोथीखाने के विभिन्न संग्रहों में लगभग 15,000 ग्रन्थ हैं जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, बंगला, मराठी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में निबद्ध हैं तथा काव्य, न्याय, मीमांसा, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, नाटक, चम्पू, संगीत, कामशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्म, वेद, पुराण, इतिहास, तर्क, मन्त्र, भक्ति, जैन दर्शन, संग्रह, सुभाषित, योग, आदि विषयों से सम्बन्धित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोथीखाने के खास मोहर संग्रह में 8,000 पाण्डुलिपियां हैं; उनमें 220 के लगभग जैन साहित्य के ग्रंथ हैं जो संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में निबद्ध हैं यहाँ मात्र 115 हिन्दी भाषा ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत है:—

1. अजितनाथ छन्द —बनारसीदास
2. अध्यात्म पैंडी
3. अध्यात्म प्रकाश—सुख कवि
4 अध्यात्मफाग —बनारसीदास
5. अध्यात्म बत्तीसी— ,,
6 अवस्थाष्टक— ,,
7. आत्म ज्ञान कवित्त संग्रह
8 उत्तराध्ययन सज्झाय
9. कर्मछत्तीसी— बनारसीदास
10. कर्म प्रकृति विधान— ,,
11. कर्म विपाक भाषा
12. कल्याण मन्दिर स्तोत्र भाषा
13 कंवरपाल बत्तीसी, जोधराज गोदीका
14. कहरनामा : बनारसीदास
15. कुकर्म विंशतिका ,,
16. चतुष्पद यमक ,,
17 चार वर्ण ,,
18. चिन्तावणी – दुलीचन्द साह
19. चौदह विद्या—बनारसीदास
20 चौबीस ठाणा तालिका
21. चौबीस तीर्थंकरों का खरड़ा
22. छत्तीस पवन—बनारसीदास
23. जम्बूद्वीप प्रमाण
24. जम्बू स्वामी कथा
25. जिन आचार
26 जिनकथा सुभाषित संग्रह
27. जिन तीर्थंकर स्तुति
28 जिनदेव यंत्र
29. जैन चौबीसी
30. जैन स्तोत्र संग्रह
31. ज्ञान पच्चीसी—बनारसीदास
32. ठाणांग सुत्त (स्थानांग सूत्र)
33. तरेपन क्रिया
34. तरेसठ शलाका पुरुष नाम—बनारसीदास
35. तिथि षोडशी —बनारसीदास
36. तीर्थंकर भट्टारक नामावली
37. तेरह काठियां —बनारसीदास
38. त्रिलोक दर्पण कथा
39 त्रिलोक सार
40. त्रेपन क्रिया—किशनसिंह
41. दशबोल – बनारसीदास
42 दशलक्षण पूजा—द्यानतराय
43. दानदशक—बनारसीदास
44. दूहा पंच सहेलीरा—छीहल कवि
45 देव पूजादि संग्रह
46 देवाष्टक स्तोत्र
47. दोहा सवैयादि संग्रह, बनारसीदास
48. धर्म परीक्षा : मनोहर खण्डेलवाल
49. धर्म रासो
50. धर्मोपदेश माला
51. ध्यान बत्तीसी, बनारसीदास
52. नगरस्थिति वर्णन ,,
53. नव दुर्गा विधान ,,
54 नव सेना विधान
55 नाटक के कवित्त ,,
56 नाम निर्णय ,,
57. नित्यदेव पूजा विधि ,,
58. नित्य पूजा – चिन्तामणि स्तोत्र संग्रह
59 निर्वाण काण्ड
60. पंचपद विधान—बनारसीदास
61. पंचम गति की वेलि ,,
62. पंच परमेष्ठी 24 गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

63. पंचास्तिकाय बालावबोधा
64. पद संग्रह—बनारसीदास
65. पद्मपुराण भाषा–खुशाल कवि
66. पद्मावती पूजा
67. परमार्थ वचनिका
68. पार्श्वनाथ पुराण भाषा-भूधर
69 पार्श्वनाथ पूजापद्धत्ति—बनारसीदास
70. पुण्याश्रव कथा बाल वबोध : दौलतराम
71. पुरुष लक्षण—बनारसीदास
72. पूजाष्टक ,,
73. प्रश्नोत्तरी नाममाला ,,
74. प्रश्नोत्तरी—सकलकीर्ति
75. तकी मोहम्मदखां छन्द—बनारसीदास
76. बावन—बनारसीदास

77. भक्तामर स्तोत्र भाषा—हेमराज
78. भक्तामर स्तोत्र भाषा—बनारसीदास
79. ,, ,, ,, टीकाराम वचनिका
80. भवसिन्धु चतुर्दशी - बनारसीदास,
81. मनका प्यारा गीत—,,
82. मार्गणा विधान ,,
83. मिथ्या वाणी ,,
84. मोख पैंडी ,,
85. वाराणसी विलास ,,
86. व्रत कथा कोष—श्रुतसागर सूरि
87. शालिभद्र चरित्र सतसई
88. शान्तिनाथ छन्द—बनारसीदास
89. शारदाष्टक ,,
90. शिव पच्चीसी ,,
91. शील सुदर्शन रास—बनारसीदास
92. षट्दर्शनाष्टक ,,
93. समयसार नाटक ,,
94. सुमति देवी शतक ,,
95. साधु वन्दना ,,
96. सिन्दूर प्रकर मुक्तावलि ,,
97. सामायिक प्रकरण
98. समाधि तन्त्र बालावबोध भाषा-पर्वत धर्मार्थी
99. सिद्ध केवली
100. सिद्ध मन्त्रादिक संग्रह
101. सीता चरित्र—बालक कवि
102. यात्रा प्रकाश—राघव सरावगी
103. रयण सार—कुन्दकुन्दाचार्य
104. वात चंदकंवर चोपई—छीहल
105. विनती के पद
106. षट् कर्मोपदेश माला सटीक
— सकल भूषण आचार्य
—लालचन्द,
107. श्रावकातिचार
108. श्रावकानुष्ठान विधि
109. श्रीपाल रास
110. हनुमत्कथा—ब्र. रायमल्ल
111. हरिवंश पुराण भाषा–खुशाल कवि
112. हरिवश स्वामी रास
113. पद संग्रह = 115,-स्फुट–प्रढ़ाईद्वीपनवशः
114. विनती संग्रह

उक्त सूची में कतिपय 'रचनाएं जैन रचनाएं न लगें ।' परन्तु प्रसिद्ध जैन कवियों की होने से उन्हें सम्मिलित किया गया है। सूची में 115 तो रचनाएं है–उनमें कई रचनाओं की अनेकों प्रतियां भी मिलती हैं जैसे—छीहल कविकृत दूहा पंचसहेलीरा, बनारसीदास का समयसार नाटक, भक्तामर स्तोत्र भाषा, पद्मपुराण भाषा, अध्यात्मक प्रकाश आदि। इस दृष्टि से पोथीखाने के खास मोहर संग्रह I में जैन पाण्डुलिपियों की संख्या–संस्कृत एवं भाषा की कुल 300 से अधिक हैं। इनमें सर्वाधिक रचनाए कविवर बनारसीदास द्वारा रचित हैं। उनकी 50 रचनाएं इस संग्रह में मिलती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह हर्ष एवं विस्मय का विषय है कि 17वीं शता. के आगरा निवासी बनारसीदास की सर्वाधिक पचास रचनाएं एक साथ एक वेष्ठन में इस संग्रह में सुरक्षित हैं। इनमें कई रचनाएं तो जैन भण्डारों में भी नहीं हैं। लेकिन इस कवि का प्रसिद्ध आत्मचरित्र काव्य "अर्द्धकथानक" जो अब प्रकाशित है, इस संग्रह में नहीं मिलता। कुछ भी हो कविवर बनारसीदास की सर्वाधिक संख्या में जो कृतियां यहां उपलब्ध हुई हैं—वे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर नयी दिशा एवं तथ्य देगी जबकि इस कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन का शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है।

यह विचारणीय तथ्य है कि उक्त संग्रह में जहां आगरा के बनारसीदास एवं भूधरदास तक की कृतियां उपलब्ध होती हैं। वहीं जयपुर राज्य के अन्तर्गत 17वीं एवं 18वीं शता. में होने वाले जयपुर के ही कई प्रसिद्ध जैन कवियों में केवल खुशाल कवि एवं दौलतराम (बसवा) के केवल हरिवंश पुराण भाषा (वि सं 1780) पद्मपुराण भाषा(वि सं. 1783) और पुण्याश्रव कथा बालावबोध(र. का. 1770-लिका. 1816) ग्रंथ ही मिलते हैं। यद्यपि जोधराज गोदीका, दुलीचन्द साह, राघव पाटनी (खिन्दूका) मनोहर खण्डेलवाल की भी एक-एक रचनाएं मिलती हैं, परन्तु टोडरमल, जयचन्द छाबड़ा, सदासुख कासलीवाल आदि कई ऐसे कवि प्रसिद्ध हैं जिनकी कृतियां खास मोहर संग्रह I में नहीं है।

समय की दृष्टि से प्राचीन ग्रंथ छीहल कवि का—'दूहा पंच सहेलीरा' वि. सं. 1575 का मिलता है। इसकी संग्रह में 5-7 प्रतियां है। अधिकांश हिन्दी कृतियां 17वीं एवं 18वीं शताब्दी की हैं। जयपुर नगर की स्थापना (वि. सं. 1784) से चार वर्ष पूर्व सं 1780 में रचित खुशाल कवि के हरिवंश पुराण भाषा (ब्रह्म जिनदास के संस्कृत के हरिवंश पुराण पर आधारित) का अन्तिम भाग यहां प्रस्तुत है—

सहर जिहांनाबाद में, जयसिंह पुरी सुथान।
मैं बसिहौं सुख सौं सदा, जिन सेऊं चित आनि ॥691॥
मेरी बात सुनौ अबै, भविजीवन मन लाय।
कालो जाति खुस्याल सुभ, सुन्दर सुत जिन पाय ॥692॥
देस ढूंढाहड़ जाणो सार, तामैं धर्मतणो अधिकार।
बिसनसिंह सुत जयसिंह राय, राज करै सबकूं सुखदाय ॥693॥
देस तणी महिमा अति घणी, जिन गेहाकरि सुन्दर बणी।
जिन मन्दिर भवि पूजा करै केइक व्रत लै केइक धरै ॥694॥
जिन मन्दिर करवावैं नवा, सुरग विमान लणि विरछवा।
रथयात्रादिक होत बहु जहां, पुण्य उपावै भविजण तहां ॥695॥
इत्यादिक महिमा जुत देस, कहि न सकूं मैं और असेस।
जामैं पुर सांगावति जानि, धर्म उपार्जन कौ वर थान ॥696॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महमदसा पतिसाह, राज करि है सुषि कथौ ।
नीतिवंत बलवंत, न्याय बिन लेत न अरथौ ।।
ताके राज मभारि, ग्रंथ आरम्भरु कीन्हौ ।
परको दुख सोक, कगू हम कोई न लीन्हौ ।।
इह थिचार राजा तणूं, इतनौ ही उपगार है ।
कोऊ दुष्ट पुरुष दण्डि न सकै, जिनमत को विस्तार है ।।700।।

दोहा:— सहर मध्य इक वणिक वर, साह सुखानन्द जानि ।
ताका गेह विषै रहै, गोकुलचन्द सुजान ।।701।।
तिन ढिग मैं जाऊं सदा, पढ़ूं सुसाख सुभाष ।
जिनकौ वर उपदेश लै, मैं भाषा वरन बनाय ।।702।।
संवत् सतरासैं अरु असी, सु बैसाख तीज वर लसी ।
शुक्रवार अति ही वर जोग, सार नखत्तर को संजोग ।।704।।
श्वेताम्बरो गोकुलचन्द्र नामा, महाबिवेकी सद्गुणैर्गरिष्ठः ।
पर्वोपवासं कुरुते स्वभावात्, तस्योपकण्ठं श्रुतवान् भूवर ।।809।।
इदं सुशास्त्रं सुरसेव्यमानं, मया लिखित्वा चरितं प्रमोदं ।
समर्पितं गोकुलचन्द्र हस्ते, अस्य प्रवृत्तिः करणाय नित्यम् ।।

—लि. मोहनराम संगहीजी श्री भगवानदासजी पठनार्थ मेवातिनई ग्रंडमध्ये हर्षपूरे........

—खुशाल कवि ने यह रचना ढूंढार प्रदेश के महाराजा सवाई जयसिंह प्रथम के सुख-शान्ति-पूर्ण शासनकाल में की थी । कवि के अनुसार जयसिंह के शासन काल में जैन धर्म की अतिशय महिमा थी; जिसके प्रभाव से कोई किसी से पीड़ित नहीं था ।

पोथीखाने का 'खासमोहर संग्रह' जो आम्बेर एवं जयपुर के शासकों का निजी पुस्तकालय रहा है, जैन एवं जैनेतर सभी धर्मों के साहित्य का विपुल भण्डार है । यह वस्तुतः उन शासकों के सर्वधर्म अनुराग एवं समभाव, विद्याप्रेम और साहित्य-संरक्षण तथा संवर्द्धन की उत्कट विशुद्ध भावना का प्रतीक है ।

पोथीखाने के इस 'खास मोहर संग्रह 1 के ग्रन्थों की सूची का प्रकाशन "लिटरेरी हेरीटेज ऑफ दी रूलर्स ऑफ आम्बेर एवं जयपुर" नामक अपनी पुस्तक में पं. गोपालनारायण बहुरा ने किया है । अन्य संग्रहों का प्रकाशन अभी नहीं हो पाया है । उनकी सूचि अवश्य तैयार की जा रही है । उनका प्रकाशन एवं पोथीखाने के समग्र साहित्य-भण्डार की वर्ण्य-विषयक सूचियों का पुनरीक्षण प्राचीन अज्ञात ऐतिहासिक घटनाचक्रों के तथ्यान्वेषण के अध्ययन में महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होगा ।

---

1. Literary of Heittage the Rulers of Amber and Jaipur by Shri G. N. Bhaura.
2. ब्रह्म जिनदास : व्यक्तित्व एव कृतित्व, लेखक, लेखक का शोध प्रबन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयपुर से करीब १० मील दूर सोहाना रोड प रनेवटा ग्राम के निवासी पाटणी सवाई जयसिंह के राज्य काल में ही जयपुर आ बसे थे। अपने पूर्वज खिन्दू के नाम पर ये खिन्दूका कहलाते हैं। कहते हैं ये ६० भाई थे। आगे चल कर इनकी कई शाखा, प्रशाखाएं हुईं यथा—तुसरक, बीसाण, तोतुका आदि। यात्रा प्रकाश के रचयिता राघव पाटणी अपने पूर्वज 'सांगा' के नाम पर सांगा का कहलाते हैं। इस पुस्तक में वर्णित नरेश जयसिंह तृतीय हैं जो किसी षड्यंत्र का शिकार होकर काल कवलित हुए थे। यात्रा का स्थान फतह टीबा सांगानेर दरवाजे बाहर मोती डूंगरी रोड पर। राजा की खास पोशाक सिए लाने हे आने वाले 'सिवी' रूंथाराम ज्ञात होते हैं जिनका विस्तृत वर्णन पाठक इसकी स्मारिका में अन्यत्र पढ़ेंगे। 'मनालाल' चारित्रसार, प्रद्युम्न चरित्र आदि ग्रंथों के रचनाकार मनालाल सांगाका खिन्दूका मालूम होते हैं। विद्वान निबंधकार ने महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी को अपनी रचना में जो सुझाव दिया है हम उसकी पूर्ति की कामना तो करते हैं किन्तु वह सफल होगी ऐसी आशा कम ही है।

—पोल्याका

❀
❀
❀

राघव पाटनी रचित 'यात्रा प्रकाश'

● श्री अगरचन्दजी नाहटा,
(इतिहासरत्न, सिद्धान्ताचार्य, शोधमनीषी, विद्यावारिधि)
बीकानेर।

राजस्थान की राजधानी जयपुर जब से बसा, तभी से और उससे पहले आमेर में दिगम्बर समाज का अच्छा प्रभाव रहा है। आमेर में दि० भट्टारकों की गद्दी थी। उनका शास्त्र-भण्डार अभी जैन साहित्य शोध संस्थान, महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के संग्रह में सुरक्षित है। उस शास्त्र-संग्रह में तथा जयपुर के अन्य शास्त्र-भण्डारों में जयपुर क्षेत्र के जैन कवियों एवं विद्वानों के रचित गद्य-पद्यात्मक प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। उस साहित्य का प्रमाण लाखों श्लोकों परिमित है अतः जिस प्रकार सांभर प्रदेश एवं जैनों के सम्बन्ध में डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल का ग्रंथ प्रकाशित हुआ है उसी तरह जयपुर राज्य या क्षेत्र में रचित जैन साहित्य सम्बन्धी एक स्वतंत्र ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिए।

जयपुर के कई राजाओं के दीवान आदि कई उच्च पदों पर दि० जैन बन्धु थे अतः राजनैतिक क्षेत्र में भी उनका विशिष्ट स्थान रहा है। यद्यपि जयपुर के जैन दीवानों सम्बन्धी एक छोटी पुस्तक निकली है पर वह पर्याप्त नहीं है। वीर वाणी पत्रिका के प्रारम्भिक वर्षों में जयपुर के जैन दीवानों और साहित्यकारों सम्बन्धी काफी महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। इधर कुछ वर्षों में कोई नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानकारी प्रकाश में नहीं आयी। जबकि महावीर जी तीर्थ के शोध संस्थान का तो यह पहला कर्त्तव्य था कि अज्ञात और अप्रकाशित सामग्री और जानकारी को 'वीर वाणी' आदि जैन पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित किया जाता रहता।

जयपुर के राजाओं के जैन दीवानों के अतिरिक्त कुछ उनके आश्रित जैन साहित्यकार भी थे। जिनमें दौलतरामजी तो बहुत ही उल्लेखनीय रहे हैं और उनके सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। पर अन्य राज्याश्रित जैन साहित्यकारों सम्बन्धी जानकारी बहुत ही कम प्रकाश में आयी है। अभी-अभी जयपुर के सुप्रसिद्ध राजकीय पोथी-खाने की हस्त लिखित प्रतियों का एक सूची ग्रंथ श्री गोपालनारायणजी बोहरा सम्पादित देखने को मिला, जिसमें जयपुर के महाराजा जयसिंह तृतीय की यात्रा सम्बन्धी एक रचना का विवरण छपा है। इस ग्रंथ का नाम 'यात्रा प्रकाश' है। इसकी रचना कवि राघव पाटनी ने सं० 1884 के बैशाख सुदी में की। मन्नालाल के कथन से यह ग्रंथ रचा गया है। सूची प्रकाशित विवरण में यात्रा प्रकाश के अन्तिम पाच दोहे ही उद्धृत हैं। उनसे यात्रा का पूरा विवरण ज्ञात नहीं होता। ग्रन्थ की पद्य संख्या या ग्रंथा-ग्रंथ परिमाण भी ज्ञात नहीं हो सका। न पत्र संख्या और लेखन संवत ही विवरण में दिया गया है। केवल एक नई उपलब्धि के रूप में प्राप्त विवरण यहां प्रकाशित किया जा रहा है—

4573. यात्रा प्रकाश by राघव कवि सरावगी

Closing :

सिंघी आये सामुहे, लिये खास पोसाख।
गंगा को पूजन कियो, वेद शब्द मुख भाष ॥
पत्री सु टीबे आइकैं, रहे अमावस राति।
सकल सुखी जयसिंह नृप, पुर प्रवेश परभात ॥
भूप भवन में जब गये, उच्छव भये अपार।
कवि 'राघव' साची कही, नैन देखि निरधार ॥
संवत 'अठार चुरासिका', सुकल पक्ष वैसाष।
सुद्ध लगन पचांग के, भोम सु परथम भाष ॥
जात स्रावगी पाटणी, खिंदू हुवै बंस।
मनालाल के कथन सूं, कीनों ग्रंथ प्रसंस ॥

It is a description of the यात्रा Performed by Sawai J i Singh III

पोथी खाना में उपरोक्त सूची-ग्रंथ के पृष्ठ 325 में राघव कवि सरावगी का जो विवरण छपा है, वह इस प्रकार है :—

राघव कवि सरावगी—

(1) यात्रा वर्णन 4573 (1854 V.S)
(2) रसवल्ली वनकेली 3261 (4)

इनमें से 'यात्रा प्रकाश' का वर्णन पृष्ठ 186 में इस प्रकार छपा है— यात्रा प्रकाश by राघव कवि सरावगी।

a description of the pilgrimage by S. Jai Singh III, Composed in 1884 V. S. 4573.

दोनों स्थानों में विवरणों से ऐसा लगता है कि पृष्ठ 325 में 'यात्रा वर्णन' ग्रन्थ का नाम छपा है पर इसका वास्तविक नाम 'यात्रा प्रकाश' है। और रचनाकाल 1854 छपा है, वहां 1884 होना चाहिए। कवि की दूसरी रचना 'रसवल्लि वन केली' का कोई विवरण नहीं दिया गया है अतः यह इसी नाम वाले किसी दूसरे कवि की रचना भी हो सकती है। प्रति नं. 3261 में यह रचना संख्या (चौथी) होने से यह छोटी सी ही लगती है। 'यात्रा प्रकाश' में कवि के आंखों देखा वृतांत होने से यह तो एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना है अतः उसे शीघ्र ही प्रकाश में लानी चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य जब से होश संभालता है वह चिन्ताओं से घिरा रहता है। कभी धनोपार्जन की चिन्ता, कभी अपने स्वास्थ्य की चिन्ता, कभी परिवार की, कभी किसी के विवाह की तो कभी किसी को पढ़ाने की। जब कभी भी उसे इन चिन्ताओं से छुटकारा प्राप्ति का अवसर प्राप्त होता है वह सुख शांति का अनुभव करता है। चारों ओर दुःखों से घिरे हुए मानव को मेले मनोरंजन का साधन उपलब्ध करते हैं। ये हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं और समाज के लोगों को मिल बैठकर हंसी खुशी के कुछ क्षण बिताने का अवसर प्रदान करते हैं। इनके साथ धार्मिक अनुष्ठानादि के कार्यक्रम तो श्रद्धालु जनों को आकृष्ट करने के लिए आयोजित होते हैं। जैन समाज, जयपुर भी विभिन्न अवसरों पर ऐसे छोटे बड़े आयोजन करता ही रहता है। कभी कभी यह आयोजन अविस्मरणीय भी होते हैं। ऐसे ही तीन मेलों का संक्षिप्त परिचय विद्वान् लेखक ने इन पंक्तियों में दिया है।

—पोल्याका

जयपुर के जैन मेले

पं० गुलाबचन्दजी जैनदर्शनाचार्य
प्राचार्य—श्री दि. जैन आचार्य सं. कालेज,
जयपुर।

जयपुर मेलों के लिये प्रसिद्ध है। यहां के लिये कहा जाता है "सात वार और नौ त्योंहार"। यहां किसी न किसी प्रसंग को लेकर मेले हुआ ही करते हैं। क्या जैन और क्या अजैन सभी इनमें भाग लेते हैं। स्त्री पुरुष, बच्चे वृद्ध, युवक शिशु सभी मेले के शौकीन हैं। चारों वर्णों के लोग अपने अपने पृथक पृथक मेले मनाते हों ऐसी ही प्रथा नहीं है। यहां तो सभी वर्ण व जाति वाले अपने अपने ढंग से सामूहिक मेले मनाते आये हैं।

इन मेलों का प्रारम्भ श्रावण मास से होता है और विशेष तौर पर आसोज तक रहता है किन्तु अल्प संख्या में।

प्रायः ये मेले आस पास के स्थानों पर लगते हैं जैसे—घाट, खानियां, गलता, आमेर, मोहन बाड़ी, सांगानेर, कूकस, खोह, बगराणा, दैलास, साइवाड़, बावड़ी, (जगों की बावड़ी) नींदड़, बैनाड़, भाखरोटा, पदमपुरा, श्री महावीरजी, गोनेर, डिग्गी, चाकसू (शीलकी) इत्यादि। इनमें कुछ स्थान तो ऐसे हैं जहां विशेषतः जैन ही जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जहाँ इतर समाज ही जाती है जैन नहीं जाते किन्तु कुछ ऐसे हैं जहां सभी समाज के नर नारी मेले का आनन्द लूटते हैं। पदमपुरा का मेला जब से पद्म प्रभु की प्रतिमा और श्री महावीर जी का मेला जब से महावीर जी की प्रतिमा निकली तब से लगता है, गोनेर में जगदीश के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण मेला लगता है और डिग्गी में श्रीकल्याणजी के कारण। आमेर में शिला देवी और काले महादेव के कारण, घाट में वैष्णवों के अवतारों की झाँकियां निकलने से, जिनको परिक्रमा कहा जाता है, मोहन बाड़ी में गलते के कारण और सांगानेर में सांगा बाबा के कारण मेले लगते हैं। शेष स्थानों पर लगने वाले मेले मात्र जैन धर्मावलम्बियों द्वारा ही लगाये जाते हैं। हो सकता है घाट खानियां मोहनबाड़ी और आमेर में इतर समाजों के साथ जैन भी अपना धार्मिक मेला लगा लेते हों। किन्तु इनका वैशिष्ट्य नहीं के बराबर है। ये मेले प्रति वर्ष निश्चित तिथियों में लगते हैं इसकी सूचना मेले कराने वाले बहुत पहले से ही कर देते हैं और सवारी आदि आवागमन के साधन भी जुटा देते हैं। सरकार भी अपना सहयोग देकर सुरक्षा का प्रबन्ध करती है, स्वयं सेवक और स्काउट्स भी इन मेलों में सहयोग प्रदान करते हैं।

ये मेले जयपुर की स्थापना से ही प्रारंभ हुए समझना चाहिए। जयपुर के राजा धार्मिक विचारों के थे। वे सभी धर्मों का आदर करते थे। उन्होंने जयपुर बसाने में दूर दूर के नामी कामी व्यक्तियों को यहां प्रश्रय दिया था। वे लोग वर्ष में एक बार अपनी अपनी जन्मभूमि में जाकर आमोद प्रमोद करने और धार्मिक प्रसंगों को बनाकर इतरजनों को भी प्रभावित करते थे इसी कारण इन मेलों की परंपरा बन गई। अब ये मेले उसी परंपरा को कायम रखने हेतु प्रतिवर्ष निश्चित तिथियों को मनाये जाते हैं। इनमें आमेर, सांगानेर, कूकस, खोह, साइवाड़, बगराणा, भाखरोटा आदि स्थानों के मेले प्रमुख हैं।

जैन मेलों की अपनी स्वयं की विशेषता है। ये मेले किसी प्रतिमा विशेष के जमीन से निकलने के कारण नहीं और न किसी व्यक्ति विशेष की जन्म भूमि होने के कारण ही हैं। ऋतुओं के कारण तथा तिथियों के कारण भी इन मेलों की गणना नहीं है। ये मेले धार्मिक अनुष्ठानों के कारण अन्तर्देशीय ख्याति प्राप्त हैं। मैं इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं।

जयपुर को बसे हुए 40 वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे सम्वत् 1821 (सन् 1764) में जैन समाज में एक अद्भुत मेले का आयोजन किया गया। यह मेला शहर के बाहर फतेहटीबे (मोतीडूंगरी के निकट) पर सम्पन्न हुआ। जैसा यह मेला जैन समाज में उस समय आयोजित हुआ न कभी भूतकाल में हुआ था और न कभी भविष्य में होने की संभावना ही है।

उस समय जयपुर राज्य के श्री रतनचन्द एवम् बालचन्द ये दो जैन दीवान थे। इनका बड़ा प्रभाव था। महाराजा माधोसिंह प्र० उस समय जयपुर के राजा थे। उनका सब धर्मों के प्रति आदर भाव एवं श्रद्धा भक्ति थी। उन्होंने आज्ञा प्रसारित कर दी थी कि मेले के लिये तथा पूजा के लिये जो भी सामग्री चाहिए सरकारी खजाने से ले जाओ। इस लिये जो भी सामग्री मेले में अनुपलब्ध थी सरकार से ले ली गई थी। इस मेले में इन्द्र ध्वज विधान कराया गया था। यह विधान फतेहटीबा के मैदान में 64 गज वर्गाकार चबूतरे पर तेरह द्वीप के मण्डल की रचना रचकर किया गया था। मण्डल की रचना घन रूप थी प्रतर रूप नहीं अर्थात् जैसे मण्डल रंगों से तथा रंगों से रंगे हुए चावलों से अथवा खड़िया से मण्डते हैं वैसा यह मण्डल नहीं था घन रूप अर्थात् पहाड़ नदी जंगल भवन नगरी कोट खाई पुष्प वाटिका सरोवर आदि साक्षात् रूप में बनाये गये थे। बनाने के लिये 150 कारीगर, शिलावट, चितेरे, दरजी, खरादी, खाती, सुनार आदि दस दिन तक लगे थे। रचना पत्थर चूने के बने चबूतरे पर बनी थी। कपड़े के कोट बीथियां लगाई गई थीं, जो चित्र लगाये गये थे भोडल के काम के लगे थे। चारों ओर चार दरवाजे लकड़ी के बनाये गये थे। चार हजार रेजे बिछायत के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये और लाल पोल ध्वजा पताका निशान आदि बनाने के लिये मंगाये गये थे। 200 चांदी के छत्र झालरी सहित नये घड़े मंगाये थे। बाग बगीचे तथा पुष्प वाटिकायें बनाने के लिये 30 गड्डी बारीक रंगीन कागज और तीस मण रद्दी कागज का खर्चा हुआ था। इस मण्डल के ऊपर तनवाने हेतु सामियाना आगरे से मंगवाया गया था। इसके खड़े करने के लिये 200 आदमी लगे थे। मंडप के एक एक तरफ 24, 24 दरवाजे बनाये गये थे। कुल चारों तरफ 96 दरवाजे सजे धजे हुए लगाये गये थे कि हाथी ऊपर चढ़े हुए व्यक्ति आराम से भीतर प्रवेश कर सकें ऐसी व्यवस्था थी। यह शामियाना 20 गज की ऊंचाई का लगाया गया था मंडप के चारों तरफ बड़े बड़े दीवान राज दरबार के लोग तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के डेरे लगे हुए थे। इनके आगे चोतरफा दर्शकों के डेरे लगाये गये थे जो कि सैकड़ों कोसों की दूरी पार कर मेले में शरीक हुए थे। लाखों स्त्री पुरुषों ने दस दिन तक इस मेले को बड़ी भक्ति भाव से देखा तथा पूजन भजन में योगदान दिया। गीत नृत्य वादित्र संगीत की प्यारी ध्वनि मन को बलात हरती थी। पं० टोडरमल जी शास्त्र प्रवचन करते थे। गोमट्टसारका स्वाध्याय था।

जैन समाज में जैसा यह अपूर्व मेला हुआ कभी नहीं हुआ। इसके पश्चात् दूसरा मेला चारों रथों का माघ शुक्ल सप्तमी रविवार सम्वत 1917 में हुआ। मन्दिरजी पाटोदी और मन्दिरजी चाकसू के दो रथ बीस पंथ आम्नाय के और बड़ा मन्दिर तथा बधीचन्द जी का मन्दिर ऐसे दो तेरह पंथ आम्नाय के रथ निकाले गये। चारों रथों की अद्‌भुत शोभा थी। दर्शकों की भीड़ ने जयपुर में अनोखा अवसर उपस्थित किया। शोभा यात्रा में सरकारी लवाजमा तो था ही शहर में उपलब्ध शोभा की सामग्री भी कम नहीं लगाई गई थी। जैन और जैनेतर सभी समाजों ने इन चारों रथों के मेले को देख कर अपना जन्म सफल किया था।

यह मेला एक श्रावक द्वारा अछूत के साथ भोजन करने के प्रायश्चित स्वरूप लगाया गया था। भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी ने यह व्यवस्था दी थी। उस समय भट्टारकजी का काफी दबदबा था और उनकी व्यवस्था मान्य होती थी। चारों मन्दिरों में तेरह द्वीप, अढाई द्वीप, समवसरण तथा सिद्ध चक्र के मण्डल मंडवाये गये थे और पूर्णावसर पर रथ यात्रा निकाली गई थी। अपनी अपनी मान्यतानुसार कलशाभिषेक हुए। किन्तु माल बीस पंथ आम्नाय वाले मन्दिरों में ही हुई थी। तेरह पंथी मन्दिरों में नहीं। पाटोदी के मन्दिर की माल कलकत्ता के सेठ श्री चुन्नीलाल ने 951 रुपयों में और चाकसू के मन्दिर की माल चौमू ग्राम के निवासी श्री जयराम नामक श्रावक ने 651 रुपयों में पहनी। इसकी साखी का मेला लगना भी अब दूभर ही समझना चाहिए। इसका विस्तृत विवरण श्री मौजिबचन्द्र साह द्वारा फाल्गुन शुक्ला 5 सं. 1917 में रचित रथ यात्रा प्रभाव नामक संस्कृत ग्रंथ से लगता है जो मंदिर पाटोदी में है।

तीसरा मेला आमेर में कीर्ति स्तम्भ की नशिया का 1920 में हुआ। यहां पर सिद्ध चक्र और तीन लोक के मण्डल मण्डे थे। और भगवान नेमिनाथ के मन्दिर से तथा नशियां से रथ यात्रा का प्रारम्भ दो रथों में हुआ था एक में भगवान नेमिनाथ और दूसरे में भगवान चन्द्रप्रभु विराजमान थे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का यहां पर भी बड़ा भारी बोलबाला था। सरकार ने उनको वस्त्र प्रदान कर सम्मानित किया था तथा श्री जी की भी भेंट चढाई थी। अलवर से रथ आया था। यह मेला बारह दिन चला था जिसमें भजन संगीत नृत्य के अतिरिक्त नाटक भी हुआ था। इसमें बाहर से बहुत लोग मेला देखने आए थे। रथ आमेर से नंदलाल हुकमचंद बज की नशियां होते हुए गंगा दरवाजे से जयपुर नगर में प्रविष्ट होकर हवा महल जौहरी बाजार में आए थे। तत्कालीन नरेश रामसिंहजी ने एक आदेश द्वारा पूर्ण सहयोग दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। इसका पूरा वर्णन एक 'मैला की लावणी' नामक हिन्दी रचना में प्राप्य है।

इस प्रकार जैनों के मेले धर्म से जुड़े हुए होते थे और अब भी यह परंपरा कायम है। मंडल मांडना पूजन भजन नृत्य संगीत होना अभिषेक होना ही जिनमें प्रमुख होता है। खान पान सम्मान गौण रीति से होते हैं। इनमें धर्म प्रभावना होती है। जैनेतर भी इससे प्रभावित होते हैं। केवल आमोद प्रमोद के लिये मेले नहीं लगाये जाते धार्मिक भावना ही इनके मूल में समाविष्ट है।

महावीर रा स्वर गूंजै है !

श्री घनश्याम मुदगल
रा० संस्कृत विद्यालय,
मनोहरपुर।

भारत मांही धरम ग्लानिरो, समय जदां भी आयो है।
ऊंही समै भारत महतारी, धरम पूत निपजायो है ।।1।।
महावीर स्वामी अवतर, हिंसा रो भूत भगायो है।
जैन धर्म रो तीर्थंकर, जीवांनै सुख पहुंचायो है ।।2।।
जइ नहीं बचा सको जीवांनै, तो मारण ने क्यूं धावो हो।
दूजारा धन रो शोषण कर, क्यूं अनीत अपनावो हो ।।3।।
क्यूं जीवां सूं भेद करो, क्यूं घृणा भाव बढावो हो ।।
सब परम पिता रा अंश, क्यूं विघन नयो उपजावो हो ।।4।।
अपणां जीवन मैं धार अहिंसा, सत्यव्रती वो आगै आयो।
सम्यक दर्शन ज्ञान चरित्र सूं, स्व पर को भेद जतायो ।।5।।
वो ज्ञान प्रकाश रो पुंजीभूत, जग सेवा सूं नेह लगायो।
देश विदेश में शिष्य बणाया, अर जैन धर्म नै अपणायो ।।6।।
जैन धर्म री धूम मची, अज्ञान हट्यो धरती पर सूं।
दे उपदेश ज्ञान रवि चमक्यो, हिंसा घटी धरा पर सूं ।।7।।
महावीर रा स्वर गूंजै है, प्राणी मात्र रा कलेजर सूं।
एटम जस्या शस्त्र अथा, जग दुखी हुया हिंसा डर सूं ।।8।।
पंचशील नेहरू रो देखो, जैन धर्म रो सार धर्यो।
गांधी भी मारग अपणा, वसुधा पर अपणो नाम कर्यो ।।9।।
सगरा जीव जीवणा चावै, के थारो नुकसान कर्यो।
हिंसा छोड अहिंसक होवो, क्यूं परपंच में पांव धर्यो ।।10।।
आखा जगरा बुद्धिजीवियो, जैन धर्म सूं शिक्षा ल्यो।
स्व-पर उपगार करन्ता, आदर्श इसारी दिक्षा ल्यो ।।11।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान राजस्थान राज्य में विलय होने वाली भू. पू. जयपुर रियासत में और चाहे किसी चीज की कमी रही हो लेकिन उपसनागृहों तथा ज्ञानालयों की यहाँ कभी कोई कमी नहीं रही। मन्दिरों के बाहुल्य के कारण जहां इसे मन्दिरों के नगर की संज्ञा से अभिहित किया गया वहां ज्ञान के क्षेत्र में यह दूसरी काशी कहलाई। उपासना और ज्ञानार्जन की इस दौड़ में जैनों ने भी कभी अपने आप को अन्यों से पीछे नहीं रखा। न केवल संख्या की दृष्टि से अपितु स्तर को दृष्टि से भी वे अन्यों की तुलना में किसी भी प्रकार पीछे नहीं रहेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। जयपुर के ऐसे ज्ञानोपासकों में से कुछ का परिचय विद्वान् लेखक ने यहाँ प्रस्तुत किया है। लेखक ने बखतराम शाह को गोधा गोत्रीय बताया है जो विचारणीय है।

—पोल्याका

जयपुर की प्रथम डेढ़ शती के जैन साहित्यकार

● डा० ज्योतिप्रसाद जैन
ज्योति निकुञ्ज, चार बाग, लखनऊ–1

विश्वप्रसिद्ध गुलाबी नगरी जयपुर वर्तमान में भारतीय संघ के राजस्थान राज्य की राजधानी है, और देशी राज्यों के संघ में विलयन के पूर्व लगभग सवा-दोसौ वर्ष पर्यन्त कछवाहा राजपूतों की राजधानी रही थी। कछवाहा वंश को उस कच्छप-घट वंश की ही एक शाखा अनुमान किया जाता है जिसका शासन 10वीं शती ई० के मध्य के लगभग से 12वीं के प्रायः मध्य पर्यन्त मध्य प्रदेश के ग्वालियर तथा नरवर में रहा था, तथा जिसके नरेश जैन धर्मावलम्बी थे, जैसा कि उक्त क्षेत्र में उपलब्ध उनके शिलालेखों से प्रगट है। ऐसा प्रतीत होता है कि 12वीं या 13वीं शती ई० में किसी समय उसी वंश की एक शाखा ने पूर्वोत्तर राजस्थान के ढुंढाहर (ढुंढार या ढुंढाड) प्रदेश के एक भाग पर अधिकार करके एक नवीन राज्य की स्थापना की। पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ की सूचनानुसार स्थानीय किंवदंती है कि ढुंढाहर के इस कछवाहा राज्य का प्रथम नरेश सोढदेव था जिसने वि. सं. 1023 (सन् 966 ई.) में दौसा अपरनाम धवलगिरि को राजधानी बनाकर अपना राज्यारंभ किया तथा यह कि उसका दीवान निरभैराम छाबड़ा नाम का एक जैन था। इस अनुश्रुति में असंभव कुछ नहीं है, सिवाय इसके कि घटना की तिथि संदिग्ध लगती है—उसके समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण है या नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं है। कहा जाता है कि कुछ समय बाद दौसा का त्याग करके खोह को, फिर रामगढ़ को और अन्त में आमेर को राजधानी बनाया गया। किन्तु 16वीं शती के मध्य पर्यन्त आमेर (या अम्बर) के ये कछवाहे राजे अपेक्षाकृत गौण स्थिति के रहे। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राज्य के अभ्युदय का प्रारंभ 1562 ई० से हुआ जब राजा भारमल (बिहारीमल) ने मुगल सम्राट अकबर की अधीनता स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करली और अपनी पुत्री का बादशाह के साथ विवाह कर दिया। फलस्वरूप भारमल के पुत्र राजा भगवान दास और पौत्र महाराज मानसिंह मुगल साम्राज्य के प्रधान स्तम्भ और उसके विस्तार एवं शक्ति संवर्द्धन में सर्वाधिक सहायक बने। उनके उत्तराधिकारियों, मिर्जा राजा जयसिंह और सवाई राजा जयसिंह आदि ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया, और साथ ही आमेर राज्य की शक्ति एवं समृद्धि में अभूतपूर्व उन्नति हुई और इस दृष्टि से वह राजस्थान का सर्व प्रमुख राज्य बन गया।

महाराज सवाई जयसिंह (1699–1743 ई.) अपने युग का प्रायः सर्वोपरि राजनीतिपटु, कुशल प्रशासक, विद्यारसिक, कलाप्रेमी एवं विद्वान राजपूत नरेश था। गद्दी पर बैठने के कुछ ही वर्ष बाद उसने सुनियोजित ढंग से एक अति भव्य नगर का निर्माण प्रारम्भ कर दिया, उसे अनेक सुन्दर भवनों, उद्यानों, हाट-बाजारों आदि से अलङ्कृत किया—प्रजा के धनीवर्ग ने भी सोत्साह सहयोग दिया। जब 1727 ई० में नगर का निर्माण कार्य समाप्त प्रायः हो गया तो राजधानी को भी आमेर से स्थानान्तरित करके इसी दर्शनीय जयनगर में, जो कालान्तर में जयपुर नाम से विख्यात हुआ, स्थापित कर दिया।

ढुंढाहर प्रदेश में जैनों का निवास अति प्राचीन काल से रहा आया लगता है। वैराट नगर के प्राचीन जैनपुरातत्त्व एवं अभिलेखों के अतिरिक्त जयपुर के पुराने घाट के निकट झामडोली में स्थित एक प्राचीन शिवालय में, जो हनुमान मन्दिर के एक भाग में स्थित है, सन् 1155 ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ जिससे विदित होता है कि उसकाल में सेनसंघ के छत्रसेन, अम्बरसेन आदि मुनियों के भक्त अनेक श्रावक यहाँ निवास करते थे। वस्तुतः, इस राज्य में प्रायः प्रारंभ से जैनों की अच्छी बस्ती एवं प्रभाव-प्रतिष्ठा रही है, राजधानी में ही नहीं, राज्य के अनेक कस्बों, ग्रामों आदि में भी। अकबर द्वारा 1567 ई० में चित्तौड़ का विध्वंस एवं उस पर अधिकार कर लेने के परिणामस्वरूप चित्तौड़ का नन्दीसंघी भट्टारकीय पट्ट भी वहाँ से उठकर आमेर चला आया—उस समय पट्ट पर भट्टारक चन्द्रकीर्ति (1565–1605 ई०) आसीन थे। कालान्तर में चाटसू, सांगानेर, महावीर जी आदि राज्य के अन्य कई स्थानों में भी शाखापट्ट स्थापित हुए। जयपुर राजधानी बन जाने पर तत्कालीन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (1713–1741 ई) ने भी अपनी गद्दी आमेर से हटाकर जयपुर में ही स्थापित करदी। विभिन्न समयों में लगभग पचास-साठ जैनों के इस राज्य के दीवान पद पर प्रतिष्ठित रहने का पता चलता है। अन्य पदों पर, छोटे-बड़े राज्य कर्मचारियों के रूप में अनगिनत जैन राज्य की सेवा करते रहे हैं। राज्य तथा राजधानी के साहुकारा, महाजनी, विविध व्यापार एवं उद्योग धन्धों में जैनों का प्रमुख भाग रहता आया है। सैकड़ों भव्य एवं विशाल जिन मंदिर और अनेकों सांस्कृतिक, शिक्षा एवं सार्वजनिक जैन संस्थाएँ यहाँ विद्यमान हैं। और, जैन साहित्य के निर्माण एवं प्रसार में जयपुर का जो योग रहा है वह प्रायः अद्वितीय है। इस नगर के निवासी डा० कस्तूरचंद कासलीवाल इसे 'जैननगर' की जो संज्ञा देते हैं उसमें अत्युक्ति नहीं है।

जयपुर क्षेत्र को कम से कम सौ-सवासौ अच्छे जैन विद्वानों, साहित्यकारों, कवियों आदि को जन्म देने का श्रेय है, जिनमें से अधिकांश सन् 1727 ई० में जयपुर नगर की स्थापना के बाद ही हुए हैं और इस महानगर से ही सम्बन्धित रहे हैं। जयपुर नगर के गत अढ़ाई सौ वर्ष के इतिहास में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको प्राथमिक डेढ़ शती, लगभग 1725--1875 ई०, तो जयपुर के जैन साहित्यिक इतिहास का स्वर्णयुग रहा है। इस युग की दिग्गज विद्वत्-चतुष्टयी—पं. दौलतराम कासलीवाल, आचार्यकल्प पं. टोडरमल, पं. जयचन्द छाबड़ा और पं. सदासुख दास जी—तो बहुचर्चित रहे हैं और सर्वप्रसिद्ध हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त जो लगभग पचास अन्य जैन साहित्यकार इस युग में जयपुर या उसके आस पास हुए, उनमें से स्यात् एक-डेढ़ दर्जन ही ऐसे हैं जिनकी कुछ चर्चा हुई हो, कतिपय कृतियों के फुटकर उल्लेख हुए हों, अथवा नामादि संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुए हों, शेष बहुभाग को तो अभी तक साहित्य के इतिहास में स्थान मिला हो, ऐसा नहीं लगता।

अस्तु, जयपुरीय जैन साहित्य के उक्त स्वर्ण-युग से सम्बन्धित ग्रन्थकारों और उनकी कृतियों का, ज्ञात तिथियों आदि सहित संक्षिप्त निर्देश प्रस्तुत किया जाता है—

भ. देवेन्द्र कीर्ति, आमेर जयपुर के भट्टारक (1713–41 ई०), समयसार की पदार्थ दीपिका टीका (वि. सं. 1788), विद्यानुवाद, दीप्तिसुन्दर संहिता—तीनों संस्कृत भाषा में।

नेमचन्द पंडित, भ. देवेन्द्र कीर्ति के गुरुभाई और भ. जगत्कीर्ति के शिष्य हरिवंशपुराण अपरनाम नेमीश्वररास, देवेन्द्रकीर्ति की जकड़ी, पखवाड़ा, कई पूजायें—सब हिन्दी में रचित, प्रथम का रचनाकाल सं. 1769 और द्वितीय का 1770।

पन्नालाल संघहि—रत्नकरण्ड श्रावकाचार का हिन्दी पद्यानुवाद, तथा प्रश्नोत्तर सज्जन चित्तवल्लभ की हिन्दी टीका—प्रथम कृति का रचनाकाल वि.सं. 1770 है।

दौलतराम पंडित, कासलीवाल, बसवा निवासी (ज्ञात रचनाकाल 1720–70 ई०) आदिपुराण, पदमपुराण, हरिवंशपुराण, श्रीपाल चरित्र, मल्लिनाथ चरित्र, पुण्यास्रव कथाकोष (वि.सं 1777), परमात्मप्रकाश की हिन्दी गद्य वचनिकाएँ; वसुनंदि उपासकाध्ययन (टब्बा, वि. सं. 1808), पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (वि. सं 1827), और स्वामी कीर्तिकेयानुप्रेक्षा (वि. सं. 1826) की हिन्दी टीकाएँ; क्रियाकोश (हि. गद्य, वि. सं. 1795); अध्यात्म बारह खड़ी (हि. पद्य.)।

दीपचन्द शाह कासलीवाल – हिन्दी गद्य में चिद्विलास (वि. सं. 1779), आत्मावलोकन, परमात्मपुराण और अनुभव प्रकाश; तथा हिन्दी पद्य में—ज्ञानदर्पण, स्वरूपानंद, भावदीपिका और उपदेशरत्नमाला।

खुशालचन्द काला—सांगानेर के निवासी थे, कुछ समय जयपुर में भी रहे प्रतीत होते हैं, किन्तु इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जयपुर के बाहर अन्य स्थानों में ही रहकर हुई प्रतीत होती हैं। इनकी सात-आठ बड़ी कृतियाँ हैं जो 1717 और 1749 ई० के बीच रची गयीं।

लिखमीदास पंडित सांगानेरी—ने सं. 1782 में हिन्दी पद्य में यशोधरचरित्र रचा था।

पर्वत धर्मार्थी—ने समाधितन्त्र सूत्र (प्राकृत) और द्रव्य संग्रह की हिन्दी टीकाएँ 1725 और 1735 ई० के मध्य किसी समय रची थीं।

किशनचन्द—कल्याणसिंह के पुत्र ने 1727 ई० में क्रियाकोश भाषा की रचना की।

किशनसिंह पंडित देवीचन्द के पुत्र—ने 1716 और 1728 ई० के मध्य हिन्दी पद्य में त्रेपन क्रियाकोश, भद्रबाहु चरित्र, रात्रि भोजन कथा और किशन-पच्चीसी की रचना की थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानचन्द्र संघी, भ. जगत्कीर्ति के शिष्य–ने सं. 1798 (सन् 1741) में हिन्दी पद्य में चतुर्दशी-कथा की रचना की तथा एकीभावस्तोत्र की टीका लिखी।

अजयराज पाटणी–ने सं.1792 में यशोधर चौपई की, 1793 में पार्श्वनाथ सालेट्टा तथा नेमिनाथ चरित की और 1797 में आदिपुराण की रचना की थी। इनके अतिरिक्त कई फुटकर रचनाएँ पूजाएँ तथा पद-भजन आदि भी हैं। प्राथमिक रचनाएँ चारमित्रकथा (सं. 1781) और कक्काबत्तीसी (सं. 1783) हैं।

बखतरामशाह–चाटसूँ निवासी, गोधागोत्रीय खंडेलवाल, कहीं-कहीं चम्पावती निवासी लिखा है जो चाटसूँ का ही अपरनाम प्रतीत होता है—इन्होंने 1743 और 1770 ई. के बीच हिन्दी पद्य में धर्मबुद्धि की कथा (सं. 1800), प्रतिमा बहत्तरी (सं. 1802), मिथ्यात्वखंडन नाटक वचनिका (सं. 1821) और हिन्दी गद्य में बुद्धिविलास (सं. 1827) की रचना की थी।

महेन्द्रकीर्ति भट्टारक (1741–58 ई०)–ने हिन्दी में नीरांजना काव्य की रचना की।

रायमल, साधर्मी भाई का जयपुर में बहुधा निवास रहा, पं. टोडरमल के प्रेरक-प्रशंसक थे, समय लगभग 1745–75 ई० है–रचनाएँ हैं हिन्दी में ज्ञानानंद–निजरसनिर्भर-श्रावकाचार तथा गोम्मटसार पूजा।

कुँवर धर्मार्थी, सम्भवतया उपरोक्त पर्वत धर्मार्थी के पुत्र थे–इन्होंने 1749 ई० के लगभग बन्धत्रिभंगी (सं. 1806), आस्रवत्रिभंगी, उदय-त्रिभंगी और सत्तात्रिभंगी की हिन्दी गद्य वचनिकाएँ लिखी थीं।

रामचन्द्र चौधरी–ने 1750 ई० के लगभग चतुर्विंशति, पार्श्वनाथ और महावीर पूजन की रचना की थी।

टोडरमल, आचार्यकल्प पंडितप्रवर का ग्रन्थ रचनाकाल लगभग 1754 से 1768 ई० रहा ज्ञात होता है—इनका महान ग्रन्थ है गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार एवं क्षपणासार की हिन्दी गद्य में बृहद् संयुक्त टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (45000 श्लोक परिमाण वि. सं. 1818), त्रिलोकसार वचनिका, अर्थसंदृष्टि अधिकार, आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अपूर्ण) की वचनिकाएँ, मोक्षमार्गप्रकाशक, तथा आध्यात्मिक पत्र। कुछ लोग ज्ञानानंदश्रावकाचार और गोम्मटसार पूजा भी इन्हीं के द्वारा रचित बताते हैं।

लालचंद कवि सांगानेरी–ने 1761-1785 ई० के बीच हिन्दी पद्य में विमलनाथ पुराण, वरांगचरित, सम्यक्त्वकौमुदी, षट्कर्मोपदेशरत्नमाला (सं. 1818), शिखर विलास (सं.1842), तेरह द्वीपविधान, कई अन्य पूजापाठ, आगमशतक और त्रिवर्णाचार (हिन्दी-गद्य) की रचना की थी।

सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक–(1765–1802 ई०)–ने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति संग्रह का संस्कृत रूपान्तर (वि. सं. 1833), तथा संस्कृत में ही मुनिसुव्रतपुराण, श्रेयांसपुराण, समुदाय स्तोत्रवृत्ति, चतुर्विंशति जिन काव्य (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), कल्याणक उद्यापन, सम्मेदशिखर पूजन, ज्ञानपंचविंशति उद्यापन, शांतिचक्र पूजन और क्षेत्रपाल पूजा की, तथा हिन्दी पद्य में ज्येष्ठजिनवर पूजाव्रत कथा एवं पंचमास चतुर्दशी व्रतोद्यापन की रचना की थी। इनके लगभग 100 हिन्दी पदों का भी एक संग्रह है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवलराम खंडेलवाल बसवा निवासी–ने सं. 1829 (1772 ई०) में हिन्दी छन्दोबद्ध वर्द्धमानपुराण रची थी, एक विनती संग्रह भी है।

रुखमीदास पंडित भी संभवतया जयपुर क्षेत्र के ही निवासी थे–इन्होंने सं. 1829 (1772 ई०) में हिन्दी हरिवंशपुराण लिखा था।

टेकचन्द पंडित भी संभवतया जयपुर प्रदेश के ही निवासी थे–निश्चित ज्ञात नहीं है, भारी साहित्यकार थे–इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना सुदृष्टितरंगिणी वचनिका (वि. सं. 1838) है, उसके पूर्व तत्त्वार्थ सूत्र की श्रुतसागरी टीका की वचनिका सं. 1837 में तथा तीनलोक पूजा सं. 1828 में रची थी। इनके अतिरिक्त पद्मनंदिपंचविंशतिका टीका, षट्पाहुड वचनिका, बुधप्रकाश छहढाला, ढालवाण, कथाकोश छन्दोबद्ध, पंचमेरू, नन्दीश्वर विधान, कर्मदहन, पंचपरमेष्ठी आदि कई पूजाएँ और संस्कृत प्रश्नमाला इनकी अन्य कृतियाँ हैं।

जिनदास गोधा जयपुर निवासी ने–सं. 1852 (1795 ई०) में हिन्दी पद्य में सुगुरुशतक रचा था।

सेवाराम शाह जयपुर निवासी ने–सं. 1854 में चौबीसी पूजा पाठ तथा धर्मोपदेश छन्दोबद्ध एवं जिनगुण सम्पत्ति कथा सं. 1845) की रचना की थी। यह बखतराम शाह के पुत्र थे।

थानसिंह–भी संभवतया जयपुर प्रदेश के ही थे सं. 1847 में इन्होंने सुबुद्धिप्रकाश की रचना की थी।

देवीदास गोधा बसवा निवासी–ने सं. 1844-45 में सिद्धान्तसार संग्रह वचनिका लिखी थी। ग्रन्थ कृतियाँ तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीका तथा भाषा प्रतिष्ठा पाठ हैं।

बुधजन, अपरनाम बिरधीचन्द्र, पण्डित और कवि, ज्ञात रचना तिथियाँ सन् 1802 से 1835 ई० तक की हैं—छहढाला (सं. 1859), पंचास्तिकाय हिन्दी पद्य में (सं.1891), तत्त्वार्थबोध (सं. 1871 या 1889), बुधजनसतसई (सं. 1879), बुधजन विलास (सं. 1892) और इष्ट छत्तीसी'। वर्द्धमान पुराण (हि. पद्य) भी इनकी एक रचना रही बताई जाती है।

जयचन्द छाबड़ा, भारी साहित्यकार, 1804 से 1829 ई. के बीच अनेक पुरातन ग्रन्थों की हिन्दी गद्य वचनिकाएँ लिखीं-सर्वार्थसिद्धि (सं.1861), परीक्षामुख (सं.1863), द्रव्यसंग्रह (सं.1863) तथा इसका हिन्दी पद्यानुवाद भी, आत्मख्याति समयसार की परमाध्यात्मतरंगिणी वचनिका (सं. 1864), स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (सं. 1866), अष्टपाहुड़ (सं. 1867), ज्ञानार्णव (सं. 1869 या 1865), प्रमेयरत्नमाला, पत्रपरीक्षा, देवागम स्तोत्र (सं. 1866 या 1886) चन्द्रप्रभचरित्र, (के द्वितीयसर्गन्याय भाग की), पुण्यास्रवकथाकोश, सामायिकपाठ, मतसमुच्चय, भक्तामरचरित्र-हिन्दी पद्य (सं. 1870), फुटकर पद आदि का संकलन (सं. 1874)

डालूराम अग्रवाल, माधवराजपुर निवासी ने–गुरूपदेश श्रावकाचार (सं. 1867) सम्यक्त्वप्रकाश (सं. 1871), पंचपरमेष्ठि पूजन आदि कई पूजाएँ–सब रचनाएँ हिन्दी पद्यमयी हैं।

जीवनराम गोधा ने—हिन्दी पद्य में अनन्तव्रतकथा (सं. 1871) एवं अष्टाह्निका कथा रची थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीलाल पाटनी ने—सं. 1870 में तेरहद्वीप-पूजा और अकृत्रिम चैत्यालय पूजा लिखी हैं। इनकी एक रचना आप्तपरीक्षा भाषा है।

मन्नालाल सांगा ने–सं. 1871 में चारित्रसार की हि.-गद्य वचनिका लिखी थी।

अमरचन्द, जयपुर राज्य के दीवान थे, शास्त्र-मर्मज्ञ और विद्वानों के प्रश्रयदाता थे, 19वीं शती ई० के पूर्वार्ध में हुए हैं—परमात्मप्रकाश की हिन्दी टीका लिखी।

केशरीसिंह पंडित ने—वि. सं. 1873 में वर्द्धमानपुराण की हिन्दी वचनिका लिखी और संस्कृत में बृहद्ध्वजारोपण पूजन।

पन्नालाल चौधरी, भारी शास्त्रकार थे, 19वीं शती ई० के पूर्वार्ध में हुए, लगभग 35 ग्रन्थों की हिन्दी गद्य वचनिकाएँ लिखीं, यथा–वसुनंदि श्रावकाचार, सुभाषितार्णव, तत्त्वसार, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, जिनदत्तचरित्र, तत्त्वार्थसार, सद्भाषितावली, आराधनासार, धर्मपरीक्षा, योगसार, समाधिशतक, तत्त्वार्थसारदीपक, सुभाषितरत्नसंदोह, भक्तामर कथा, पाण्डवपुराण, यशोधर चरित्र, जम्बुचरित्र, जीवंधर चरित्र, गौतमचरित्र, भविष्यदत्त चरित्र, आचारसार, नवतत्त्व, श्रावकप्रतिक्रमण, स्वाध्यायपाठ, विविध भक्तियाँ और विविध स्तोत्र।

सदासुखदास कासलीवाल पंडितप्रवर, पूर्ण-जीवन लगभग (1795-1867 ई०) रचनाओं से ज्ञात तिथियाँ 1821 से 1864 ई० तक की हैं—भगवती आराधना वचनिका (सं.1878), तत्त्वार्थ-सूत्र की अर्थप्रकाशिका टीका (सं. 1914), समाधिकरण-मृत्युमहोत्सव (सं. 1919) रत्नकरण्ड-श्रावकाचार टीका (सं. 1920), नित्यनियम पूजा टीका (सं. 1921), नाटक समयसार वचनिका, पंचप्रतिक्रमणसूत्र वचनिका, अकलङ्काष्टक वचनिका, आदि। व्याकरण विषय की भी एक कृति इन्होंने रची बताई जाती है।

नेमिचन्द पाटनी ने—1823 से 1864 ई० के बीच तीन भाषा पूजाएँ रचीं।

उदयचन्द लुहाड्या ने—1825 ई० के लगभग रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका लिखी।

ताराचन्द ने—इसी समय के लगभग तीस-चौबीसी पूजा की रचना की।

चम्पाराम दीवान ने—सं. 1882 (सन 1825 ई०) में जैन चैत्यस्तव की हि.-पद्य में रचना की।

जवाहिरलाल पंडित ने—इसी समय के लगभग तीस-चौबीसी पूजा, त्रिलोकसार विधान, और सम्मेदशिखर महात्म्य एवं पूजाविधान की रचना की।

ऋषभदास निगोत्या ने—सं. 1888 में नन्दलाल छाबड़ा के सहयोग से मूलाचार की हिन्दी गद्य वचनिका लिखी। इनकी अन्य रचनाएँ रत्नत्रय पूजा-जयमाल और व्रत विचार हैं।

नंदलाल छाबड़ा ने—ऋषभदास निगोत्या के सहयोग से ऋषिमंडल मन्त्रपूजा और तीस-चौबीसी पूजा समुच्चय की हिन्दी में रचना की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरचन्द लुहाड़ा ने—सं. 1891 में बीस-विरहमानपूजा और चौबीसी पूजा की रचना की। इनकी अन्य कृतियाँ हैं बुद्धिप्रकाश, अमरचन्द्रिका और समयसार टीका भाषा, जो पन्नालाल (चौधरी ?) के सहयोग से लिखी।

सरूपजी बिलाला ने—इसी समय के लगभग त्रिलोकसार का हिन्दी पद्यानुवाद किया तथा 12 पूजाएँ रची।

सर्वसुखराय पंडित ने—सं. 1896 में समोसरणपूजा की रचना की।

शिवजीलाल पंडित—अच्छे विद्वान थे, इनका कार्यकाल लगभग 1840 से 1885 ई० तक रहा प्रतीत होता है। रचनाएँ—भगवती आराधना की भावार्थदीपिका संस्कृत टीका (सं. 1918), गजपन्थमण्डलपूजन विधान-संस्कृत (सं. 1939), तथा बोधसार, दर्शनसार (सं. 1923), अध्यात्मतरंगिणी, रत्नकरण्डश्रावकाचार और उमास्वामिश्रावकाचार की हिन्दी टीकाएँ, और हिन्दी में चर्चासार, चर्चासंग्रह एवं तेरहपंथ खंडन।

चैन जी लुहाड्या ने—1850 ई० के लगभग अकृत्रिम चैत्यालय पूजा भाषा लिखी।

पारसदास निगोत्या, ऋषभदास निगोत्या के पुत्र और पं. सदासुख जी के शिष्य थे—इन्होंने सं. 1917 में ज्ञानसूर्योदय की भाषा टीका, 1918 में चतुर्विंशतिका-वचनिका रचीं। इनके पद आदि का संग्रह पारस विलास है।

नाथूलाल दोसी भी सदासुख जी के शिष्य थे, इन्होंने—परमात्मप्रकाश वचनिका (सं. 1911), रत्नत्रयजयमाल वचनिका (सं. 1924), दर्शनसार रत्नकरण्ड श्रावकाचार और सिद्धिप्रियस्तोत्र के हिन्दी पद्यानुवाद, तथा समाधितंत्र-वचनिका, सुकुमालचरित्र, महीपालचरित्र, रत्नत्रय कथा, षोडसकारणव्रत कथा, अष्टाह्निका कथा हिन्दी गद्य में लिखी।

पन्नालाल संघी दूनीवाले भी सदासुखजी के प्रिय शिष्य थे—इन्होंने उत्तरपुराण वचनिका, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थसारदीपक (सं. 1937), तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायदीपिका, द्रव्य संग्रह, रत्नकरंडश्रावकाचार, इष्टोपदेश की हिन्दी टीकाएँ लिखीं, और जैन विवाह पद्धति (सं.), धर्मदशावतार या धर्मप्रदीपक नाटक (सं.) बिम्बनिर्माण विधि (हि.) और विद्वज्जनबोधक इनके स्वतंत्र ग्रन्थ हैं।

फतेहलाल—भी सदासुखजी के शिष्य और पन्नालाल दूनीवालों के मित्र एवं साहित्यिक सहयोगी थे—विवाह पद्धति, दशावतारनाटक, राजवार्तिक, न्यायदीपिका आदि कृतियाँ इन दोनों की संयुक्त रूप में हैं।

मन्नालाल बैनाड़ा ने—सं. 1916 में प्रद्युम्नचरित्र की हि. गद्य वचनिका लिखी थी।

दुलीचन्द बाबा—ने जयपुर में 1869 ई० में जैन शास्त्रनाममाला नामक एक वृहत् जैन ग्रन्थ सूची तैयार की थी। इन्होंने धर्मोपदेशरत्नमाला, सुभाषितार्णव, प्रतिष्ठासार, नित्यधर्मप्रक्रिया और जैनागर प्रक्रिया (सं. 1955) की हिन्दी टीकाएँ भी लिखी हैं।

महाचन्द विबुध भी इसी समय के लगभग हुए हैं, इन्होंने—संस्कृत, प्राकृत और भाषा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महापुराण लिखी, जैनेन्द्रलघुवृत्ति, सामायिक पाठ भाषा, त्रिलोकसारपूजा, जिनस्तुतिपंचविंशतिका, आदि की रचना की थी।

पन्नालाल गोधा 'मरकत' ने—1876 ई० (सं. 1933) में मरकतमणि विलास वचनिका लिखी थी, मरकतविलास, सम्यग्दर्शनचंद्रिका, पाक्षिक श्रावक चन्द्रिका तथा जैन बालबोधत्रिशतिका इनकी अन्य रचनाएँ हैं।

इस प्रकार जयपुर में उक्त डेढ़ सौ वर्ष (सं. 1725–1875 ई०) में पचास से अधिक श्रेष्ठ विद्वान एवं साहित्यकार हुए, जिनकी कृतियों की संख्या दो अढ़ाई सौ से ऊपर ही है। उपरोक्त 56 साहित्यकारों के अतिरिक्त भी कुछ हुए हो सकते हैं, और संभव है कि उल्लेखित विद्वानों में से दो चार का सम्बंध जयपुर के साथ रहा न पाया जाय। उपरिसूचित नाम, कृति नाम, कृति संख्या, तिथियों आदि में भी कहीं-कहीं त्रुटियाँ रही हो सकती है। तथापि जयपुर के तत्कालीन साहित्य सेवियों के प्रामाणिक इतिहास के निर्माण में यह लेख प्रेरक हो सकता है।

नारी

★ ममता मालथाणी
व्याख्याता : सी. पी. महिला कालेज
113, सराफा वार्ड, जबलपुर–2

नारी
पुस्तक नहीं
कविता है
उसे पढ़ा नहीं
जिया जाता है
कवि होने के नाते
मैं तुम पर
दोहरी कविता जीने की
मानसिकता नहीं थोपूंगी
पर इतना अनुरोध अवश्य करूंगी—
उसे दैनन्दिनी मत समझो
जिस पर अपनी दिनचर्या का
हिसाब लिख
तुम आराम से सो जाओ
और वह रात भर
करवटें बदलती रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी साहित्य में वृन्द, रहीम आदि के दोहे सुभाषितों के रूप में पर्याप्त विख्यात रहे हैं। शायद ही कोई हो जिसे इन कवियों का एकाध दोहा याद न हो। जैन कवियों ने भी ऐसे दोहे लिखे हैं जिनका यदि मूल्यांकन किया जाय तो वे इन कवियों के दोहों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं उतरेंगे किन्तु आज कोई उन्हें जानता तक नहीं क्योंकि न तो उनका प्रकाशन होता है और न उन्हें पाठ्यक्रम आदि में रखाने का प्रयत्न। जो कुछ थोड़ा प्रयत्न हुआ भी है तो उसमें जैनों से अधिक हाथ जैनेतरों का ही है। यदि कुछ छपता भी है तो अत्यन्त सीमित संख्या में और उसके पीछे भी मिशनरी भावना के स्थान में कोई अन्य ही भावना काम करती है। जयपुर के ही कवि विरधचन्द जैन ने बुधजन उपनाम से एक सतसई की दोहा छन्दों में रचना की थी। उनके रचे और भी ग्रन्थ हैं किन्तु वे पूरे छपे नहीं या छपे तो अब प्राप्य नहीं, फिर उनके महत्व का पता विद्वानों को लगे तो कैसे!

— पोल्याका

बुधजन सतसई

● श्री रमाकान्त जैन
ज्योति निकुंज, चारबाग,
लखनऊ

सात सौ एक दोहों की यह कृति कवि बुधजन ने, अन्त में दी गई कवि प्रशस्ति के अनुसार, ढूंढार प्रदेश के जैपुर नगर में नृप जयसिंह के राज्यकाल में संवत् 1879 में ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी रविवार को पूर्ण की थी। इस कृति, जिसे कवि ने ग्रन्थ की संज्ञा दी है, का सार स्वयं उनके शब्दों में निम्नवत् है :

'भूख सहो दारिद सहो, सहौ लोक अपकार।
निंदकाम तुम मति करौ, यहै ग्रंथको सार॥

सदाचरण पर बल देने वाले इस सतसई के सुगम सुभाषितों का गुण, कवि की भाषा में, 'सुनत पढ़त समझैं सरब, हरैं कुबुधि का फेर' है। इन सुभाषितों की रचना करने के पीछे जो प्रेरक तत्व था उसे स्पष्ट करते हुए बुधजन ने लिखा है :

'ना काहू की प्रेरना, ना काहू की आस।
अपनी मति तीखी करन, वरन्यौ वरनविलास॥'

सिद्धों को नमस्कार कर ग्रन्थ ॐ नमः करते समय ही कवि ने अपनी कृति का नाम, आकार और उद्देश्य निश्चित कर लिया था यह प्रथम दोहे से स्पष्ट है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सनमतिपद सनमतिकरण, बन्दौं मंगलकार ।
बरनैं बुधजन सतसई, निजपरहितकरतार ॥'

अपने इस ग्रन्थ को कवि ने देवानुरागशतक, सुभाषित नीति, उपदेशाधिकार, बिराग भावना और कवि प्रशस्ति नामक प्रकरणों में विभाजित किया है। देवानुरागशतक में जैसा नाम से ही स्पष्ट है देवभक्ति के 100 दोहे हैं। सुभाषित नीति अधिकार में नीति सम्बन्धी 200 दोहे हैं। उपदेशाधिकार में भी 122 दोहे तो नीति सुभाषित हैं शेष में से 15 विद्याप्रशंसा में, 14 मित्रता और संगति पर, 8 जुआ निषेध पर, 6 मांस निषेध पर, 6 मद्य निषेध पर, 6 वेश्या निषेध पर, 6 शिकार की निन्दा में, 7 चोरी निन्दा में और 9 परस्त्रीसंग निषेध पर रचित हैं। विरागभावना में वैराग्य जागृत करने वाले 195 दोहे हैं और अन्त के सात दोहों में कवि ने अपनी प्रशस्ति लिखी है।

देवानुरागशतक में कवि अपने आराध्य का गुणगान करते हुए नहीं अघाया है—

तुम अनंतगुन मुखथकी, कैसें गाये जात।
इंद मुनिंद फनिंद हू, गान करत थकि जात ॥

तुम अनंत महिमा अतुल, यौं मुख करहूं गान।
सागर जल पीत न बनैं, पीजै तृषा समान ॥

आनंदघन तुम निरखिकैं, हरषत है मन मोर।
दूर भयौ आताप सब, सुनिकैं मुखकी घोर ॥

आन थान अब ना रुचैं, मन राच्यौ तुम नाथ।
रतन चिंतामनि पायकै, गहै काच को हाथ ॥

जैसे भानु प्रतापतैं, तम नासैं सब ओर।
तैसे तुम निरखत नस्यौ, संशयविभ्रम मोर ॥

धन्य नैन तुम दरस लखि, धनि मस्तक लखि पांय।
श्रवन धन्य वानी सुनैं, रसना धनि गुन गाय ॥

कवि ने अपने को दीन, अनाथ और अवगुणों का धाम माना है तथा अपने को बालक, वानर की कोटि में रखते हुए अपने दीनानाथ तारनतरन आराध्य से भवसागर से तार लेने की बार-बार विनती की है। भक्त कवि सूरदास के 'मेरे औगुन चित्त न धरौ' पद की भांति ही बुधजन ने भी अपने आराध्य से मांग की है—

मेरे औगुन जिन गिनौ, मैं औगुनको धाम।
पतित उधारक आप हो, करौ पतित को काम ॥

और शिकायत की है—

सुनी नहीं अजौं कहूँ, बिपति रही है घेर।
औरनि के कारज सरे, ढील कहा मो बेर ॥

फिर अपने देव की कठिनाई को समझते हुए कवि विनती करता है—

हारि गये हो नाथ तुम, अधम अनेक उधारि।
धीरैं धीरैं सहज मैं, लीजै मोहि उबारि ॥

और यह याचना करता है—

और नाहिं जाचूं प्रभू, ये वर दीजै मोहि।
जौलौं सिव पहुंचूं नहीं, तौलौं सेऊं तोहि ॥

यद्यपि कवि ने अपने इष्टदेव का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु उनका जो गुणगान किया है उससे स्पष्ट है कि वे जिनेन्द्र के उपासक थे। वीतराग जिनेन्द्र के प्रति यह दास्य भक्ति यद्यपि कुछ विचित्र सी लगती है, किन्तु उनकी यह विनती-याचना तुलसी की विनयपत्रिका, सूर के विनय पद तथा अन्य पूर्ववर्ती एवं समकालीन भक्त कवियों द्वारा अपने आराध्य के प्रति किये गये भक्तिगानों की शृंखला में की गई भावाभिव्यक्ति है।

सुभाषित खण्ड और उपदेशाधिकार प्रकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कवि ने लोक-मर्यादा के संरक्षण हेतु अनेक हितकारी नीति की बातें बताई हैं। कबीर, तुलसी रहीम, वृन्द और बिहारी के नीति विषयक दोहों की परम्परा में रचित इस खण्ड के दोहों पर संस्कृत के सुभाषितों की भी छाप है। पं० स्व० नेमिचन्द शास्त्री के अनुसार "कतिपय दोहे तो पंचतन्त्र और हितोपदेश के नीतिश्लोकों का अनुवाद प्रतीत होते हैं। तुलसी, कबीर और रहीम के दोहों से भी कवि अनुप्राणित सा प्रतीत होता है।" किन्तु इन दोहों में कवि की अपनी मौलिकता भी स्पष्ट है। पारिभाषिक जैन शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने सम्यक्त्व की महिमा, मिथ्यात्व की हानि एवं चारित्र की महत्ता प्रतिपादित की है। साथ ही लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है। एक-एक दोहे में जीवन को प्रगतिशील बनाने वाले अमूल्य सन्देश सरल भाषा में भरे हुए हैं। जिन्हें देखकर बिहारी सतसई के सम्बन्ध में कही जाने वाली उक्तियां बरबस याद आ जाती हैं। वास्तव में बुधजन सतसई भी गागर में सागर है। इसके दोहों के पठन और मनन से हृदय पूत भावनाओं से भर जाता है। उपर्युक्त खण्डों के दोहों की बानगी निम्नलिखित दोहों में देखी जा सकती है —

एक चरन हूं नित पढ़ै, तो काटै अज्ञान।
पनिहारी की लेज सौं, सहज कटै पाषान॥

पर उपदेश करन निपुन, ते तौ लखै अनेक।
करै समिक बोलै समिक, ते हजार में एक॥

जो कुदेव को पूजिकै, चाहै शुभ का मेल।
सो बालू को पेलिकै, काढ़्या चाहे तेल॥

परका मन मैला निरखि, मन बन जाता सेर।
जब मन मांगै आनतैं, तब मन का ह्वै सेर॥

गलि गलि मैं मरते फिरै, मनमैं गया न फेर।
फेर मिटै तें मनतना, मरै न दूजी बेर॥

जिनका मन आतुर भया, ते भूपति नहिं रंक।
जिनका मन संतोष मैं, ते नर इन्द्र निसंक॥

सींग पूंछ बिन बैल हैं, मानुष बिना विवेक।
भख्य अभख्य समझैं नहीं, भगिनी भामिनी एक॥

ना जानैं कुलशीलके, ना कीजै विश्वास।
तात मात जानैं दुखी, ताहि न रखिये पास॥

गनिका जोगी भूमिपति, वानर अहि मंजार।
इनतैं राखैं मित्रता, परै प्रान उरभार॥

अधिक सरलता सुखद नहिं, देखो विपिन निहार।
सीधे बिरवा कटि गये, बांके खरे हजार॥

दुगुण क्षुधा लज चौगुनी, अष्ट गुनौ विवसाय।
काम वसु गुनौ नारिकै, वरन्यौ सहज सुभाय॥

कूर कुरूपा कलहिनी, करकस बैन कठोर।
ऐसी भूतनि भोगिबौ, बसिबौ नरकनि घोर॥

नृपति निपुन अन्याय मैं, लोभ निपुन परधान।
चाकर चोरी मैं निपुन, क्यौं न प्रजा की हान॥

विरागभावना प्रकरण में बुधजन ने संसार की असारता का रोचक और सजीव चित्रण किया है और कटु सत्य को प्रकट किया है। इस प्रसंग में निम्नांकित दोहे दृष्टव्य हैं —

केश पलटि पलट्या वपू, ना पलटी मन बांक।
भुजै न जरती झूंपरी, ते जर चुके निसांक॥

को है सुत को है तिया, का को धन परिवार।
आके मिले सराय में, बिछुरेंगे निरधार॥

परी रहैगी संपदा, धरी रहैगी काय।
छलबलि करि क्यों हु न बचै, काल झपट लै जाय॥

निसि सूते संपतिसहित, प्रात हो गये रंक।
सदा रहै नहिं एकसी, निभै न काकी बंक॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुछ स्वानप अति गाफिली, खोई आयु असार।
अब तौ गाफिल मत रहौ, नीड़ा आत करार॥

देधारी बचता नहीं, सोच न करिये भ्रात।
तन तौ तजिगे रामसे, रावन की कहा बात॥

हिन्दी ब्रजभाषा में रचित इस सतसई में, जैसा कि ऊपर उद्धृत दोहों से भी प्रकट है ढूंढारी बोली का प्रभाव है जो कि कवि के उस प्रदेश का होने के कारण स्वाभाविक है। अपभ्रंश और उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है। अनुप्रास, यमक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र छाई है। 'करतार' शब्द का प्रयोग निम्न दोहे में दृष्टव्य है—

परमधरमकरतार हैं, भविजनसुखकरतार।
नित बन्दन करता रहूँ, मेरा गहि कर तार॥

बुधजन कवि का उपनाम है। उनका मूल नाम बिरधीचन्द था। वह जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन थे। एक अच्छे पण्डित और कवि थे। ऊपर चर्चित सतसई के अतिरिक्त उन्होंने, डा० ज्योतिप्रसादजी के अनुसार, छहढाला (सं० 1859 में), तत्वार्थबोध (सं० 1871 या 1889 में), पञ्चास्तिकाय (हिन्दी पद्य में सं० 1891 में), बुधजन विलास (सं० 1892 में), इष्टछत्तीसी और वर्द्धमानपुराण (हिन्दी पद्य में) की रचनाएं की। यह आश्चर्य का विषय है कि बुधजन सतसई एक धर्मनिरपेक्ष नीतिपरक साहित्यिक कृति होते हुए भी हिन्दी जगत में अब तक उपेक्षित रही है, साहित्यिक रसिकों ने इसका मूल्यांकन नहीं किया है। यदि अनुसंधित्सु इस संक्षिप्त परिचय से प्रेरणा ले इस कृति का सही मूल्यांकन कराकर उसे हिन्दी साहित्य में उचित स्थान दिला सकें तो क्या ही अच्छा हो। उपरोक्त विवेचन पिताजी (डा० ज्योतिप्रसादजी के संग्रह में उपलब्ध बुधजन सतसई के सन् 1910 के एक जीर्णशीर्ण संस्करण के आधार पर किया गया है जिसे पं० नाथूराम प्रेमी ने संशोधित-सम्पादित कर अपने जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित किया था।

दुर्जन

अदोषामपि दोषाक्तां पश्यन्ति रचनां खलाः।
रविमूर्ति मिवोलूकास्तमाल दल कालिकाम्॥

अर्थ—दुर्जन लोग निर्दोष रचना में भी दोष ही देखते हैं जैसे उल्लू सूरज को तमाल के पत्ते की तरह का काला देखता है।

—रविषेणाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसिद्ध क्रांतिकारी सरदार भगतसिंह ने फांसी पर झूलने से पूर्व बड़े जोश से कहा था—'शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर वर्ष मेले, कौम पर मरने वालों का बाकी यही निशां होगा, किन्तु उनका कथन कथन मात्र ही रह गया। चिताओं पर हर वर्ष मेले जुड़ने की बात तो दूर बहुत से शहीदों को तो आज बिलकुल भुला ही दिया गया। संघी झूथाराम एक ऐसे ही स्वतन्त्रता प्रेमी व्यक्ति थे। जैसा कि ऐसे व्यक्तियों के साथ प्रायः होता आया है इतिहासकारों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। अग्रजसम भाई भँवरलालजी ने जयपुर के जैन दीवानों पर बहुत काम किया है। लेकिन वह सब प्रकाशन की बाट जोह रहा है। दिगम्बर समाज के कर्ता धर्ता श्रीमान धीमान पता नहीं क्यों इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर से उदासीन हैं? पूर्वजों के प्रेरणास्पद गौरवशाली व्यक्तित्वों को प्रकाश में लाने में उनके सामने न मालूम क्या बाधा है? आज खण्डेलवाल जैन (सरावगी) समाज की जो वर्तमान अवस्था है उसका एक सबसे बड़ा कारण यह भी है कि वे अपनी जाति के पूर्व प्रेरणास्पद गौरव से अपरिचित हैं।

—पोल्याका

संघी झूंताराम और उनके पूर्वज

समाजरत्न पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ
सपादक—वीरवाणी
(जयपुर)

राजस्थान के इतिहास में जैनों का साहित्य, कला, शौर्य, शासन, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन संस्कृति की रक्षा करते हुए इस प्रान्त की उनने अपार सेवा की है। जहां साहित्य निर्माण एवं उसके संरक्षण का कार्य प्रत्येक मन्दिरों के शास्त्र भंडारों में स्थित अपार साहित्य द्वारा प्रतिभासित हो रहा है वहां जैन मन्दिरों की स्थापत्य कृतियां उनके कला प्रेम को प्रदर्शित कर रही हैं। इसी प्रकार प्रान्त की शासन व्यवस्था और राजनीति में भी जैनों का बहुत हाथ रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने ऐसे ही एक व्यक्ति और उनके पूर्वजों के बारे में पाठकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जानकारी देने का प्रयत्न किया है जिसे महान होते हुए भी इतिहासकारों ने अन्यथा चित्रित किया है। वह व्यक्ति है संघी भूंताराम। राजनैतिक विरोध के कारण जिसे काफी बदनाम किया गया है। प्रान्त में अंग्रेजों का आधिपत्य न जमने देने के कारण जिसे दागी माना गया—देश भक्तों की जोस्थिति हुई वह ही उस स्वतन्त्रता प्रेमी की हुई।

संघी भूंताराम के पूर्वजों ने ढूंढाहड राज्य की बहुत सेवायें की हैं। इस वंश में कई दीवान—प्रधानमंत्री हुए हैं। सर्व प्रथम जिस व्यक्ति का उल्लेख मिलता है वह है संघी मल्लिदास जिसका चौधरी माला या माली जै भौंसा या मालू आदि नामों से उल्लेख मिलता है। संवत् 1650 में आषाढ़ कृष्णादशमी रविवार को प्रतिष्ठित कालाडेरा कस्बे के दिगम्बर मन्दिर में विराजमान मूर्ति के लेख में इस वंश का परिचय है। मोजमाबाद वास्तव्ये लिखा है। भौंसा—बड़जात्या गोत्रीय प्राय: अधिक परिवार चोरू मोजमाबाद में ही हैं। सं. 1658 में माली जै भौंसा ने बिम्ब प्रतिष्ठा कराई थी। आमेर एवं कई स्थानों के जैन मन्दिरों में इस संवत् की प्रतिष्ठित मूर्तियां उपलब्ध हैं। माली जै भौंसा ने उस समय चोरू, दूदू, बोदरसींदरी, साखूण और अराई इन पांच स्थानों पर विशाल मन्दिर बनवाये थे जो आज भी मौजूद हैं। सं० 1663 में लिखित करकण्डु[1] चरित्र की प्रशस्ति में इनके पिता का नाम ऊदा मिलता है। उसमें इनके लिए संघभार धुरन्धर लिखा है। इनके सबसे बड़े पुत्र डालू थे जिनके लिये संघभार धुरन्धर, जिन पूजा पुरन्दर, जिन चैत्यालये प्रतिष्ठा कारणोक तत्पर शब्दों का प्रयोग किया गया है। सं. माली जी के पुत्र संघी डालू थे वे राज्य में उच्च पद पर थे—बड़े ईमानदार थे—झूंठी शिकायत पर दण्ड भुगतना पड़ा था। उनके संबंध में एक पद्य प्रचलित है—

दण्ड भरयो डालू मालू को डूबी ईमानदारी।
चाकर होकर चोरी कीजे, नातर होसीख्वारी।

संघी डालू के पुत्र खेतसी थे और खेतसी के पुत्र मोहनदास थे जो मिर्जा राजा जयसिंह के महामन्त्री थे। सं. 1714-16 में मोहनदास द्वारा बनाये गये आमेर के जैन मन्दिर-(जो अब जैन मन्दिर नहीं है) के शिलालेख जो म्यूजियम में रखे हैं—उनमें 'मोहनदासो महामन्त्री जयसिंह-महीभृत:' का तथा 'महाराजाधिराज श्री जयसिंह स्तस्य मुख्य प्रधान अम्बावती नगराधिकारी, निजयश:-सुधा-धवलीकृतविश्व: सार्थकनामधेय:' आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ये महामन्त्री थे।

इसी वंश में मोहनदास के बड़े पुत्र कल्याणदास भी दीवान थे। औरंगजेब के दरबार में शिवाजी को लाने में जयपुर राजाओं का हाथ था—आगरा से प्रतिदिन का पत्र व्यवहार इन्हीं संघी कल्याणदासजी से होता था। मोहनदास के तृतीय पुत्र अजीतदास भी दीवान थे। सं. 1770 में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्टासीन होते समय ये उपस्थित थे—ऐसा कवि नेमिचन्द्र कृत जकड़ी में विशेषत: उल्लेख है। सं. 1788 में इनने जयपुर में दो चोक का विशाल मन्दिर बनवाया था जो संघीजी के मन्दिर के नाम से आज भी विख्यात है। मन्दिर के सामने ही इनकी विशाल हवेली थी।

संघी अजीतदास के वंश में संघी हुकमचन्द और संघी भूंताराम हुए। संघी हुकमचन्द फौज के इंचार्ज थे, दीवान थे। सं. 1881 से 1891 तक इनका कार्यकाल था। इन्हें राय बहादुर का खिताब था। वे बड़े बहादुर और वीर थे। राजा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये संरक्षक थे। वंश भास्कर के पृष्ठ 4260 पर लिखा है—"जहं हुकमचन्द झूंताप्रजात। नृप पिट्ठि खवासी तिनि निभात।" वे बड़े धर्मात्मा भी थे। जयपुर शहर के बाहर उत्तर पूर्व कोने में इनने एक नसियां बनाई थी जो संघी हुकमचन्द की नसियां के नाम से आज विख्यात है। इनके पुत्र विरधीचन्द भी 1886–88 में दीवान रहे।

इस वंश में बहुचर्चित व्यक्ति संघी झूंताराम हुए हैं। वे बिचक्षण व्यक्ति थे। इनका जन्म सं. 1832 के आसपास माघ कृष्णा 14 को हुआ था इनका दीवान पद पर कार्यकाल सं. 1884 से 1891 माना जाता है। सं. 1877 से पहले भी ये राज्य में उच्च पद पर थे। इनका सारा जीवन संघर्षमय रहा है ये बड़े जीवट के व्यक्ति थे।

संघी झूंताराम के सम्बन्ध में लिखने से पूर्व कुछ तत्कालीन जयपुर की परिस्थितियों पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। जयपुर के तत्कालीन राजा जगतसिंह (सं. 1860 से 1875) का समय जयपुर के इतिहास में एक अशान्ति का समय रहा है। जयपुर का युद्धरत रहना, राजा का ऐय्याशी जीवन, राजनैतिक उथल पुथल, अंग्रेजों का रियासत में जमाव आदि ऐसी घटनाएं हैं जिससे जयपुर जनजीवन एवं राज्य व्यवस्था अस्त व्यस्त रही। जयपुर राज्य के साथ अंग्रेजों की संधि सन् 1803 में हुई पर वह स्थिर नहीं रही। सन् 1813 में फिर अंग्रेजों ने दखल चाहा पर उन्हें सफलता नहीं मिली, सन् 1817 में भी कामयाबी नहीं मिली। अन्त में रावल बैरीसाल के मंत्रित्व काल में सन् 1818 में सन्धि हुई जिसमें चार लाख से आठ लाख तक सालाना कर अंग्रेजों को देने का वायदा हुआ फलतः रावल बैरीसाल को अंग्रेजों का संरक्षण मिला। बलदेव प्रसाद मिश्र ने राजस्थान के इतिहास पृष्ठ 633–634 में लिखा है कि "इस संधि से जयपुर राज्य ने चिरकाल के लिए अपने स्वाधीन ऊंचे मस्तक को नीचा कर लिया और कर देना स्वीकार किया।" सन् 1803 के सन्धि पत्र में कोई कर देना तय नहीं हुआ था।

राजा जगतसिंह का निस्संतान सं. 1875 (21-12-1818) में स्वर्गवास हो गया। अतः राज्य में कई दावेदार बनने लगे। जगतसिंह जी की द्वितीय रानी भटियानी जी ने बताया कि वे गर्भवती हैं। इसकी जांच हुई। दि. 25-4-1819 को उनके पुत्र जन्मा जिनका नाम द्वि.जयसिंह रखा गया। पटराणी राठोड़ जी के बजाय पुत्र जन्मदात्री भटियाणी रानी राजमाता हो गई। अतः दोनों रानियों में अनबन रहने लगी। नाबालगी के इस काल में रावल बैरीसाल मंत्री थे। 12 मई, 1819 को राज्य के ठाकुरों, मुत्सद्दियों और प्रमुख कार्यकर्त्ताओं की ओर से राजमाता को एक शपथपत्र प्रस्तुत किया गया कि नाबालगी के समय हम पूरी सतर्कता से कार्य करेंगे। इसमें कई जैन अधिकारी थे। राजमाता स्वाधीनता प्रेमी थी, वह अंग्रेजों का दखल कतई नहीं चाहती थी। रावल बैरीसाल राज्य कार्य में राजमाता का दखल नहीं चाहते थे। रावल को अंग्रेजों का संरक्षण था। फलतः राजमाता और मंत्री में मतैक्य नहीं रहा। परस्पर अनबन रहती थी। राजमाता को संघी झूंताराम का पूरा विश्वास था। क्योंकि संघी अंग्रेजों के दखल के विरुद्ध था—स्वतन्त्रता प्रेमी था। वह सूझ बूझ वाला, दूरदर्शक, शासन पटु था। राजमाता ने आय के विभाग का मंत्री संघी को बनाया रावल को संघी का हस्तक्षेप पसन्द न आया। राजमाता ने दोनों को मिलकर काम करने की सलाह दी।

सन् 1821 में जयपुर में पोलिटिकल एजेन्सी कायम हुई। एजेन्ट ने रावल को सारा काम संभलवाने, राज कार्य में से राजमाता को हाथ खेंचने और राज्य के अन्दरूनी हिसाब किताब के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मामलों में अंग्रेजों के अधिकार की तजवीज की[2] इससे राजमाता नाराज हुई। संघी झूंताराम, दीवान अमरचन्द आदि राज्य के उच्चाधिकारियों ने भी इसका समर्थन नहीं किया। फलतः राज्य में दो राजनैतिक पार्टियां बन गई। एक तरफ अंग्रेज और रावल बेरीसाल सिंह आदि, दूसरी ओर स्वतन्त्रता प्रेमी राजमाता, संघी झूंताराम और उनके सहयोगी कई मुत्सद्दी राजपूत सरदार आदि। राज्य में राजनैतिक उथल पुथल होने लगी। कभी रावल का प्राबल्य और कभी संघी का। रावल ने पोलिटिकल एजेन्ट को दरखास्त दी कि संघी और उसके साथियों को हटाया जाय और अंग्रेज फोर्स की मदद चाही—पर अंग्रेज नीतिज्ञ थे। उनने इसके लिए मना किया। उनने भेद नीति ही अपनाई। लाचार रावल जी को संघी को साथ लेकर कार्य करना स्वीकार करना पड़ा।

राजमाता रावल से और नाराज रहने लगी। फरवरी सन् 1823 में रेजीडेन्ट के आगमन से पूर्व राजमाता ने रावल को दरबार में शामिल होने के लिए इन्कार किया और कौंसिल में मेघसिंह डिग्गी वालों को लिया। रावल ने उस समय जो दीवान पद पर था—इससे अपना अपमान माना। उसने पोलिटिकल एजेण्ट के द्वारा झूंताराम एवं मेघसिंह को हटाने के लिए राजमाता पर दबाव डाला। जब राजमाता इससे सहमत न हुई तो संघी को स्तीफा देने के लिए अंग्रेजों ने बाध्य किया। निदान संघी ने त्यागपत्र दिया। स्वतन्त्रता प्रेमियों को समाप्त करने के लिए दूसरा प्रहार ठा. मेघसिंह पर किया गया। उनका लाम्बा का किला हस्तगत करने के लिए नसीराबाद स्थित ब्रिटिश ब्रिगेड बुलाकर, लडाई लड़कर खाली कराया गया। इससे जहां राज्य में अंग्रेजों का दबदबा बढ़ा वहां स्वतन्त्रता की लहर भी बढ़ी। रावल के खिलाफ चार्ज लगाकर राजमाता ने एक सर्कुलर घुमाया जिस पर अनेक ठाकुरों आदि के हस्ताक्षर थे। उधर पोलिटिकल एजेण्ट ने रावल के पक्षकारों के हस्ताक्षर कराये। संघी यात्रार्थ बाहर चले गये और ठाकुर मेघसिंह डिग्गी चले गये। रावल को अंग्रेजों का संरक्षण मिला।

सन् 1824 में राजमाता ने राज्य की विभिन्न बटेलियन्स की तथा समस्त ठाकुरों की शेखावतों को एकत्र किया और पराधीनता को उखाड़ फेंकना चाहा। अंग्रेजों ने नसीराबाद से फौजें बुलाकर विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया पर फौजें हटी नहीं। रावल शहर छोड़कर अंग्रेजों की शरण में गया और उसे संरक्षण दिया गया। रेजीडेन्ट आक्टरलोनी ने आकर राजमाता से बात की और उनकी शर्तें मानी। रावल जी को हटाकर डिग्गी ठाकुर को मुखिया बनाया। संघी हुकमचन्द को उनका नायब और दीवान अमरचन्द को रेवेन्यू का अधिकारी बनाया।

संघी झूंताराम की योग्यता के सब कायल थे। राजमाता ने उसे बुलाना चाहा पर पोलिटिकल एजेण्ट सहमत नहीं हुआ। वह संघी को खतरनाक व्यक्ति मानता था। वह जानता था कि शासनपटु, निर्भीक और आजादी का दीवाना संघी यदि आ जाएगा तो हमारे पंजे उखाड़ फेंकेगा। इसलिए उसे जिलावतनी का आदेश दिया गया। लेकिन जब पो. एजेण्ट का तबादला हुआ तो उसने लिखा कि झूंताराम के न आने की कैद हटा ली जावे तो ठीक है क्योंकि राज्य का कार्य अब भी उसकी सलाह से होता है और वह यहां रहे तो उत्तरदायी तो रहेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन् 1825 में कैप्टिन रेपर के स्थान पर कैप्टिन लौ आये। रावल ने नाबालिग राजा को बाहर लाने और माजी को बे अख्तियार करने के लिए एजेन्ट पर दबाव डाला। अक्टूबर 1826 में दोनों पार्टियों की तरफ से पांच-छ हजार व्यक्ति एकत्र हुए पर नतीजा कुछ नहीं। चार्ल्स मेटकाफ ने राज्य के सरदारों की मीटिंग बुलाई। 50 में से 28 राजमाता के पक्ष में और 22 रावल के पक्ष में रहे। माजी सफल हुई। कैप्टन लौ के समय में अंग्रेजी हुकूमत ने संघी झूंताराम को बुलाया। संघी ने कई दिन बाद काम सम्भाला। के.लौ के बाद सर जार्ज क्लार्क आये और उसने संघी को दीवान बनाया। दि.25-4-1828 को गवर्नर जनरल कौंसिल ने सरक्लार्क ब्रूक को लिखा कि रानी के पक्षकारों के बिना मिनीस्टरी चल नहीं सकती, उससे मुल्क की बरबादी हो रही है और हमारा खिराज भी नहीं मिल रहा है। झूंताराम की योग्यता के सम्बन्ध में कोई शक नहीं है और यह भी उम्मीद है कि वह जनता की भलाई एवं हमारी हुकूमत के हक में कार्य करेगा।

संघी ने प्रधानमंत्री का कार्य संभालते ही समस्त राजपूत सरदारों से जो बिखरे हुए थे—नाराज थे—संपर्क स्थापित किया। तीन वर्ष में केवल रावल बैरीसाल के अतिरिक्त समस्त ठाकुरों को रजामन्द कर लिया। रावल को भी समझाया कि मिलकर कार्य करे। संघी ने राज्य का सारा कर्जा चुकाया, अंग्रेजों का खिराज भी चुकता किया। शेखावाटी का सुप्रबन्ध करने हेतु कर्नल लाकेट को भेजा। फलतः लूट खसोट बन्द हुई। संघी का प्रभाव और राज्य संचालन पटुता देख विरोधियों ने सन् 1831 में उसे मारने तक का षड्यन्त्र किया पर वे सफल नहीं हुए।

जयपुर नरेश युवा हो गए थे। विवाह भी रानी चन्द्रावत जी के साथ 1832 में हो गया था। पर राजमाता का स्वर्गवास हो गया। होनहार की बात कि 1835 में नवयुवक राजा जयसिंह का स्वर्गवास हो गया। लोगों को मौका मिला दीवान संघी झूंताराम दीवान अमरचन्द आदि न्यायाधिकारियों को बदनाम करने का। उन पर राजा को मारने का दोषारोपण किया गया। सांप्रदायिकता उभारी गई। जैनों के साथ बुरा बर्ताव हुआ।

जयसिंहजी के स्वर्गवास पर उनकी रानी चन्द्रावत जी माजी मुख्तार हुई। वह स्वतन्त्रता प्रेमी थी। अंग्रेजों का आधिपत्य इन्हें भी अपनी सास की तरह पसन्द न था। फलतः ये भी रावल जी के खिलाफ और संघी झूंताराम के मुआफिक थी। कई इतिहासकारों ने संघी को हत्यारा आदि शब्दों से व्यवहृत किया है पर साथ ही यह भी लिखा है कि इसका कोई सबूत नहीं। यदि संघी जयसिंह का हत्यारा होता तो उनकी रानी चन्द्रावतजी इनके पक्ष में कैसे होती?

राजा के मरने के बाद संघी ने स्तीफा पेश किया और राज्य कार्य छोड़ धार्मिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा व्यक्त की पर महारानियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। विपक्षी और अंग्रेज यह चाहते ही थे। कर्नल आल्वस एजेन्ट गवर्नर जनरल राजपूताना ने ऊपर से आज्ञा प्राप्त कर संघी को जयपुर से चले जाने के लिए कहा। वे आमेर में अपने मकान में रहने लगे। सत्ता से हट जाने पर विरोधियों की काफी बन पड़ी। संघी को आमेर में उनके घर से बलदेवजी के मन्दिर में भेजा गया और फिर दौसा में नजरबन्द कर दिया। उनके भाई हुकमचन्द को आगरा जाने की अनुमति दे दी गई। पर धन दौलत-मार्ग व्यय तक नहीं ले जाने दिया। उनके परिवार वाले काफी परेशान हुये। वे आगरा जाकर रहने लगे जिनके वंशज महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेस वाले स्व. श्री कपूरचन्दजी जैन एवं उनके पुत्र आदि हैं।

रावल श्योसिंह को रियासत का काम सुपुर्द करने के लिए अंग्रेज गवर्नमेंट के आदेश लेकर 4 जून 1835 (ज्येष्ठ शुक्ला 8 सं. 1892) को मि. आल्व्स और उनका सहायक मि. ब्लैक तथा दो अन्य अंग्रेज राजमाता के महलों में गये और उक्त आदेश सबको बताया। वहां बहुत लोग एकत्र थे। भीड़ में से एक व्यक्ति ने मि. आल्व्स पर तलवार से हमला कर दिया। मि. ब्लैक ने तलवार छीन ली और उसे जेल भेज दिया। दोनों अंग्रेज भी चले गए। मि. ब्लैक थोड़ी देर बाद हाथी पर चढ़कर वह तलवार लिए बाहर आये। उनके कपड़ों पर खून के छींटे थे। इतनी देर में शहर में बात फैल गई कि महलों में खून खराबी हुई है। जब ब्लैक के हाथी पर तलवार और खूनदार कपड़े देखे तो यह अफवाह फैल गई कि ये बालक राजा का खून करके आए हैं। बस, जनता पीछे पड़ गई और जिसके हाथ में जो आया मारने लगे। हाथी पर बैठा चपरासी मारा गया, महावत जख्मी हुआ। हाथी को किशनपोल बाजार में अजबघर के सामने मन्दिर के बरामदे के सहारे लेकर ब्लैक मंदिर पर चढ़ गए पर जनता ने उन्हें पकड़ और मार कर सड़क पर फेंक दिया।

इस काण्ड से अंग्रेज काफी नाराज हुए। विरोधियों को कुचलने का मौका मिल गया। आषाढ शुक्ला 13 सं. 1892 को संघी झूंताराम के सहयोगी दीवान अमरचन्द आदि गिरफ्तार किए गए। एक कमीशन अंग्रेजों ने बिठाया। संघी झूंताराम और उनके भाई संघी हुकमचन्द पर रावल जी को नीचा गिराने के लिए खूंरेजी का षड्यन्त्र करने का आरोप लगाया और दीवान अमरचन्द व मानकचन्द भांवसा पर फसाद का इन्तजाम करने का और बख्शी मन्नालाल को फौज को मुताफिक रखने का। कमीशन ने संघी झूंताराम, हुकमचन्द, अमरचन्द आदि को मृत्युदण्ड देने का तजवीज किया पर गवर्नर जनरल ने यह माना कि संघी राज्य के बदलने के अपराधी है ब्लैक की हत्या के नहीं अतः उन्हें आजीवन कारावास की सजा देकर चुनारगढ़ के किले में भेज दिया गया। उनके भाई पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे। संघी झूंताराम सं. 1895 में स्वर्गवासी हो गए। अमरचन्द को फांसी की सजा सुनाई गई।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्रेमियों को दण्ड भुगतना पड़ा, पर आजादी की ज्वाला बुझी नहीं सुलगती रही, बढ़ती रही। रावल श्योसिंह से राजमाता प्रसन्न नहीं थी। सन् 1838 में रामगढ़ में पलटनों ने बगावत की। ठा. मेघसिंह 5000 फौज लेकर आए तो अंग्रेजों ने लक्ष्मणसिंह को मुकाबले के लिये भेजा। 1840 से कालख के किले पर माजी के पक्षपातियों—स्वतन्त्रता प्रेमियों का कब्जा हुआ पर फिर नाकामयाबी हुई। राजामाता के भाई को जिलावतनी की सजा हुई। अपने पक्षपातियों को जागीर देने, राजकोष खत्म करने आदि के कारण रावल को हटाया गया।

उक्त बातें लिखने का आशय मात्र यह है कि संघी के कारण ही यदि गड़बड़ी थी तो उनके मरने के बाद भी ये घटनायें क्यों हुई। स्थिति यह थी कि अंग्रेजों का आधिपत्य राजघराने को पसन्द नहीं था। वे स्वतन्त्र रहना चाहते थे। अंग्रेजों के पक्षपाती रावल जी से राजघराना खुश नहीं था। संघी झूंताराम एवं उनके सहयोगी स्वतन्त्रता प्रेमी थे—वे जयपुर को आज़ाद रखना चाहते थे। अतः स्वतन्त्रता प्रेमियों को अंग्रेजी शासन में फांसी की बलिवेदी पर चढ़ने या जेल के जो उपहार मिलने थे वे संघी जी आदि को मिले। उनका अपराध मात्र आजादी था—देश भक्ति था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ इतिहासकरों ने संघी को बदनाम किया है उसे दुराचारी कहा है । वे इतिहासकार अंग्रेजों द्वारा या विरोधियों द्वारा नियन्त्रित थे। अंग्रेजी शासन में उनके खिलाफ आवाज उठाना या लिखना मौत से खेलना था । फिर भी इतिहास उपलब्ध है उसका निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो संघी भूतंाराम एक महान देशभक्त और विदेशी सत्ता का विरोधी ही माना जायगा उसके चरित्र और आचारण पर जो छींटाकसी की गई है वह सत्य साबित नहीं होती।

संघी भूंताराम का शासन कठोर था। वह अपराध पर किसी को बख्शता नहीं था। कहा जाता है कि स्वयं के बड़े भाई हुकमचन्द के गुमास्तों द्वारा मकान बनाने वाले कारीगरों का समय पर भुगतान न करने पर मकान तोड़ने के आदेश दे दिये थे। उसके समय अपराधों की कड़ी सजायें थीं। बड़े अपराध पर गोली से उड़ा देना, चोरियां करने पर हाथ काट देना आदि सजायें बताई जाती हैं, उसके समय में चोरियां नहीं होती थीं। संघी का बड़ा आतंक था। वह सफल शासक था।

1. जयपुर के बड़े मंदिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित।
2. देखिए कर्नल ब्रूक द्वारा लिखी गई पोलिटिकल हिस्ट्री आफ दी स्टेट आफ जयपुर।

बा ल क ?

बालक है भगवान उसे तुम मत शैतान बनाओ रे।
बड़ा होय और करे देश का नाम, ढंग अपनाओ रे ॥
वह तो होता कच्चा लोथा, ढालो ज्यूं ढल जाएगा।
रावण राम बनाना चाहो, वैसा ही बन जाएगा।
बालक का तो निश्चित मानो नकल ही पहला धर्म है।
जैसे कर्म करोगे सम्मुख, करता वैसे कर्म है।
करो कर्म आदर्श उसे भी वैसा ही तुम पाओ रे ॥ बालक है....॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोचना के बीच रहा बालक निन्दक बन जायेगा।
दोष कहेगा पर के, खुद के ऐब सदा ढक जाएगा॥
विरोध शत्रुता बीच रहा तो, केवल लड़ना सीखेगा।
उपहास मजाकों बीच रहा तो, केवल डरना सीखेगा॥
वातावरण उसे दो अच्छा, अच्छी बात सिखाओ रे॥बालक है॥

बालक यदि रहता है लज्जा शेम या अपमान बीच।
खुद को दोषी करेगा अनुभव, बन जायेगा आखिर नीच॥
सहनशीलता क्षमा बीच, यदि बालक रहता आया है।
धैर्यवान बन ऐसा बालक, महावीर बन पाया है॥
काम सराहो सदा और गुणग्राही उसे बनाओ रे॥ बालक है···· ॥

सच्चाई, ईमान बीच, यदि बालक का रहना होगा।
आगे चलकर उस बालक को न्याय प्रिय कहना होगा॥
विवेक, चेतना, सद्बुद्धि के बीच, यदि बालक रहता।
विश्वास आत्म जागेगा उसका, बात नीति की हूँ कहता॥
मूल्य है क्या आत्मविश्वासी का, समझो-समझाओ रे॥ बालक है॥

बच्चे को अनुमोदन दो, पाएगा खुद को प्यारा वह।
अपनाओ और देओमित्रता, होगा जग में न्यारा वह॥
इतना गर कर पाओ, फिर वह, प्यार जगत का पाएगा।
प्रताप, शिवा और लाल जवाहर बनकर नाम कमाएगा॥
बच्चा बने महान बताया 'राज' इसे अपनाओ रे।
बालक है भगवान उसे तुम मत शैतान बनाओ रे॥

❀ **राजमल जैन**
'बेगस्या', जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

> संघी झूंथारामजी तथा उनके पूर्वजों का वर्णन पाठक इस ही स्मारिका में अन्यत्र पढ़ेंगे। यहां है उनके पश्चात् होने वाले उनके वंशजों का वर्णन। पाठक देखेंगे कि विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध जो मशाल संघी झूंथाराम और उनके सहकर्मियों ने प्रज्वलित की थी उसे उनके वंशधरों ने अन्त तक बुझने न दिया। लेखक ने हमारे विशेष आग्रह और अनुरोध पर यह परिचयात्मक और प्रेरणास्पद निबन्ध लिख कर भेजा है एतदर्थ उनका आभार।
>
> —पोल्याका

दीवान झूंथारामजी संघी और उनके वंशज

श्री प्रतापचन्द्र जैन
21/63, धूलियागंज,
आगरा।

जयपुर के शान्तिनाथ दिग. जैन मन्दिर में उपलब्ध करकंडु महाराज का चरित नामक ग्रन्थ की अन्त्य प्रशस्ति में संघी उदा का कुछ विवरण मिलता है, जो आज से 350 वर्ष से भी पूर्व जयपुर राज्य के महामन्त्री थे। उन्हीं संघी उदा के वंशजों में संवत् 1885 के लगभग संघी झूंथारामजी जयपुर राज्य के दीवान हो चुके हैं। वे बड़े साहसी, चतुर और सूझबूझ के धनी थे। उन के समय में राज्य के जैनियों का बड़ा दबदबा था राज्य की समृद्धि में उनका बहुत बड़ा हाथ था। जैनी अनेकों सम्माननीय पदों पर कार्यरत थे और बड़ी ख्याति थी उनकी निष्ठा और ईमानदारी की।

दीवान झूंथारामजी बड़े ही दृढ़ संकल्पी थे और राजदरबार तथा प्रजा जनों में वे बड़े ही आदर पात्र थे। जैन समाज के तो वे एक स्तम्भ थे ही उन्होंने कितने ही मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और नसियां तथा धर्मशाला बनवाई। तब तक भारत में व्यापार की खातिर आये अंग्रेजों ने देश में अपने पैर जमा लिए थे और वे रियासतों में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। जयपुर भी उनके जाल से नहीं बच पाया। परन्तु दीवान झूंथारामजी को उनका दखल पसन्द नहीं था। वे बड़ी होशियारी से उनके हस्तक्षेप को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरस्त करते रहे। अंग्रेज इस द्रोह को कब बर्दाश्त कर सकते थे ?

दीवानजी के खिलाफ षड्यन्त्र और महाराजा की हत्या—जब अंग्रेजों ने देखा कि सीधे सीधे पार नहीं पड़ने की तो उन्होंने दीवान जी के खिलाफ एक गन्दे षड्यन्त्र की रचना की। लोभ लालच देकर कुछ जागीरदारों और अधिकारियों को अपनी ओर तोड़ लिया। 23 फरवरी 1835 को राज्य द्रोहियों की मिली भगत से षड्यन्त्र द्वारा तत्कालीन महाराज की हत्या कर दी गई और उस हत्या का दोष दीवान भूंथाराम पर डाला गया। पोलीटिकल एजेंट मि. आल्वस ने कलकत्ते से फरमान मंगाकर, जहां उन दिनों ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हैड क्वार्टर था, उन्हें उनके पद से हटा दिया और दौसा में उन्हें नजरबन्द कर दिया।

जयपुर ट्रायल—अंग्रेजों ने जयपुर ट्रायल के नाम से दो मुकदमे चलवाए जिनमें से एक दीवान भूंथारामजी संघी, उनके बड़े भाई हुकमचन्दजी तथा पुत्र फतेहलाल पर था। विद्रोह फैलाने तथा मि. आल्वस पर आक्रमण कराने का झूंठा जुर्म लगाकर उन्हें आजन्म कैद की सजा दी गई और चुनारगढ़ के किले में कैद कर दिया गया। इस प्रकार इन जनप्रिय राज्यभक्तों को झूठे आरोपों की बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया जबकि मि. आल्वस पर जो आक्रमण हुआ था वह 4 जून को दिन दहाड़े महल के सामने कुपित जनता द्वारा किया गया था।

जयपुर से निष्कासित—संघी भूंथारामजी की नजरबन्दी के साथ ही उनके परिवार के लोगों को चौबीस घण्टे के अन्दर जयपुर छोड़ जाने का हुकम दे दिया गया। इस नाम मात्र की मोहलत में जो कुछ वे साथ ले सके उसे गाड़ियों और ऊंटों पर लाद कर वे आगरा चले गए। अपनी संपत्ति का बहुत बड़ा भाग उन्हें वहीं छोड़ देना पड़ा।

आगरे में— आगरा पहुंच कर किनारी बाजार के बीचोंबीच मस्जिद के बगल में उन्होंने एक फाटकदार घेरे में पड़ाव डाला जिसे उन्होंने खरीद लिया। यह स्थान आगे चलकर भूंथाराम के फाटक के नाम से नगर में विख्यात हुआ। यहां उन्होंने एक आलीशान हवेली और दुकानों का निर्माण कराया तथा धर्मध्यान के लिए एक चैत्यालय की भी स्थापना की।

भूंथारामजी के पुत्र फतहलालजी और हुकमचन्दजी के पुत्र श्री बिरधीचन्दजी का कुछ समय बाद देहान्त हो गया। तब परिवार का साराभार बिरधीचन्दजी के पुत्र श्री हीरालालजी और श्री चिम्मनलालजी पर आ पड़ा। इन दोनों के दो दो पुत्रियां थी, पुत्र किसी के भी नहीं था। तब सेठ हीरालालजी ने कुटुम्ब का एक बालक गोद ले लिया। उस बालक का नाम रघुनाथ दास रक्खा गया। उसकी गोद का उत्सव बड़े समारोह के साथ किया गया और खूब दान दिया गया।

आगरे में दीवानजी के इन वंशजों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। सराफे में उनका बसना काफी ऊंचा गिना जाता था। उन्होंने लाखों ही कमाए और लाखों ही दान पुण्य में दिए। आगरे की जैन समाज में उनका बड़ा सम्मान था।

बा. रघुनाथदासजी—गोद लिया रघुनाथ दास एक होनहार बालक निकला। उसने हिन्दी के साथ साथ अंग्रेजी भी पढ़ी और एफ. ए. तक शिक्षा पाई। बड़े होकर पिता के कारोबार में हाथ न बंटा कर स्वावलम्बी बनना ठीक समझा और डाक तार विभाग में नौकरी कर ली। अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्यता, कार्यकुशलता और ईमानदारी के कारण वे शीघ्र ही पोस्ट मास्टर बना दिए गए और बनारस जैसे नगर में बरसों पोस्ट मास्टर रहे। वे बड़े ही धर्मात्मा, दयालु और परोपकारी थे। रिटायर होते समय उनको हृदय स्पर्शी बिदाई दी गई। वहां के स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना में उनका भी हाथ था।

पेंशन लेकर वे आगरा लौट आए और कुछ वर्ष बाद तीन पुत्र और उनकी माता को छोड़कर स्वर्गवासी हो गए। उनकी धर्मपत्नी साक्षात गृह लक्ष्मी थी। तीन पुत्रों में सबसे बड़े सालिगराम जी थे, मझले मक्खनलालजी और सबसे छोटे कपूरचन्दजी।

रघुनाथदासजी के तीन पुत्र—बा. रघुनाथ दासजी के सबसे बड़े श्री सालिगरामजी आगम श्रद्धानी और तत्वज्ञानी थे। संसार से विरत हो उन्होंने आचार्य 108 श्री शान्तिसागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ले ली और अजितकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्त समय आपका जयपुर में बीता। वहां वे असाध्य रोग से पीड़ित हो गए। अन्त समय आने पर आप चतुर्विध आहार का त्याग कर मुनि पद धार पद्मासन अवस्था में सन् 1942 में स्वर्गवासी हो गए।

श्री सालिगरामजी से छोटे मक्खनलालजी व्यापारी बने और अधिकतर बम्बई में रहे। उनका भी स्वर्गवास हो चुका है।

सबसे छोटे बा. कपूरचन्दजी का जन्म श्रावण शुक्ला 7 संवत् 1951 को हुआ था। उन्हें दयालु पिता और धर्मपरायण माता के गुण विरासत में मिले थे। वंश परम्परा की छाया भी पड़ी उन पर। वे पढ़े तो अधिक नहीं थे परन्तु अच्छे अच्छों के कान काटते थे। बुद्धि और सूझबूझ में छुटपन में ही उन्होंने सामाजिक कार्यों में भाग लेना शुरू कर दिया था। जैन कुमार सभा आगरा के वे कर्मठ सदस्यों में से थे। आरम्भ में उन्होंने सौदागरी की दुकान की। वह अधिक दिन नहीं चली तो उसे छोड़कर टोपियों का व्यापार शुरू किया जो दूर दूर तक खूब चला। अपने सद्विचार और कुशल व्यवहार से वे शनैः शनैः ख्याति और लोकप्रियता की ओर बढ़ने लगे।

महावीर प्रेस की स्थापना—सन् 1921-22 में आपने एक बड़ी मशीन खरीद कर आगरे में महावीर प्रेस के नाम से एक प्रेस खड़ा कर लिया। आपकी मिलनसारी मेहनत और भलमनसाहत से प्रेस खूब चमका। प्रान्त के सरकारी प्रेस से राजकीय छपाई के लिए भी उसे मान्यता मिल गई।

सच्चे समाज सेवी और निर्भीक देशभक्त—यह प्रेस आगरे में सभी कार्यकलापों का एक प्रमुख केन्द्र था। शायद ही कोई जैन विद्वान अथवा सम्पादक रहा हो जो उनके पास न आया हो और उन्हें न मानता हो। श्री नाहटाजी और कापड़ियाजी के दर्शन मुझे वहीं हुए थे। वाणीभूषण पं. तुलसीरामजी बड़ौत और पं० नन्दकिशोरजी माथुर जब भी आगरा आते वहीं ठहरते। महेन्द्रजी, डा० सत्येन्द्र, किशोरीदासजी वाजपेयी, परिपूर्णानन्द वर्मा, केदारनाथ भट्ट का भी जमघट वहां रहता। जैन कुमार सभा की चर्चा मैं ऊपर कर ही चुका हूँ। इसके अतिरिक्त वे स्थानीय महावीर दिग. जैन इन्टर कालेज के वरिष्ठ सहायक रहे। आगरा दिग. जैन परिषद के भी प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। उसकी मीटिंग प्रायः महावीर प्रेस में ही हुआ करती थीं। वे खुद भी एक सजीव सक्रिय संस्था थे।

देशभक्ति बा. कपूरचन्दजी में कूट-कूट कर भरी थी। सन् 1930 के सत्याग्रह आन्दोलन में आपके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेस ने बड़ी सहायता की। मासिक बुलेटिन गुप्त रूप से वहीं छपते। पुलिस ने अनेकों बार वहां छापे भी मारे। जब कुछ नहीं मिलता तो गवर्नमेण्ट खीज कर प्रेस को सील कर दिया करती, और वह महीनों बन्द रहता। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में आपने बेजोड़ सेवा की, उन दिनों गुप्त प्रकाशनों में आपका बहुत बड़ा हाथ था। ऐतिहासिक लाल पर्चा हाथोंहाथ वहीं छपा। क्रान्तिकारियों की गुप्त बैठकें, आपके यहां होती। दिसम्बर 1942 में जब प्रसिद्ध आगरा षड्यन्त्र केस में अनेक लोग पकड़े गये तो पुलिस ने आपको भी घेरा, डराया, और धमकाया। तब, आप, आगरे से फरार हो गये। प्रेस पहले ही सील हो चुका था। दो वर्ष तक आप इधर-उधर घूमते, छिपते और कष्ट उठाते रहे। इस दौरान जो कठिनाइयां और विपत्तियां आपने झेलीं उनकी कल्पना पाठक स्वयं कर लें। उनका साथी होने के कारण इन पंक्तियों के लेखक को भी राजकीय सेवा से मोअत्तिल कर दिया गया था।

उदारमना विशाल हृदय—आन्दोलन की समाप्ति पर दो वर्ष बाद सन् 1944 में बाबूजी आगरा लौटे, प्रेस पुनः चला, और अच्छा चला। अच्छे दिन आने पर वे साथियों को नहीं भूले। कइयों की भरसक गुप्त मदद की। धेवतों को पाला पोषा और पढ़ाया। एक बार मैं जब इलाहाबाद में था और बच्चे आगरे में, मेरे एक पुत्र को भयंकर टायफाइड रोग हो गया था वे सुनते ही मेरे घर दौड़े आये, और सब को सान्त्वना दी और डाक्टर लाये। स्ट्रैप्टोमाइसीन की गोलियां जो उन दिनों 30-35 रु० दर्जन आती थीं, पता नहीं कितनी आईं, मंगाकर दीं। फल और दूध अलग। सूचना मिलने पर मैं आया तो धैर्य बंधाया और बोले मैं तो यहां था ही, मेरे होते आप चिन्ता न करें। ऐसे उदारमना महापुरुष थे वे। कभी बखान नहीं किया उन्होंने अपनी देशभक्ति और सेवा कार्यों का।

कुशल सम्पादक व प्रशासक—जो जैन संदेश आज दिग. जैन संघ मथुरा द्वारा निकाला जा रहा है उसके जन्मदाता वे ही थे। प्रेस था ही। 1929 में अखबार शुरू कर दिया। थोड़े ही दिनों में उसने देश और समाज में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। निर्भीक स्वतन्त्र पर तटस्थ नीति थी उसकी। राष्ट्रीय प्रश्न भी उससे अछूते नहीं रहते थे।संचालन, सम्पादन समाचार संकलन और प्रूफ पठन से लेकर पत्र व्यवहार तथा डिस्पेच तक का सारा काम वे स्वयं ही करते। बला के परिश्रमी थे। तेज इतना लिखते कि स्टेनो भी मात खा जाय। दो साल तक अखबार बड़ी खूबी व शान से चलाया। तदुपरान्त बेटे के समान पाला पोसा होनहार पत्र को उन्होंने संघ को सौंप दिया जो अब भी अपने 50 वें वर्ष में निकल रहा है। सन् 1938 में उन्होंने बच्चों के लिए सुन्दर मासिक पत्र झुनझुना निकाल डाला। इतना लोकप्रिय बन गया था वह कि स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने उसकी प्रशंसा की थी। उसका सारा काम भी वे स्वयं ही करते। वह दो साल ही चल पाया था कि आन्दोलन की चपेट में आ गया। प्रेस बन्द हो जाने पर वह भी टूट गया। संवत् 1983 में वीर रस प्रधान मासिक वीर सन्देश का प्रकाशन उन्होंने और किया। उसका सम्पादन किया था श्री महेन्द्रजी ने। यह भी दो साल तक ही चल पाया था।

परिवार—बा० कपूरचन्दजी की दो शादियां हुई। पहली लश्कर से और दूसरी डीग से। पहली पत्नी से जन्मी कञ्चनबाई जो महावीर क्षेत्र के भू. पू. मैनेजर जयपुर निवासी श्री गुलाबचन्दजी शाह के सुपुत्र श्री भंवरलाल शाह के साथ ब्याहीं। दूसरी पत्नी ने जन्म दिया पुत्री सरोज बाला, और पुत्र अशोक कुमार को। सरोज बाला काशी में ब्याह दी गई और अशोककुमार आगरे में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका भी विवाह हो चुका है। श्री सालिगरामजी के एक पुत्री हुई रतनबाई जो जयपुर के ठोलिया परिवार में ब्याही। अशोक सम्हाल नहीं पाया तो प्रेस भी हाथ से निकल गया। मकान बाबू कपूर चन्दजी के सामने ही बिक चुका था।

चराग गुल---ऐसा परिवार था दीवान झूंथारामजी का और ऐसे देव पुरुष थे उनके वंशज बा. कपूरचन्दजी । 3 जनवरी सन् 1954 को क्रूर दुर्दैव ने उन्हें हमारे बीच से उठा लिया। कुछ दिन बाद उनकी पत्नी श्रीमती कस्तूरी बाई भी चल बसीं। बाबूजी के निधन से आगरे का एक बहुत बड़ा सार्वजनिक केन्द्र उजड़ गया। इससे आगरे की धार्मिक सामाजिक, साहित्यिक और राष्ट्रीय गतिविधियों को गहरी ठेस लगी ।

परिवार में

श्री अशोक कुमार जैन जरूर है परन्तु—
जिस गुल से थी उम्मीद, चढ़ायेगा लाके फूल
गुलकर गया चराग वह उनके मजार का ॥

महावीर री सीख अमर रहे।

त्राहि त्राहि मचगी जग मांहि
जीवां ने जीव ही भाख रह्या।
चोरी कपटी छीना झपटी,
हिंसा रा दिन दिन दूख हुआ ॥

❀

जग—अंधियारा मेटण खातर
इक दीप चमकतो परकट हुयौ।
यौह दीप वही परमारथ रौ,
श्री महावीर रो जलम भयरो ॥

❀

धर्म रा सारा गिरंथा ने,
दोहण कर इक ही तन्त दियो।
जीवो जीवण दो सब ही नै,
मानवता रो यो पंथ दियो ॥

❀

संयम—समता—विनय सेत,
अहिंसारो जग ने पाठ दियो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यों महावीर रा समवसरण में,
सब प्राणी मिल नेह लियो ॥

❀

राजा अर रंक में नहीं अन्तर,
ईश्वर रे घर तो एक रह्यो ।
कर ऊंच-नीच रो उण्मूलन
यो अनेकान्त रो सार गह्यो ॥

❀

काहे तन निरखे मन हरखे
परिग्रह धन दौलत नाहि धरे ।
पल में तन धन की राख बणे,
स्वामी री शिक्षा अमर रहे ॥

❀

मत भूलो ये तीन रतन,
चरित्र ज्ञान-सम्यक् दर्शन ।
मोक्ष प्राप्त करबा तांई,
भगवान रा बताया ये साधन ॥

❀

ये महावीर सिद्धान्त है,
बेथाक अनन्त अपार है ।
ह बे-हिंसा और अनेकान्त री,
बहती हुई जल धार है ॥

❀

प्राणी रा पण री भार लियो,
जब तक या पिरथी बणी रहे ।
समभाव-जाति और धर्माज्ञिया,
स्वामी री जुग जुग अणी रहे ॥

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान् लेखक ने अपने निबंध में प्रस्तुत पदों को 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' आदि ग्रन्थों के रचनाकार विख्यात आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी द्वारा रचित होने की संभावना व्यक्त की है वह तो हमारे विचार में ठीक नहीं ज्ञात होती क्योंकि रचनाकार ने अपने को एक पद (सं. 7) में टोडरू ब्रह्म कहा है। ऐसे प्रयोग भट्टारकों के नीचे काम करने वाले पंडित ही प्रायः किया करते थे। संभव है इन पदों के रचनाकार भी ऐसे ही कोई पण्डित हों जो अब तक अज्ञात हों। यह हमारा अनुमान ही है। पदों की भाषा, सरसता, लालित्य आदि को देखते हुए निश्चय ही रचनाकार जैन हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान पाने योग्य है। पाठक इस ओर और खोज करेंगे इस पवित्र भावना के साथ।

—पोल्याका

ोडरमलजी के कुछ अप्रकाशित पद

●श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल
68, कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर,
शाहदरा, दिल्ली–32

प्रस्तुत आठ आध्यात्मिक पद अनुसंधित्सु पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं। ये सभी द टोडरमलजी द्वारा रचित हैं जैसा कि इन पदों की अंतिम पंक्तियों में उल्लिखित नामों से लीभांति विदित होता है। यह निश्चय करना बडा कठिन हो रहा है कि प्रस्तुत पद किन ाडरमलजी के रचे हुए हैं। क्योंकि टोडरमल नाम के कई विद्वान जैन साहित्य जगत में ल्लेखनीय हैं।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के रचयिता टोडरमलजी तो सर्व विख्यात हैं ही। यदि ये पद उन्हीं द्वारा चित हैं तब तो निश्चय ही गीति साहित्य की ये बहुमूल्य निधियां हैं पर यदि इन पदों के रचयिता कोई ौर टोडरमल हैं तो निश्चय ही अनुसंधित्सु पाठकों के लिए ये खोज का विषय बन जाते हैं और ऐसे योग्य कलाप्रेमी भावप्रवीण आध्यात्मिक गीतकार के जीवन परिचय का अन्वेषण कर साहित्य गत को बहुमूल्य सामग्री से सुपरिचित कराया जावे।

मेरे पास इस तरह की रचनाओं का अच्छा खासा संग्रह है। एक दिन उन्हें उलट पलट रहा। तभी अचानक इन पदों पर दृष्टि पड़ गई। तभी श्री पोल्याकाजी का 'स्मारिका' के लिए लेख जने हेतु पत्र प्राप्त हुआ था। जिसमें आग्रह किया गया था कि जयपुर से संबंधित किसी आचार्य या चना से संबंधित लेख भिजवा सकें तो अति उपयुक्त होगा। मैं श्री पोल्याकाजी के आग्रह के प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधनबद्ध होना चाहता था, अतः मैंने अपने संग्रह को टटोला तो उसमें मुझे टोडरमलजी कृत विभिन्न रागों में आठ पद प्राप्त हो गए। मैंने सोचा कि ये पद जिस किसी टोडरमल के हों पर कवि तो जयपुर या उसके आस पास कहीं राजस्थान का ही होना चाहिए अतः मैंने अपने लेख के लिए इन्हीं पदों को उपयुक्त समझा और प्रस्तुत लेख में विद्वान् आध्यात्म प्रेमी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

इन पदों में आध्यात्मिकता और सरसता कूट कूट कर भरी पडी है जो बडी चित्ताकर्षक और मनोहारी है। सांसारिक भव भोगों से निवृत्ति का बडा ही रोचक और अनोखा वर्णन विद्यमान है। पहले ही पद में आदिनाथ स्वामी की बाललीला का वर्णन तो हिन्दी के महाकवि सूरदास की बाललीला को भी फीका कर देता है। माता मरुदेवी का अपने पुत्र आदिनाथ को खिलाने का कैसा सुन्दर और रोचक वर्णन प्रस्तुत पद में विद्यमान है। यह पाठकों को सहज ही आकर्षित कर लेता है। पलने की रचना, घुंघराले बाल, ठुमकभरी चाल, देवों गन्धर्वों का प्यार, माता पिता का प्रभु की छवि का निरखना आदि सभी का वर्णन बडे ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

शेष अन्य पदों में आध्यात्मिकता की पुट जैसी गहरी और सुपुष्ट है उसे कोई आध्यात्म प्रेमी ही समझ सकता है। लोगों को संसार के जंजाल से छूटने की जैसी अच्छी सलाह कवि ने दी है वह बहुत ही अनुकरणीय एवं मोक्ष मार्ग का पथ प्रशस्त करने वाले हैं। इन्द्रिय भोगों से विरक्त होने के लिए तीसरा पद बहुत ही सुन्दर और उत्तम है। संसार कैसा जंजाल है इस का उत्तम वर्णन सातवें पद में विद्यमान है।

अंतिम पद में "साढ़ी बतिया,' शब्द इस बात का द्योतक है कि कवि पर कहीं पंजाबी भाषा का प्रभाव तो नहीं पड़ रहा है क्योंकि साढ़ी शब्द पंजाबी का है पर संभव है इसका प्रचलन राजस्थानी में भी हो। सातवें पद में 'टोडर ब्रह्म' से ऐसा प्रतीत होता है कि इन पदों के रचयिता कोई ब्रह्म टोडर नाम के कवि हों? कुछ भी हो, पद उच्चकोटि की आध्यात्मिकता से भरपूर हैं।

टोडर के पद

(1) राग गौरी—

देखो खिलावत मरुदेव्या नंदन नाभिकुमार।
पलना रतन खचित हलरावति झूलउ ललन दुलार ॥ टेक ॥
सोभित मुकुट जटित वैदूरज हीरा लाल सुढार।
अति छबि तिलकु बनौ केसरि को घूंघर वारे बार ॥2॥
राजत कनक भूमि रज अंमन मोतिन बंदनवार।
ठुमका चालि चलत जम जीवनि घुगुरनि की झनकार ॥3॥
वरसत मंद मंद जलकनिका कुसुम वृष्टि अधिकार।
गंधर्व नृत्य करत ता थेई ता थेई सबद करत झंकार ॥4॥
किन्नर करत मधुर सुर गौरी झांझि मृदंग दुतार।
नभचर थकित भए धुनि सुनकर अनहद बजै धुकार ॥5॥
अवलोकत चुम्बत मुख सुत को आउर ललन हमार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहु मेवा पकवान मिठाई लीजै प्राण अधार ॥6॥
हरषत तात मात छवि निरखत पुलकित गात अपार।
सेवा करें सब कर जोरे शक्र रहत दरबार ॥7॥
कीजो कृपा कृपानिधि सागर सुगति मुकति दातार।
माँगत चरन सरन जन टोडर ज्यों भव उतरै पार ॥8॥

(2) राग बिरावर—

मन सिख मानत क्यों न तू हो।
क्यों न अज्ञान होतहि सिखवत हो दिन मान।
रचि रह्यो तात मात सुत भ्रातनि यह रंग रहत रहत न अयान ॥1॥
रंग कर राम नाम तज स्यामै उर रंग सकल जु होत विकाम।
धन यौवन वनितहिं कत भूलत यह कछु लगत न साथ निदान ॥2॥
सो ए तेरा कलहतु जैसे संपति याग तैं कछु न विहान।
जप तप यतन बिना जन टोडर अब सुन पावत क्यों निर्वान ॥3॥

(3) राग बिरावर—

विषफल काहे कों भखत गंवार मन तूं समझायौ कै वार।
काल अनादि बंध्यो इन्द्रिन संग अब तूं चेतत क्यों न सवार ॥1॥
नीच निगोद फिरयौ चारों गति तजत न अजहूं मनहि विकार।
अपनो ग्रह बिसराइ चतुर तूं घर घर भटकत द्वारनि द्वार ॥2॥
भवसागर बूड़त कत नागर उपजत तरल तरंगम पार।
मज्जत सेष (?) जंतु खेव(ट)? वस हो फिरफिर बूडत कारी धार ॥3॥
कीजै कृपादीन टोडर खों विनती सुन प्रभु जगत अधार।
बिन भगवंत भजन जे ऊरे ताकी छवी परत किनि छार ॥4॥

(4) पद

सकल देवन सिरताज साहिब नेमिनाथ मेरो।
ए नियत वेद पुरान ध्यान जोगी जन जाप जपत रहत उर अंतर,
तातें सरन तक्यों (देखा) तेरों ॥1॥
जानो न कुमत कुदेव कुमारग कुगुरु की सीख बहुत कर पैरो ॥2॥
जानिवौ जो प्रभु अबकें तारि हो मो सो पतित अनघेरो ॥3॥
भयो अधीन छीन कर्मन वस राखत क्यों न चरन हूतें नेरो।
वगसत गुनहू गुनहिं जन टोडर तो सो धनी मो सो चेरो ॥4॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) **राग कानरो—**

ठटनि ठटी विठते की तें जड़ मूरी खोयो।
जप तप करि करि देह सताई करि अधिकाई सहज रूप नहि जोयो।
उपसम पानि कियो नहीं कबहुं अंतरमल नहीं धोयो।
होत कहा अबकै पछतातनि धीरज सो न दियो लख ज्यों कन चोयो।

(6) **राग कानरो—**

दया करिए दीनानाथ गुसाईं तुम तजि हम कहं जाई।
व्यापत कर्म भरम उर अंतर कर उपगार विकार मिटे ज्यो.
तुम प्रभु मेरे हो सहाई ।।1।।
तेरो तो दरसन दुरित रहत छिन मोहन भयन वपुरारि पुकाई ।।2।।
तकि आयो चरन सरन सरन जन **टोडर** अंत न कहूं बसमाई ।।3।।

(7) राग कानरो—

जान्यो न जनमु जंजाल।
मै जा तनि काल अनादि गयो ऐसी वातनि।
काहू सौं कहत तात काहू सौं कहत मात कबहूं कि रीझि रह्यो त्रिय वातनि।
मोह्यो तूं बाजे साज गजराजन लालच लोभ फिरयो तुझ साथ हि।
विसरि गयो सु जगत्त को जीवन रामा के रंग रचौ दिन रातनि ।।4।।
अजहूं चेत अज्ञान मूढ़मति पाछैं होत कहा पछतातनि ।।5।।
टोडर ब्रह्म भगवत भजन बिनु भटकत भ्रमत छीन भयो गातनि ।।6।।

(8) **पद—**

चेतन मानो साढ़ी बतिया।
यो है देही तेरे लारेन चलसी तूं पोसे दिन रतिया।चेतन०।
पाप प्रगासी नरक परासी अवस होगे ततिया।चेतन०।
काल फिरै तुझै मारन भाई तूं सोवै दिन रतिया।चेतन०।
मानस देही श्रावक कुल पाई अब आए सुभगतिया।चेतन०।
टोडरमल भगवंत भजन कर कारन आनंद छतिया।चेतन०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन्होंने अपने पैसे के बल पर कलाकारों को खरीद सुन्दर भवनों, मंदिरों, चित्रों और मूर्तियों आदि का निर्माण कराया उनके गुणगान करते तो हमारी जिह्वा और लेखनी नहीं थकती किन्तु जिन्होंने अपने रक्त बिन्दुओं से—उस कला में प्राण फूंके उनका आज कोई नाम भी नहीं लेता। बड़े बड़े सेमिनारों में उन पूंजीपतियों के गुणगान तो आपको सुनाई पड़ेंगे किन्तु भूखे या आधे भूखे पेट रह कर काम करने वाले कलाकारों के संबंध में जानने का प्रयत्न भी हमारा नहीं होता यह कैसी स्थिति है। अस्तु, मुनि सुव्रतनाथ तीर्थंकर की एक कलापूर्ण श्वेताम्बर जैन मूर्ति का वर्णन यहां प्रस्तुत है। आमेर का मावठा सरोवर ही गुलाब सागर है उसके निकटस्थ दलाराम के बाग स्थित संग्रहालय में कई महत्वपूर्ण जैन कलाकृतियां संगृहीत हैं जिनमें दो तो स्तम्भ ही हैं। इनका अध्ययनपूर्ण अधिकृत वर्णन आज तक देखने में नहीं आया। यह एक और उदाहरण है कला और संस्कृति के प्रति हमारी उदासीनता का।

—पोल्याका

आम्बेर संग्रहालय की तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा

● डॉ० ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा
डी० लिट्० कीपर, राष्ट्रीय संग्रहालय,
नई दिल्ली

राजस्थान के प्रसिद्ध गुलाबी नगर जयपुर के समीप आम्बेर का विख्यात दुर्ग है। इस दुर्ग के बाह्य भाग में स्थित सुन्दर गुलाब सागर है जिसके निकट ही आम्बेर का पुरातत्त्व संग्रहालय है। इस संग्रहालय में राजस्थान के विभिन्न भागों से प्राप्त एवं विभिन्न कालों की अनेक दुर्लभ कला-कृतियां हैं जिनको देखने देश-विदेश के अनेक पर्यटक प्रायः प्रतिदिन ही यहाँ आते हैं।

इसी संग्रहालय में काले कसौटी पत्थर की बनी २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की एक लगभग आदमकद मूर्ति भी प्रदर्शित है। प्राचीन जैन ग्रन्थों के अनुसार हरिवंश कुल में जन्मे मुनिसुव्रतनाथ मगध नरेश सुमित्र के पुत्र थे जिनकी राजधानी राजगृह थी। इनकी माता का नाम कुछ ग्रन्थों के अनुसार सोम तथा कुछ के अनुसार पद्मावती था। उत्तर पुराण के अनुसार राजगृह में ही मुनिसुव्रत का जन्म हुआ था। जैन आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि यह प्रारम्भ से ही मुनि अथवा साधु स्वभाव के थे और साथ ही व्रतों का पूर्ण पालन करने के कारण इनका नाम भी मुनि-सुव्रत पड़ गया था। इनका लाँछन कूर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि सुव्रत की प्रतिमायें अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षाकृत कम ही प्राप्त हुई हैं। आगरा के समीप बटेश्वर नामक स्थान से प्राप्त एक लेख-युक्त पूर्वमध्ययुगीन प्रस्तर प्रतिमा राज्य संग्रहालय, लखनऊ में प्रदर्शित है। इस मूर्ति में उन्हें एक सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठे दिखाया गया है। मूल-मूर्ति के दोनों ओर चंवरधारी सेवकों के अतिरिक्त यक्ष वरुण एवं यक्षी नरदत्ता भी अंकित किये गये हैं। इन्हीं तीर्थंकर की एक अन्य ध्यानी मूर्ति उडीसा स्थित खण्डगिरि की गुफाओं में भी देखी जा सकती है। परन्तु इसमें इनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह का अभाव है यद्यपि बटेश्वर प्रतिमा की भांति इनके दोनों ओर एक-एक सेवक तथा पीठिका पर सूर्य का अंकन हुआ है।

ऊपर वर्णित दोनों प्रतिमाओं से भिन्न मुनि सुव्रत की एक मूर्ति जो आम्बेर संग्रहालय में प्रदर्शित है, इसमें तीर्थंकर को कायोत्सर्ग मुद्रा में एक पूर्ण विकसित पद्म पर खड़े दिखाया गया है। यह मूर्ति काले पत्थर ही में बनी भगवान् नेमिनाथ की पाषाण प्रतिमा के साथ कुछ वर्ष पूर्व नरहड़ नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। बाद को नेमिनाथ की मूर्ति तो राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में आगई थी और मुनि सुव्रत की आम्बेर संग्रहालय में ही सुरक्षित रही।

मुनि सुव्रत की मूर्ति में उनके घुंघराले केश, लम्बे कान, वक्ष पर पद्म रूपी श्रीवत्स चिन्ह, सौम्य एवं शान्त मुखड़ा, आदि, जिनका वराहमिहिर ने भी अपनी 'बृहत्संहिता' में भी उल्लेख किया है, बड़ी सुन्दरता से दिखाये गये हैं। 'जिन' ने सुन्दर पारदर्शक धोती पहिन रखी है, जिससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर उपासकों द्वारा इस मूर्ति का पूजा हेतु निर्माण कराया गया था। तीर्थंकर का लांछन कूर्म पद्मपीठ के नीचे बना है, जिससे मूर्ति की पहचान करने में सहायता मिलती है। तीर्थंकर मूर्ति के पैरों के समीप चंवरधारी एक-एक सेवक खड़ा है और पद्म पीठिका के दोनों ओर मूर्ति के निर्माण कर्ता उपासक एवं उनकी पत्नी उपासिका की लघु मूर्तियाँ हैं, जिनके हाथ अन्जली-मुद्रा में है। कला की दृष्टि से प्रस्तुत मूर्ति राजस्थान की चौहान कालीन कला, 12वीं शती ई० का एक अत्यन्त कलात्मक उदाहरण है और जैन कला के अध्ययन के लिए भी समान रूप से महत्वपूर्ण है।

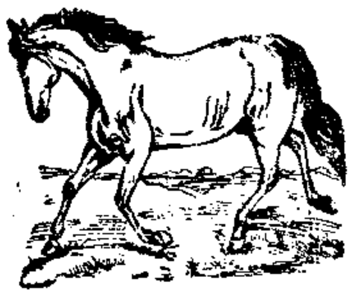

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कथा व्याज से जनसाधारण में उनके पढ़ने की रुचि जागृत करना, उन्हें धर्म तत्व का बोध कराना और इतरधर्मों से जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करना रहा है। अपने इस उद्देश्य में वे कहाँ तक सफल हुए हैं इसकी समीक्षा विद्वान् लेखक ने कई ग्रन्थकारों के उदाहरणों द्वारा इन पंक्तियों में प्रस्तुत की है।

—पोल्याका

जैन साहित्य में प्रयुक्त धर्म परीक्षा अभिप्राय

● डा० प्रेम सुमन जैन, एम. ए. पी-एच० डी०
एसोसिएट प्रोफेसर एव अध्यक्ष, जैन
विद्या एवं प्राकृत विभाग
उदयपुरविश्वविद्यालय, उदयपुर

आठवीं शताब्दी के प्राकृत के सशक्त कथाकार उद्योतनसूरी ने कुवलयमालाकहा में काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने अनेक दृष्टान्तों, कथाओं, प्रतीकों और अभिप्रायों का प्रयोग किया है। समुद्र में नौका का भग्न होना, धार्मिक आचार्य द्वारा पूर्व-जन्मों का वृतान्त सुनाना, संसार की असारता देखकर वैराग्य प्राप्त करना, धार्मिक पटचित्र का प्रदर्शन, अन्य धार्मिक विचार-धाराओं में जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना आदि कुवलयमाला के धार्मिक अभिप्राय हैं। यद्यपि ये अभिप्राय प्रारम्भ से ही प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त होते रहे हैं, किन्तु उद्योतनसूरि ने उन्हें नये रूपों में प्रस्तुत किया है।

अन्य धार्मिक मान्यताओं की तुलना में जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना, धर्मपरीक्षा के नाम से जाना गया है। इसके मूल में दूसरे के दोषों को दिखाते हुए अपने गुणों को प्रकट करना रहा है। अन्य धार्मिक मतों में जो अन्ध-विश्वास, पाखण्ड तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातों का समावेश हो गया है उनका खण्डन करते हुए अपने धर्म की सार्वभौमिकता तथा प्रामाणिकता का प्रतिपादन ही धर्म-परीक्षा है। इस मूल भावना को लेकर प्राचीन भारतीय साहित्य में कई रचनाएं विभिन्न भाषाओं में लिखी गयीं है। प्रो वेलेणकर[1] एवं डा.ए.एन. उपाध्ये[2] ने धर्मपरीक्षा सम्बन्धी साहित्य का परिचय दिया है। लोक साहित्य में भी इसके अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। 'डिक्शनरी आफ फोकलोर' में परीक्षा सम्बन्धी अनेक मोटिफ वर्णित हैं, जिसका सम्बन्ध धर्म-परीक्षा से भी है।

उद्योतनसूरि ने राजा दृढ़वर्मन की दीक्षा के पूर्व धर्मपरीक्षा के अभिप्राय का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृढ़वर्मन् किसी अच्छे धर्म में दीक्षित होने के लिए पहले अपनी कुलदेवी की आराधना करता है। कुलदेवी प्रगट होकर उसे एक पट्ट में धर्म का स्वरूप लिखकर देती है। राजा उस धर्म के स्वरूप की जाँच करने के लिए नगर के सभी धार्मिक आचार्यों को आमन्त्रित करता है। 33 आचार्य वहां एकत्र होते हैं। वे अपने–अपने धर्म का स्वरूप कहते हैं। राजा प्रत्येक के धर्म को सुनकर उसकी अच्छाई-बुराई की समीक्षा करता जाता है। अन्त में अर्हत् धर्म के स्वरूप को सुनकर उसे सन्तोष होता है। क्योंकि कुलदेवी ने भी वही धर्म उसे लिख कर दिया था तथा मुक्ति प्राप्ति का यही धर्म उसे ठीक लगता है।[3]

इस धर्म-परीक्षा के प्रसंग में कई बातें विचारणीय हैं। आठवीं शताब्दी में इतने मत-मतान्तर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विद्यमान थे, जिनका उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है। इन 33 आचार्यों की विचारधाराओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें से अद्वैतवादी, सद्वैतवादी, कापालिक, आत्मवधिक, पर्वतपतनक, गुग्गुलधारक, पार्थिव-पूजक, कारुणिक एवं दुष्ट-जीव संहारक ये नौ शैवमत को मानने वाले थे। एकात्मवादी, पशुयज्ञ-समर्थक, अग्निहोत्रवादी, वानप्रस्थ, वर्णवादी एवं ध्यानवादी ये छह वैदिक धर्म के आचार्य थे। दानवादी, पूतधार्मिक, मूर्तिपूजक, विनयवादी, पुरोहित, ईश्वरवादी तथा तीर्थ-वन्दना के समर्थक ये सात पौराणिक धर्म का प्रचार करने वाले थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, चार्वाक, सांख्य, योग-दर्शन के आचार्य थे। कुछ स्वतन्त्र विचारक थे। यथा–आजीवक सम्प्रदाय के पंडरभिक्षुक एवं नियतवादी, भागवत-सम्प्रदाय के चित्रशिखण्डी, अज्ञानवादी एवं मूढ़-परम्परावादी। इन सभी आचार्यों के मतों की तुलनात्मक समीक्षा यहां अपेक्षित नहीं है।[4] किन्तु यह विचारणीय है कि कुव० का यह धर्म-परीक्षा का विवरण लोक-मानस की किस मूल भावना का विकास है तथा इसने उत्तरवर्ती धर्म-परीक्षा सम्बन्धी साहित्य को कितना प्रभावित किया है?

धर्म-परीक्षा के इस प्रसंग को इतने विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने वाले उद्योतनसूरि पहले आचार्य हैं। उनके पूर्व तथा बाद में भी इतने धार्मिक मतों का एक साथ मूल्यांकन किसी एक ग्रन्थ में नहीं किया गया है। यद्यपि इस दृष्टिकोण को लेकर कई कथाएं भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। 'एक की तुलना में दूसरे को श्रेष्ठ बताना' यह धर्मपरीक्षा की मूल भावना है, जिसका अस्तित्व रचनात्मक और लोक-साहित्य दोनों में प्राचीन युग से पाया जाता है।

वैदिक युग के साहित्य में कथाओं के स्थान पर देवताओं का वर्णन अधिक उपलब्ध है। उसमें हम पाते हैं कि कभी इन्द्र श्रेष्ठ होता है तो कभी विष्णु। कभी वरुण को प्रधानता मिलती है तो कभी रुद्र को।[5] यह इसलिए हुआ है कि जब इन देवताओं की विशेषताओं को तुलना की दृष्टि से देखा गया तो जिसके गुण तत्कालीन मानव को अधिक उपयोगी लगे उसे प्रधानता दे दी गयी। यह एक प्रकार की धर्मपरीक्षा के स्थान पर गुण-परीक्षा थी, जिसने आगे चलकर विकास किया है।

जातक साहित्य में भी परीक्षा सम्बन्धी अनेक कथाएं हैं। कहीं सत् की परीक्षा की जाती है तो कहीं शुद्धता की, कहीं ईमानदारी की तो कहीं गुणों की। गुणों की परीक्षा ही वास्तव में धर्म-परीक्षा का आधार है। राजोवाद जातक गुण-परीक्षा का श्रेष्ठ उदाहरण है, जिसमें दो राजाओं के गुणों की परीक्षा उनके सारथी करते हैं। दोनों राजा बल, आयु सौन्दर्य एवं वैभव सम्मान हैं, किन्तु उनके गुणों में थोड़ा-सा अन्तर है। एक राजा शठता को जीतता है। जैसे के साथ तैसा व्यवहार। जबकि दूसरा राजा बुराई को भलाई से जीतता है।[6] यह कथा धर्म-परीक्षा के ठीक अनुरूप बैठती है। दो आचार्य धर्म की श्रेष्ठता की परीक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। जिस धर्म में साध्य (मोक्ष) की भांति उसके साधन (सदाचार) भी श्रेष्ठ हैं, वही धर्म उत्तम कहा जाता है। यही प्रयत्न प्राकृत-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है।

श्रेष्ठता की पहिचान करने वाली अनेक कथाएं प्राकृत-साहित्य में हैं।[7] प्रवृत्ति से निवृत्ति मार्ग की, भाग्य से पुरुषार्थ की तथा लक्ष्मी से सरस्वती की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने वाली कथाओं की भारतीय साहित्य में कमी नहीं है।[8] अकेले जम्बुस्वामी का चरित्र असत् से सत् की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।[9] ज्ञाताधर्मकथा में पांच धान्यकणोंकी कथा केवल चार बहुओं में चौथी बहू की श्रेष्ठता को ही प्रमाणित नहीं करती, अपितु प्रतीकों के अनुसार अन्य व्रतों में अहिंसा की श्रेष्ठता स्थापित करती है। कथाओं का नायक गुणों की खान एवं खलनायक दोषों का पुंज, यह मिथक इसी गुण-परीक्षा अथवा धर्म-परीक्षा के कारण ही विकसित हुआ है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है—समराइच्चकहा का सम्पूर्ण कथानक। गुणशर्मा और अग्निशर्मा के नौ जन्मों की कथा।[10] राम और रावण, बोधिसत्व और मार, जिनेन्द्र और मदन[11] आदि पात्रों की यह योजना एक की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की मूल भावना का ही विकास है।

धर्म-परीक्षा अभिप्राय के विकसित होने में दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व तर्क पद्धति का क्रमशः विकसित होना है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के अनेक एकान्त-वादी चिन्तकों के बीच से महावीर के चिन्तन का उभरना सत्य की श्रेष्ठतम पहिचान परिचायक है।[12] ब्रह्मजालसुत में अनेक मत-मतान्तरों के प्रचलित होने का उल्लेख सत्य को विभिन्न दृष्टि-कोणों से परखने का परिचायक है।[13] सूत्रकृतांग में अक्रियावाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद आदि मतों की समीक्षा की गयी है।[14] प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा आदि पांच व्रतों के विवेचन के प्रसंग में सत्य का निरूपण करते हुए विभिन्न दार्शनिक के मतों को असत्य कहा गया है।[15] यह तर्क-पद्धति दार्शनिक मतों से सम्बन्धित थी। जब कभी किसी जैन ग्रन्थ में अन्य मतों का खण्डन करना होता था तो प्रायः इसी प्रकार की एक प्रणाली अपनायी जाती थी। और उन सभी जैनेतर मतों की समीक्षा कर दी जाती थी, जो इतिहास में प्रसिद्ध थे। भले ही उनका अस्तित्व ग्रन्थकार के युग में हो अथवा नहीं। अतः कुवलयमाला में जो प्रसिद्ध दार्शनिक मतों की परीक्षा की गयी है, वह परम्परा से प्रभावित है। किन्तु प्रत्येक धर्म के जिन अन्य अन्धविश्वासों व पाखण्डों का खण्डन उद्योतन ने किया है, वे सम्भवतः आठवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

धर्मपरीक्षा अभिप्राय के विकास में तीसरा महत्वपूर्ण आधार पौराणिक एवं कल्पित बातों पर जैनाचार्यों द्वारा व्यंग करने की प्रवृति है। इसका प्रारम्भ सम्भवतः विमलसूरि के पउमचरियं से हुआ है। तत्कालीन प्रचलित रामकथा में विमलसूरि को अनेक बातें विपरीत, अविश्वसनीय तथा कल्पित प्रतीत हुईं। अतः उन्होंने नयी राम-कथा लिखी।[16] काव्य में दार्शनिक तथ्यों के प्रति चिन्तन का यह प्रारम्भ था। बुद्धघोष ने अपने ग्रन्थों में इसे विस्तार से स्थापित किया। गुप्तयुग के कवियों ने अपने ग्रन्थों में कहीं न कहीं दार्शनिक खण्डन-मंडन को स्थान देना अनिवार्य मान लिया। आगे चलकर यह एक काव्यरूढ़ि हो गई, जिसका प्रभाव धर्मपरीक्षा के स्वरूप पर पड़ा है।

अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू ने भी जैनेतर मान्यताओं का खण्डन किया है तथा अपना काव्य प्रचलित रामकथा की पौराणिक व अतिशयोक्तिपूर्ण बातों से बचाकर लिखने की प्रतिज्ञा की है।[17] किन्तु प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों की इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं और उनके काव्यों को एक साथ देखने पर स्पष्ट है जिन अलौकिक बातों से बचना चाहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे, उनके काव्य उनसे अछूते नहीं हैं।[18] अन्तर केवल यह है कि जैनेतर ग्रन्थों के पात्र जिन कार्यों को करते थे, वे ही कार्य अब उन पात्रों के द्वारा कराये जा रहे हैं जिन्हें कवि ने जैन बना दिया है। अतः मतान्तरों से व्याप्त पाखण्ड के प्रति जो थोड़ा-सा व्यंग विमलसूरि ने प्रारम्भ किया था, वह अधिक तीव्र नहीं हुआ, कारण इसके कुछ भी रहे हों।

किन्तु ईसा की सातवी-आठवीं शताब्दी में धर्म-दर्शन के क्षेत्र में पुनः परीक्षण को प्रधानता दी जाने लगी। बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थों में अनेक दार्शनिक आचार्यों के मतों का परिचय दिया हैं।[19] हर्षचरित में दिवाकर मित्र के आश्रम के प्रसंग में उन्नीस सम्प्रदाय के आचार्यों का नामोल्लेख है। उनके कार्यों से ज्ञात होता है कि वे अपने मतों के प्रति संशय, निश्चय करते हुए व्युत्पादन भी करते थे। किसी एक सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर अन्य के साथ उसकी तुलनाकर फिर शास्त्रार्थ के लिए प्रवृत होते थे।[20] अतः अन्य मतों की समीक्षा कर किसी एक मत को श्रेष्ठ बतलाना, इस युग के साहित्यकार के लिए एक परम्परा होने लगी थी। इसी का निर्वाह जैनाचार्यों ने किया है।

हरिभद्रसूरि ने धर्म-परीक्षा को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने असत्य के परिहार के लिए व्यंग को माध्यम चुना। ऽऽ के धूर्तारूयान नामक ग्रन्थ में पुराणों में वर्णित असम्भव और असंगत मान्यताओं का निराकरण पांच धूर्तों की कथाओं द्वारा किया गया है।[21] हरिभद्र द्वारा जैनेतर मतों पर किया गया यह व्यग ध्वंसात्मक नहीं है, अपितु असंगत बातों के परिहार के लिए सुझाव के रूप में है। सम्भवतः धूर्ताख्यान का यह व्यंग हिन्दू पुराणों के साथ-साथ जैनपुराणों की भी उन अविश्वसनीय बातों के प्रति था, जिनका मेल जैनधर्म से नहीं था। सत्य (धर्म) के दोषों की परीक्षा करने की यह एक पद्धति थी, जिसने धर्म-परीक्षा अभिप्राय को गति प्रदान की।

जैनाचार्यों द्वारा धर्मपरीक्षा अभिप्राय को अपनाने का प्रमुख कारण था—जैन धर्म के मौलिक स्वरूप को सुरक्षित बनाये रखना। अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्ति का प्रयत्न, जीव और अजीव के बन्धन-मुक्ति की नैसर्गिक-प्रक्रिया तथा ध्यान और तप की साधना की अनिवार्यता आदि कुछ प्रमुख सिद्धान्तों के विरोध में जो भी सम्प्रदाय व धर्म आता था, उसका खण्डन करना जैन आचार्यों के लिए आवश्यक था। इसके लिए उन्होंने कई माध्यम चुने, जिनमें धर्म-प्रमुख था। उद्योतनसूरि ने धूर्ताख्यान के व्यंग के स्थान में एक कुली चर्चा को ही प्रधानता दी। एक साथ सभी आचार्यों की उपस्थिति में उन्होंने धर्म की श्रेष्ठता पर विचार करना उपयुक्त समझा। आठवीं शताब्दी में विश्वविद्यालयों के विकास के कारण सम्भव है धार्मिक विद्वानों का इस प्रकार का सम्मेलन भी होने लगा हो।

धार्मिक आचार्यों द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर राजा का दीक्षित होना भारतीय साहित्य में एक काव्य रूढ़ि है। आचार्यों का स्थान कहीं मन्त्री ले लेते हैं तो कहीं पुरोहित। बौद्ध साहित्य में उल्लेख है कि अजातशत्रु ने धर्म का सही स्वरूप जानने के लिए अपने मन्त्रियों से धर्म सुना था। बौद्ध होते के नाते उसने बौद्ध मतावलम्बी मन्त्री के कथन को प्रधानता दी थी। पुष्पदन्त के महापुराण में राजा महाबलि के चार मन्त्रियों में क्रमशः उन्हें चार्वाक, बौद्ध, वेदान्त तथा जैनधर्म का स्वरूप कहकर सुनाया था। अतः कुवलयमाला कहा धर्म-परीक्षा सम्बन्धी यह प्रसंग विषयवस्तु एवं स्वरूप की दृष्टि से पूर्ववर्ती लोक-परम्परा पर आधारित है। एक साथ इतने अधिक मतों की समीक्षा प्रस्तुत करना इसकी अपनी विशेषता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1977

के अवसर पर आयोजित

सांस्कृतिक कार्यक्रम के तीन दृश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्योतनसूरि के बाद प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत में धर्मपरीक्षा नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे जाने लगे। उद्योतन के लगभग दो सौ वर्षो बाद अपभ्रंश में हरिषेण ने 988 ई० में धम्मपरीक्खा लिखी। इसके 26 वर्ष बाद ई० सन् 1014 में अमतिगति ने संस्कृत में धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थ की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन विद्वानों ने प्रस्तुत किया है।[22] उससे ज्ञात होता है कि ये दोनों ग्रन्थ प्राकृत में जयराम द्वारा लिखी धम्मपरीक्खा पर आधारित हैं।[23] यद्यपि उनपर प्राकृत की उपर्युक्त रचनाओं का प्रभाव हो भी सकता है। जयराम की धम्मपरिक्खा आज उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः यह उद्योतनसूरि के बाद और हरिषेण के पूर्व किसी समय में लिखी गयी होगी। इससे इतना तो स्पष्ट है कि 8 वीं से 11 वीं शताब्दी का समय धार्मिक क्षेत्र में खण्डन-मण्डन और तर्कणा का था, जिसमें जैनधर्म के मौलिक स्वरूप को बचाये रखने का प्रयत्न इन धर्मपरीक्षाओं ने किया है। सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[24] किन्तु यह कार्य दार्शनिक स्तर पर ही हो सका है। सामाजिक स्तर पर तो जैनधर्म अन्य धर्मों की विशेषताओं के साथ बहुत प्रभावित हो गया था, जिसकी प्रतिक्रिया श्रावकाचार ग्रन्थों के रूप में प्रगट हुई है।[25]

धार्मिक खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति 8वीं–10वीं शताब्दी में इतनी बढ़ी कि अपभ्रंश के मुक्तक कवि पाखण्डों पर सीधा प्रहार करने लगे। धर्मपरीक्षा के इन कवियों ने भी पौराणिक धर्म पर तीव्र प्रहार किया। धूर्ताख्यान का व्यंग इन रचनाओं में दूसरा रूप ले लेता है। उसमें कुवलयमालाकहा की वह भावना नहीं है, जहां राजा सभी आचार्यों के मत की समीक्षा कर अन्त में उन्हें सम्मान पूर्वक विदा करता है तथा अपने अपने धर्म में संलग्न रहने की स्वतन्त्रता देता है।[26] इसके बाद में 17वीं शताब्दी तक विभिन्न भाषाओं में धर्मपरीक्षा ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं,[27] जो प्रचार-ग्रन्थ अधिक है, काव्य-ग्रन्थ कम। किन्तु इन ग्रन्थों से सत्य को तुलनात्मक दृष्टि से परखने की पद्धति का विकास अवश्य हुआ है, जो वर्तमान अनुसंधान के क्षेत्र में भी अपनाई जाती है।

सन्दर्भ

1. प्रो० एच० डी० बेलणकर, जिनरत्नकोश, भूमिका, पूना 1943
2. उपाध्ये, एनल आफ द भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, रजत-जयन्ती अंक भाग 23, 1942
3. कुवलयमालाकहा, पृ० 204–207
4. प्रेम सुमन जैन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन वैशाली 1975
5. मेक्डोलन, वैदिक माइथोलाजी।
6. भदन्त आनन्द कोत्सल्यायन, जातक, भाग, 2/251
7. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत जैनकथा साहित्य, 1971
8. पेन्जर, 'द ओशन आफ स्टोरी'; कथासरित्सागर
9. विमल प्रकाश जैन, जम्बूसामिचरिउ, भूमिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. नेमिचन्द्र शास्त्री, हरिभद्र की प्राकृत कथाओं का आलोचनात्मक परिशीलन

11. हीरालाल जैन, मदणपराजयचरिउ

12. देवेन्द्रमुनि, भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ० 98–105

13. द्रष्टव्य–सुत्तनिपात समियसुत्त

14. सूत्रकृतांगवृत्ति 1/12

15. मुनि हेमचन्द्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वितीय अध्ययन ।

16. जैकाबी, पउमचरियं, प्रथम भाग ।

17. संकटाप्रसाद उपाध्याय, कवि स्वयम्भु ।

18. देवेन्द्र कुमार जैन, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० 282–9)

19. अग्रवाल, कादम्बरी–एक सांस्कृतिक अध्ययन

20. अग्रवाल, हर्षचरित–एक साँस्कृतिक अध्ययन पृ०197

21. धूर्ताख्यान- इण्ट्रोडक्शन ।

22. उपाध्ये, भ० ओ० रि० इ० जर्नल भाग 23, 1942 तथा द जैन एण्टीक्वेरी, भाग, 9 पृ 21

23. जा जयरामें आसि विरइय गाह पबंधि ।
सा हम्मि धम्मपरिक्खा सा पद्धडिय बंधि ।' –ध० प० (ह०) 101

24. हन्डिकि, यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, पृ० 329–360

25. कैलाशचन्द्र शास्त्री, उपासकाध्ययन, भूमिका

26. 'वच्चह तुब्भे, करेह णियम-धम्म-कम्म किरया-कलावे ।' –कुव० 207–9

27. राईस. कन्नरीज लिटरेचर, पृ० 37
विन्टरनित्ज, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 561

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Almost every religion attributes four features to God namely 1. infinite power, 2. infinite apprehension, 3. infinite knowledge, and 4 infinite joy. Jainism is not an atheism as generally characterized, but a theism because it holds that every soul when perfected and fully developed becomes the true God possessing the aforesaid four features. In Jainism these four features are called 'Ananta Chatustaya.' It is atheism because it denies God to be the creator of the universe. Thus from one point of view Jainism is an atheism and from the other view angle a theism.

—Polyaka

THE JAINA ATHEISM

●Dr. Harendra Prasad Verma
M.A. (Gold Medalist), Ph.D., D.Litt.,
Reader in Philosophy,
Bhagalpur University, (Bihar).

Jainism is generally characterized as atheistic. Atheism is the antithesis of theism; it is the complete denial of theism, or as Atkinson Lee points out, "Atheism is a theory concerning God–a theory which is essentially negative."[1] "It is rejection of belief in God".[2] The theists maintain that whatever is in the universe owes its existence to God who is a personal being. He is the creator, maintainer and destroyer of the universe. He is omnipotent, omnipresent, omniscient, benevolent, kind, honest, just, etc. He grants unchartered providences to his devotees and is the Moral Governor of the universe. Atheism rejects all these assumptions, because it does not believe in God at all. If there is no God, the question of His Creatorship, etc., does not arise.

It would be profitable here to distinguish between Atheism and Antitheism. Atheism is the complete denial of theism as it rejects all beliefs in God, whereas anti-theism is opposed to theism in certain respects. A theory which accepts God but denies the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

theistic notion of Him, is also anti-theistic. For example, Pantheism is anti-theism in so far as it denies the personal nature and attributes of God, but it is not atheism because it accepts God in one form or the other. Hence, it is debatable whether Jainism is atheistic or Anti-theistic.

Atheism has four important forms, viz., Sceptical atheism, Agnostic atheism, Dogmatic atheism and Critical atheism. Sceptical atheism is that theory which doubts the existence of God as we find in the philosophy of Hume. Agnostic atheism holds that God is unknown and unknowable. It is evident in the philosophy of Kant Dogmatic atheism is that attitude which does not accept God but denies His existence on blind faith. Carvaka, in Indian philosophy, may be regarded as an example of dogmatic atheism. Critical atheism is that which examines critically the proofs for the existence of God and finding them vacuous, tends to deny the existence of God.

Mahavira made a break with the vedic tradition which attributed Godhood to the different forces of Nature like fire, sun, moon, sea, etc., and conceived the deities like **Agni, surya, soma, varuna,** and so on. He also denounced monotheism, which instead of many deities, accepted the notion of one sovereign God, who is supposed to be the Creator, Maintainer and Destroyer of the universe, holding personal and moral relationship with mankind and granting unchartered providences to his devotees. Jainism denounces the notion of a personal God with all his attributes. It is evident from the following prayer of Mallisena, a noted Jaina logician, addressed to Lord Mahavira, "There is a maker of the world, and He is one, He is imnipresent, He is self-dependent, He is eternal—these would be pretence of mere assurances on the part of those whose teacher thou art not."[3] Jainism not only rejects the theistic but also the Pantheistic notion of God or the Absolute, which will be evident from the refutation of the arguments advanced for the existence of God. All these may go to brand Jainism as a form of "Critical atheism."

Refutation of the proofs for the existence of God :

The Jainas denounce the different arguments advanced by the theists for the existence of God, which are as follows —

(1) The Naiyayikas, advance the causal argument for the existence of God. They maintain that every pro-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

duct, like a pot or house, is made by some agent. As the world is a product, it must also have an intelligent creator and that is God. But according to Jainism, this argument is unsound, because the minor premise (i.e., 'The world is a product') is unproved. How can we regard the world to be a product ? F.W. Thomas puts the Jaina argument in this respect in the following words, "Whereas first of all, it is said by the opponent that earth, etc., have an intelligent maker, because they are products, like a pot, etc., is unproved, because there is no apprehension of a comprehension. For it is agreed by all the disputants that 'only in the case of comprehensions and well established by proof will the Middle Term his Major Term."[4] Bertrand Russell has also argued in the same vein. According to him, if every event must have a cause, one may ask the cause of God also. And if God can be conceived to be without cause, the world also can very well be conceived to be without cause. What is the harm in supposing that the world itself is uncreated and without cause ?

The Naiyayikas maintain the world is created is like a product, because it has parts. Now the Jainas answer that the Naiyayika themselves maintain that the sky is uncreated although it has parts. Similarly, the world can also be uncreated and eternal even having parts like the sky.

(2) The existence of a Creator God has been posed on the anology of the pot and the potmaker, but this analogy is not perfect because both the pot and the potter are perceptible objects, whereas God is not an object of perception. Further, the potter or the agent who produces anything, has a body. Now, God as an agent should also have a body is perceptible or imperceptible ? The first alternative is obviously false, because there is a contradiction by perception.[5] If we hold that He is an imperceptible being, then it is also unsound because if the reason or the ground be perceptible things, the consequent or the object of conclusion will also be perceptible. If God is supposed to be imperceptible, the analogy of pot and pot-maker does not hold good. The potter is perceived to have a body and if God is without a body, there is disagreement between example and exemplified. For forms of products, pot, etc., are seen to have makers with bodies, and, if without a body, how can he have the capacity for producing a product ? According to Hume, the causal argument based on the analogy of house and housemaker is obviously absurd. He asks, "Can you pretend to show any such similarity between the fabric of a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

house, and the generation of a universe ? Have you ever seen nature in any such situation as resembles the first arrangement of the elements ? Have worlds ever been formed under your eye; and have you had leisure to observe the whole progress of the phenomenon, from the first appearance of order to its final consumation ? If you have, then cite your experience, and deliver your theory."[7]

Further, it is when we conceive the world an the analogy of a pot, house or machine that we require an agent, but if we change the analogy, the demand for an agent will not arise. For example, the grass, trees, rainbows, clouds, etc., are products, but they are not produced by any agent. Similar may be the case with the universe. Just as a plant evolves automatically, likewise the phenomena of the universe may also have origin and decay spontaneously (**Svatah srsti-vada**). The same argument has been used by modern analysts to disprove the Teleological argument for the existence of God. They hold that the notion of creator God arises from the "misapplication of image." As the universe is pictured as a machine, there arises the necessity of God as a mechanic. However, there image can be changed and that will lead to an altogether different conclusion. According to J.J.C. Smart, "If we press the analogy of the universe to a plant, instead of a machine, we get to a very different conclusion. And why should the one analogy be regarded any better or worse than the other?"[8]

(3) God, **ex-hypothesie,** is eternal and above all changes. If God is beyond all actions, He cannot be the creator, because creation involves activity. Without 'selective knowledge' and 'will to create', creation is not possible. But these cannot be in a timeless reality. Moreover, if God does not change, He cannot also be discovered.[9]

(4) The theists say that creation took place by the will of the Lord. "I should be many "(**Ekoham bahusyamah**)—is the motive behind creation. But the Jainas argue that desire is the sign of want. God who is absolute and is in His eternal bliss, will not have any want and hence there cannot be any motive to become many

(5) Further, creation and destruction involve affection (**Raga**) because there cannot be without any motive. But if God has affection and some such vices, He cannot be God. And if He is without affection, He cannot create. So either God is not God or He cannot be a Creator. [0] This is the dilemma involved in the conception of God and His creatorship.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(6) Jainism also rejects the notion of the Brahman or the Absolute Self, which is supposed to be the common ground of the self and not-self. But, according to Jainism, the conscious self and unconscious matter (**Pudgala**) are too opposed to have any common background. Samkara in order to defend the vedic and upanisadic concept of the Brahman has some how derived the unconscious (**Acetana**) entity also from the same primal cause, the Brahman. Ramanuja also holds that the Brahman is the common ground of both **Cit** (conscious) and **Acit** (unconscious) entities, and these are integral to His being. But according to Kundakunda, a noted Jaina thinker, it is absurd. If the doctrine of the identity of the cause and effect (**Satkaryavada**) is accepted, these contradictory effects—the unconscious and the conscious—the Not–self and the self–cannot be derived from the same cause, the Brahman, which is taken to be conscious by the **Veda** and the **Upanishad**.[11] The same argument has been employed in modern times by J. P. Sartre for the refutation of the existence of God. According to him also, there are two fundamental categories -**En-soi** (unconscious) and **Pour-soi** (conscious). As these are contradictory, these cannot have a common background, God.

Jainism also denounces the metaphysical attributes of God like omnipotence, unity, eternity, perfection, etc. According to it, if God is omnipotent, He should be the absolute and sole creator of everything. But we find that there are many things created by men and not by God. Further, God is held to be one on the ground that if there were many gods, there would have been disharmony, conflict and chaos, for each would work according to his own choice, plan and purpose, But the Jainas argue that this is not true. We find many masons constructing the same house. Even lower animals like the bees and ants, make their hives and ant-hills together harmoniously. Finally, God is said to be eternally perfect. But, according to Jainism, the notion of eternal perfection is absurd, because perfection consists in the removal of imperfection. It is meaningless to call any one perfect, who was never imperfect. Thus eternal perfection is contradiction in terms.

The Jainas deny God also because they like Sartre, found God to be the negator of human freedom. The notion of God as the dispenser of good and evil, is against human freedom and endeavour. If man reaps the consequence of his own action, God becomes redundant, and if God ordains

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

everything, personal endeavour becomes meaningless.[12] Sartre also denied God in the same vein in order to make room for human freedom. He also argues that if everything regarding human existence is from before in the mind of God, human life becomes completely determined. It is not what man makes by his personal effort but what has been preordained by God. "Thus each individual man is the realization of a certain conception."[13] But, in fact, man is the maker of himself and his own destiny. This necessarily leads to the denial of God Feuerbach also declared, "our enemy is God The denial of God is the beginning of wisdom." Comte found God to be a blemish for human dignity and an obstacle in human progress. Hence he says, "The sole effect of its (theistic) doctrine is to degrade the affections by unlimited desires, and to weaken the character by servile terrors."[14]

Now the question arises, wherefrom do we have the notion of God ? According to Freud, the notion of God is born of the infantile dependence on Father. "God nothing but father's image." Mahavira also believed that God is the symbol of authority. It is the legacy of Monarchy. Man imagines a world-Ruler in the image of the Ruler of state.[15] But as Mahavira was born in the Republic of the **Licchavis**, he had the republican attitude and hence he considered every individual self to be real and independent. In his conception of heaven every self is God—"**Aham Indra**", and nobody is under the subjugation of any other being. Like Freud, he also decried the religion of self-surrender (**Samarpana**) which is nothing but regression to childhood-dependence on Father. Mahavira wanted that man should come out of the dream of his infancy, be adult and educated to reality, and take charge of his own existence. Jung also found that "it is the prime task of all education (of adults) to convey the archetype of the God-image, or its emanations and effects, to the conscious mind."[15] For, as Frieda Fordham observed, "If this does not happen there is split in his nature; he may be outwardly civilized, but inwardly he is a barbarian ruled by an achaic god."[16] Mahavira exhorted man to realize and perfect his own self rather than surrendering before a Deity presiding over the phenomena of the universe. He propounded a "religion of self-effort", and declared that a man becomes **Sramana** by dint of his own labour (**samayaye samano hoi**).[17] Religion consists in self-awakening. (**Sutta amuni, munina saya jagaranti**),[18]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती समारोह 1977

लाल भवन, जयपुर में श्रीमती आशा गोलेछा की अध्यक्षता में आयोजित महिला सम्मेलन
विशिष्ट अतिथि श्रीमती चन्द्रकान्ता डण्डिया भी दिखाई देरही हैं

★

सांस्कृतिक कार्यक्रम
विशिष्ट अतिथि :
श्री हीराभाई एम. चौधरी
विजेता को ट्राफी प्रदान करते हुए

★

श्री महावीर दिगम्बर जैन उच्च माध्यमिक
विद्यालय में आयोजित
निबंध प्रतियोगिता में प्रतियोगीगण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(Does Jainism deny God altogether ?

We have seen that Jainism denies the existence of God but, in fact, it does not do away with the notion of God altogether. What Jainism denies is the notion of a Monotheistic God, which is anthropomorphic. But it accepts the existence of God in the form of **Parmatma**. Like Kierkegard, Mahavira believes that 'God is not an extemality'; He is the inmost subjectivity to be realized by intuitive experience. As a matter of fact, the description of **Parmatma** in the **Acaranga sutra** is similar to that of the **Upanisads**.[19] The **upanisads** say, 'This self is God' (**Ayam atma Brahma**), 'That Thou art' (**Tat tvam asi**), 'I am God' (**Aham Brahmasmi**), and so on. The same has been said by Lord Mahavira when he said, "**Appa so Paramappa**"[20] (The self is God). However, Jainism does not favour the monistic and absolutistic conception of the self; it always lays emphasis on individualism pluralism and freedom, and, hence, it holds that every individual self is God, not because of being a part and parcel of God, but because of the possession of four infinite powers (**Ananta chatustaya**). Every soul is perfect, and hence instead of accepting one Absolute, it accepts many perfect souls. In the **Svayambhu stotra** it has been said, "Those who have burnt mercilessly the cause of self-defilements (**Raga & dvesa**) in the fire of wisdom, and have imparted knowledge of the reality to inquisitive world, are the gods like the **eternal Brahman**."[21] The **Tirthankaras**, who have conquered their passions and have gone beyond the process of becoming, are like Gods. It is in this sense that Mahavira is called "**Bhagvan**", for **Bhagvan** means the person who has gone beyond the process of **bhava** (becoming), and has attained salvation and self-perfection. Thus Jainism does not await the descent of God in the human frame, rather it believes in the ascent of man to divine status. In the words of Dr. Radhakrishnan, "The Jaina thinkers hold that man can attain divinity, and God is only the highest, noblest and fullest manifestation of all the powers that lie latent in the soul of man."[22] As Jainism does not do away with the notion of God, it is in reality, only anti-theistic and not atheistic

Philosophies may differ but if we watch closely the psychology of man, we shall find that human nature is everywhere the same. All of us have tha same hopes and despairs, weaknesses and frailties. It makes no difference whether one is a Jaina, a Bauddha or a Hindu. Consequently, the popular religion is also more or

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

less the same. If we observe the acheients of different religions going to the temples, mosques or the churches, with their hearts laden with grief, we shall find the same hopes and fears, and it makes no difference whether the head which bows down in prayer, is on the shrine of Lord Mahavira, Jesus Christ or Lord Krishna. Tagore has rightly observed, 'Alas, for the foolish human heart ? The fond mistakes are persistent. Reason comes and breaks our heart but we move ahead in search of another folies ? Lord Mahavira and the Buddha may deny God but their desciples exhalt themselves to the status of God, instal their statues on the shrine and bow before them almost in the same manner and spirit as a theist does before the image of God. God thus ousted from the door, enters again through the window. This is perennial story of the strength and weakness of mankind which in the heart of heart cherishes the belief in God. What does this fundamental yearning for God, which not is individual, but archetypal mean ? Does it reveal the attributes that constitute the being of God or it is merely vacuous–a psychological fallacy born of infantalism–a "fond mistake" which is ever persistent ?

---

1. **Groundwork of the philosophy of Religion.**
2. R Flint, **Anti-theistic Theories**, p. 4.
3. Karta asti kascijjagatah sa caikah sa sarvagah svavasah sa nityah.
   Ima kuhevaka vidambana syuh teyam na yesamanusasakasttvam
   (**Syadvad Manjari**, 6)
4. **Syadvad Manjari** Commentory on verse 6, Motilal Banarsidas Delhi, p. 31,
5. **Ibid**--p. 31.
6. **Pramana–Noya–Tattvalokalamkara, p.** 32.
7. **Dialogues concerning Natural Religion,** in **The Philosophical Works of Hume**, vol. II, Adam Black William Tait and Charles Tait, 1826, p. 451.
   2. **Syadvada Manjari**, p. 31.
8. **J. J. C.** Smart. "The Existence of **God', New Essays in Philosophical Theology**. S.C.M. Press, London, 1955, p. 42.
9. Nasprstah karmabhih sasvad visvadrsvasti kascana.
   Tasyanupaya siddhasya sarvathanupapattitah (**Apta Mimamsa**, 8)
   Nityatvaikanta paksepi vikriya nopapadyate.
   Prageva karkabhavah kva pramanam kvatphalam. (**Ibid, 37**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. Svayam srjati catpramah kimiti daitya vidham sanam
Sudusta jana nigraha rattniti ceda srstirvaram
Krtatma karaniyaksya jagatam kritirnisphata
Svabhava iti cenmrsa sahi sudusta evapyate.

(**Patra Kesari Stotra, 33**)

11. Vide **Samaya sara** Bharatiya jyana Pitha, Delhi, 1944, p, 109.
12. Svayam krtah karma yadatmnapura
phalam tadiyam labhate subhasubham
parena dattam yadi labhyate sphutam
svayam krtam karma nirarthakam tada

(**Bhavana Dvatransatika, 30**)

13. Sartre, **Existentialism and Humanism**, Methuen, London, 1963, pp. 27-28.
14. Vide, Kailash Chandra Shastri, **Jaina Dharma**, B. D. Sangha, Mathura, p. 116.
15. C. G. Jung, **Psychology of Alchemy**, p. 12.
16. Frieda Fordham, **An Introduction to Jung's Psychology**, Penguin books, U.S.A., 1963, p. 74.
17. **Uttaradhyayana sutra** 25/32.
18. **Acaranga sutra** 3/10.
19. Vide **Acaranga sutra**, 1/6, also **Uttaradhyayana sutra**, 14/19.
20. **Prajnapana sutra**.
21. **Svayambhu stotra**, 1/4.
22. **The concept of man**, (Ed.) P. T. Raju, Preface, George Allen & Unwin, London, p. 9.

PRAYER

Thy shining form, the rays of which go upwards, and which is really very much lustrous and dispels the expanse of darkness, looks excellently beautiful under the Ashoka-tree like the orb of the sun by the side of clouds.

—Acharya Mantunga

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म, धार्मिक और धर्मालय

(● वि०, बा० डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, आगरा रोड, अलीगढ़)

धर्म क्या ? धार्मिक कौन है ? और धर्मालय कहाँ है ? यह सब कुछ जाने बिना आज का व्यक्ति एक दूसरे को धार्मिक होने का भ्रम ओढ़े हुए हैं । सच है कि क्या, कौन और कहाँ की जानकारी व्यक्ति को केन्द्रोन्मुखी बनाती है ।

मूल, तना, शाखाएं, वृन्त, पत्ते, फूल और फल मिल कर वृक्ष बनता है । इन सभी पदार्थों के अपने अपने स्वभाव हैं । गुण हैं । प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण विद्यमान होते हैं । इन गुणों का ठीक ठीक जानना ही तो धर्म है । जो है उसे पहचानना, जानना वस्तुतः धर्म कहलाता है । इस प्रकार धर्म सर्वत्र है, व्यापक है । ध्यान इतना रखना है कि जो प्राप्त है वह आज नहीं तो कल अन्ततोगत्वा एक दिन अवश्य समाप्य है । धर्म कभी प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह कभी समाप्य नहीं है । इसीलिए कहता हूं कि प्राप्य और समाप्य के झंझट से कोसों दूर हमें व्याप्त को जानना चाहिये । 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । व्याप्त को जानना ही धर्म है और धर्ममय होना ही धार्मिक होना है । आम तौर पर किसी भी सत्ता की, उपास्य की पूजा अर्चना जो कर लेता है उसे हम प्रायः धार्मिक कहने लगते हैं । इसे क्या विडम्बना नहीं कहेंगे ? जो स्वभाव है उनके प्रति विपरीत चलने वाला व्यक्ति धार्मिक कैसे हो सकता है ? प्रत्येक प्राणी की मूल शक्ति का नाम आत्मा है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि उसके अनन्त गुण हैं; स्वभाव हैं । जो इन स्वभावों में रहता है वही तो धार्मिक है । धार्मिक होने के लिए हम किसी के प्रमाण-पत्र की प्रतीक्षा न करें । यथाशीघ्र धार्मिक होने की स्थिति में हों ।

धर्मालय कहाँ है ? जहाँ धर्म है वहीं धर्मालय है । जब धर्म सर्वत्र है फिर धर्मालय एकत्र कैसे हो सकता है ? मैं सत्ता, जानने की शक्ति तथा उस शक्ति को धारण करने वाला शरीर ही वास्तव में धर्म, धार्मिक और धर्मालय हैं । यदि नहीं हैं तो हमें जागृत होकर शीघ्र होना चाहिये ताकि सुखी और सम्पन्न जीवन जिया जा सके ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय

खण्ड

मुक्त चिन्तन तथा अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

卐

राजस्थान के उद्योगमंत्री श्री त्रिलोकचंद दशलक्षण पर्व समारोह १९७७ का उद्घाटन करते हुए

卐

क्षमापन पर्व समारोह 1977

卐

सभा के मंत्री श्री बाबूलाल सेठी दशलक्षण पर्व समारोह के अवसर पर राजस्थान के उद्योगमंत्री श्री त्रिलोकचंद जैन का स्वागत करते हुए

卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वबन्धुत्वस्योत्प्रेरको भगवान् महावीरः

★ ले० मनोहर पुरस्थ
संस्कृत महाविद्यालय प्राध्यापक
नारायण सहाय शास्त्री
एम. ए. हिन्दी व्याकरणाचार्य

अहिंसा मूल आचारः, विचारोऽनेक मूलकः,
व्यवहारश्च स्याद्वादः समाजो ह्यपरिग्रहः ॥१॥

मणि स्तम्भेषु चैतेषु, प्रासादो जैन धर्मकः,
सर्वोदयी विशालश्च, विभर्ति विश्वबन्धुताम् ॥२॥

तीर्थङ्कराश्च, ते सर्वे जीर्णोद्धार परायणाः।
चान्तिमोऽयं महावीरः, प्राणिमात्रं समुद्धरन् ॥३॥

अवतीर्णो हि लोके च, स्वाधीना मुक्तिदायकः।
पंचशती समायुक्तम्, द्विसहस्रं च यापितम् ॥४॥

त्रिशला स्वामिनी राज्ञी, सिद्धार्थस्य गुणान्विता।
ददर्श स्वप्न साकारान्, पुत्रप्राप्तेश्च सूचकान् ॥५॥

चैत्र मासे सिते पक्षे, त्रयोदश्यां शुभे दिने।
त्रिशला ख्यातिमापन्ना, पुत्ररत्न मजोजनत् ॥६॥

सोऽयं समुज्ज्वलः शान्तः, कान्त्या ध्वान्तविनाशकः।
त्रिवेषी लावण्यश्च, मतिश्रुत्यवधिज्ञः विभुः ॥७॥

वर्धमान गुणेन्दुश्च, वर्द्धमानः प्रचक्षते।
युना राजकुमारेण, निषिद्धं पाणिपीडनम् ॥८॥

असारं परितो ज्ञात्वा, त्यक्त्वा राज्यसुखानि च।
परिग्रहमनित्यं हि, तत्याजंत तपोनिधिः ॥९॥

संसृतौ विजयं प्राप्य, महावीरः प्रजायते।
द्वादशाब्दीय मौनान्ते, ह्यशेष जीवनं जगत् ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्पथे गमयेन्नित्यम्, चिन्ताचक्रं प्रचक्रमे ।
बलिप्रथाविरोधेन, जीवो जीवस्य भक्षकः ॥११॥

इति चिन्ता विषण्णोऽयं जीव्याज्जीवय जीवनम् ।
चिरंतनं सुखेनेह, रक्ष्यं रक्ष्यं भवेज्जगत् ॥१२॥

इति चिन्ताकुलो भूत्वा, बभ्राम भारते स्वयम् ।
ददर्श तत्र दुःखानि, वर्णः जातिषु लक्ष्यते ॥१३॥

राष्ट्रीय संहतिः नष्टा, नष्टं चात्मगौरवम् ।
सर्वेषां परित्राणाय, महावीरश्च जायते ॥१४॥

अहिंसा परमो धर्मः इत्याचारः परं बभौ ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, न कदापि समाचरेत् ॥१५॥

त्रिशद्वर्षात्मके काले, विधाय बन्धु भावनाम् ।
महावीरश्च ययौ पावां पाटलीपुत्र पोषिताम् ॥१६॥

कार्तिके चासिते पक्षे अमावस्यां रात्रि संनिधौ ।
द्विसप्ततितमे वर्षे, आयुषश्च तपोनिधेः ॥१७॥

महान्, निर्वाणमासाद्य, विश्ववन्द्यश्च जायते ।
सर्वं जीव समो भावः सर्व धर्मपरायणः ॥१८॥

सर्व जातिः समा लोके, शुभ संदेश धारकः ।
विश्वबन्धुत्व भावं च, महावीरो जगादह ॥१९॥

प्राणिनः पीड़िताः न स्युः सात्विकं भोजनं कुरु ।
अभिमानं सुरापानं, न कुर्याद् दिवसं वसेत् ॥२०॥

नाधिकं संचयं कुर्याद्, सर्वं धर्मान् समन्वयेत् ।
शान्त्या क्रोधं जयेन्नित्यम्, धर्मेण गौतमान् भवेत् ॥२१॥

तारस्वरेण वीरोऽयं, मोक्षः संकेतदायकः ।
न मोक्षः सम्प्रदायस्तः, सत्य धर्मपरायणः ॥२२॥

धर्मेण हन्यते भेदः, आत्म भावः प्रजायते ।
इति बन्धुत्व भावेन, अद्यापि जगतः स्थितिः ॥२३॥

स्मरामितं महावीरं, प्रणमामि पुनः पुनः ।
असार खलु संसारं, ज्ञात्वा ध्येयं तम व्ययम् ॥२४॥

वाँछित माशु मे देहि महावीर ! त्वमेव हि ।
विश्वबन्धुत्व भावेन भावनीयो भवाम्यहम् ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(महावीरत्व की खोज में महावीर)

प्रीतंकर

● श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट
पृथ्वीराज मार्ग, गुना

(देव लोक के अनेकों देवता उन्हें घेरे खड़े थे मृत्यु आई, निश्शब्द पदचाप से आई, किसी को उसके आने की आहट तक नहीं हुई और वह प्रीतंकर को साथ लेकर चली गई। शेष रह गई देवताओं के मध्य प्रीतंकर की कीर्ति जो देवलोक में भी मृत्यु से अभय होने का वरदान दे रही थी। पर महावीरत्व अभी एक अनावृत रहस्य था, दुर्लभ यात्रा थी।)

तीर्थङ्करत्व की खोज में सम्राट् हरिषेण की संज्ञा से विभूषित जीव प्रीतंकर बना। स्वर्गलोग उसके लिये कोई नया लोक नहीं था। स्वर्गों की वह यात्रा कर चुका था, सागरों की आयु बिता चुका था। जब वह स्वर्ग लोक की शैया पर जागा तो सब कुछ भोगा हुआ लगा। स्वर्गलोक में सब कुछ पूर्ववत् था, किन्तु सौन्दर्य, कला, साज-सज्जा पूर्व से भी अधिक मनोहर थी। प्राकृतिक दृश्य सरिताओं के निर्मल जल से ध्वनित संगीत, पक्षियों का कलरव, संगीतमय था। पग पग पर सौन्दर्य का भ्रम-जाल, पग पग पर प्रलोभन !

प्रीतंकर देव उठे। नियत देवांगना ने कहा—आओ देव ! प्रथम मिलन को सार्थकता प्रदान करें। प्रीतंकर–देवि ! प्रथम मिलन ! नहीं नहीं तुम्हें भ्रम है। मिलन की समस्त उपलब्धियों से हृदय परिचित है, फिर प्रथम मिलन कैसा ? आकर्षण अज्ञात सुखों के प्रति होता है और देवि ! उपलब्ध होते ही आकर्षण टूट जाता है। भोगों की प्रक्रिया भोगों का परिणाम सभी स्मृति में हैं। लगता है हम भोगों को भोग रहे हैं, पर भोग स्वयं हमें भोगना प्रारम्भ कर देते हैं।

देवाङ्गना ने कहा—स्वामी ! जन्म के प्रथम दिवस में–मिलन की बेला में यदि विरक्ति का का सूत्र लिया तो सागरों की आयु कैसे बीतेगी ?

देव—देवि! तुम्हें भ्रम है, कि सागरों की आयु बिताने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है, बहती हुई सरिता का जल और बीतती हुई आयु क्या कभी रुकती है। गति उसका धर्म है। रन्ध्रमय पात्र में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निहित जल की भाँति यह आयु भी रीत जाती है।

देवाङ्गना—देव ! मर्त्यलोक के भीरु पुरुषों की सी बातें करते हो। वहाँ पुरुष दिगम्बर वेष में विचरण करते हैं, तप्त शिलाओं पर तपते हैं और कहते हैं हम मुक्ति की खोज रहे हैं। आपकी बातें ऐसे भीरु मनुष्यों से ऋण ली हुई प्रतीत होती हैं। प्रीतंकर देव ने दिगम्बर श्रमण की चर्चा सुनी तो उनके नयन में स्वयं की आकांक्षायें साकार हो उठीं ! नयन-क्षितिज पर दिगम्बर मूर्ति मूर्तिमान हो उठी। उनके हाथ श्रद्धा से उठ गये—उन्होंने विनत स्वर में कहा—साहूसरणं पव्वज्जामि, प्रीतंकर ने कहा—देवि ! तुमने श्रमण का बहुत बिकृत, अवांछनीय रूप प्रस्तुत किया है। स्वर्गलोक का वैभव उनके चरणों की धूलि है। बिना दिगम्बरत्व धारण किये मुक्ति कहाँ ? धन्य हो देवि, तुम्हारे कारण उन पवित्र आत्माओं का स्मरण करने का सौभाग्य मिला।

सहसा समीप से करुण चीत्कारों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। एक देव चीख रहा था, जैसे उसे कोई पीड़ा पहुंचा रहा हो। देवाङ्गना चकित होकर उसे देखने लगी और बोली स्वामि ! यह स्वर्गलोक है, आधि-व्याधि का कोई भय नहीं। भूख-प्यास को यहाँ स्थान नहीं, फिर यह किस पीड़ा से दुःखी है।

प्रीतंकर—देवि, सबसे बड़ा दुख है मृत्यु। और यह मृत्यु के भय से दुःखित है। जीवन की समाप्ति का संकेत देने वाली इसकी माला का सुरभित सुमन आज म्लान हो गया है। आयु की समाप्ति में अब केवल 6 माह शेष हैं।

उस मरणभीत देवता को संबोधित करने वे उसके समीप गये और बोले—देव दुःखी क्यों हो—?

देवता—देखते नहीं मेरे गले की माला मुरझा गई है ?

प्रीतंकर—तो क्या ? मुरझाने दो !

देव—मुरझाने दूँ ? यह देवलोक, देवलोक का यह वैभव क्या सब स्वप्न हैं।—वह फिर चीत्कार करने लगा।—

प्रीतंकर—सुनो, कब तक रुदन करोगे, अधिक से अधिक 6 माह। मृत्यु मित्र है। उससे इतने भीत होने की आवश्यकता नहीं।

देवता—क्या मृत्यु मित्र है ?

प्रीतंकर—मृत्यु मित्र भी है और शत्रु भी। मित्र उनकी है, जो निर्भय हैं, शत्रु उनकी है जो तुम्हारे सदृश भयभीत हैं। बन्धु ! क्या तुम्हें ज्ञात है, पूर्वभव में कहां थे ? तुम सदैव से देवलोक में नहीं हो, कोई भी सदैव से देवलोक में नहीं है। जब थे नहीं—तब आये, और जब आये हो तो जाओगे अवश्य। प्रज्ञा को जागृत करो ! सम्यक् दर्शन का सूत्र पकड़ो। मृत्यु तुम्हारी मित्र बन जायेगी। अपनी मानसिक शांति के लिये इस मंगल सूत्र का स्मरण करो

नमस्कार श्री अरिहंतों को
सिद्धि प्रदाता सिद्धों को
आचार्यों को
उपाध्यायों को
सर्व लोक के सन्तों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रीतंकर देव इस अनादि मंगल सूत्र को दोहराते रहे। मरणभीत देव उसका अनुसरण करता रहा। उसका कंपन बन्द हो गया। पीड़ा विलीन हो गई।

देवांगना मंत्र के प्रभाव से प्रभावित थी। चकित दृष्टि को देखकर प्रीतंकर देव कहने लगे— देवि ! यह मन्त्र अद्‌भुत है, अनादि है, सबसे सरल और सबसे दुरूह है ! इसका महत्व समझने में बड़े बड़े विद्वान् भी चूक जाते हैं। इसके दोनों छोर दो पृथक् पृथक् संकेत देते हैं। मन्त्र के शिखर से चरण की ओर बन्दना का क्रम है और चरण से शिखर की ओर साधनाका।

देवाङ्गना—स्पष्ट करे देव !

प्रीतंकर—बहुत सरल बात है देवि। जब नमस्कार करना है—अरहन्त, सिद्ध, आचार्यों, उपाध्यायों और सर्वलोक के सन्तों को नमस्कार करें, किन्तु जब आचरण में उतारना हो तब प्रथम दिगम्बरी दीक्षा धारण कर श्रमण बनो। आत्मज्ञान उपलब्ध करो और भव्य-जीवों को उपदेश का अमृत वितरित कर उपाध्याय बनो तत्पश्चात् ज्ञान की उपलब्धि कर आचार्य पद प्राप्त करो। मुक्ति के मार्ग पर स्वयं बढ़ो और संघस्थ श्रमणों को उस पथ पर बढ़ने के लिये प्रेरित करो। फिर सिद्धत्व की प्राप्ति करो। समस्त अर्हन्त सिद्ध होते हैं किन्तु सर्व सिद्ध अर्हन्त नहीं होते। अर्हन्त आत्मा की शुद्धतम अवस्था को स्वयं तो उपलब्ध करते हैं, साथ ही धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं। इसलिये क्रम में प्रथम हैं। देवाङ्गना—यह मन्त्र अद्‌भुत है। देव ! मुझे भी कंठस्थ करायें।

प्रीतंकर का अधिकांश समय जिन भक्ति में, आत्मचिन्तन में व्यतीत हो रहा था अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करते समय देवांगना प्रायः प्रीतंकर देव के साथ रहती पर प्रीतंकर का निर्जीव मूर्तियों के समक्ष यों श्रद्धानत होना उसे निष्प्रयोजन लगता। एक दिन जिनवन्दना करते समय उसने अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुये कहा— निश्चित ही ये वीतराग मूर्तियां मनोज्ञ, भव्य और अनुपम हैं, पर देवता का निर्जीव मूर्तियों के चरणों में नत होना क्या अन्धश्रद्धा नहीं है ?

प्रीतंकर-देवि, तुमने भ्रमों के अनगिन आवरण पाल रखे हैं। चेतन स्व के आगे विनत था। शुद्ध आत्म की भक्ति में लीन था। वह निर्दोष वीतरागी दर्पण में अपने बिम्ब की तुलना कर रहा था—कि प्रभु ! तुम जैसा बनने से कितनी दूर हूँ ? आत्मा जब तक स्व-चिन्तन में लीन होने की स्थिति में न पहुंचे, तब तक मूर्ति का निमित्त अनिवार्य है देवि ! जब आत्मा स्व आभा से दीप्त हो उठती है तब किसी निमित्त, किसी पराये द्रव्य की आवश्यकता नहीं रहती ! उपासना भी एक कला है, कर्मों को काटने की एक वैज्ञानिक प्रणाली है।

प्रीतंकर की दिनचर्या देवताओं में चर्चा का विषय था। उनका जीवन-शांति-पूर्ण ढंग से धार्मिक रीति से व्यतीत हो रहा था।

प्रीतंकर एक दिन एक सघन वृक्ष की छाया में—कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े दिखे। उनकी देवोचित कान्ति निस्तेज पड़ने लगी किन्तु नयनाभा द्विगुणित हो उठी। उनकी आयु पुष्प की माला के सुमन सूखने लगे थे।—वाणी क्षीण पड़ गई थी किन्तु उनके अधरों से प्रस्फुटित शब्द निर्झर की भांति सतत् प्रवाहित हो रहे थे—

केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि,

देवलोक के अनेकों देवता उन्हें घेरे खड़े थे, मृत्यु आई, निशब्द पदचाप से आई, किसी को उसके आने की भी आहट नहीं हुई और वह प्रीतंकर को साथ लेकर चली गई। शेष रह गई देवताओं के मध्य प्रीतंकर की कीर्ति। जो देवलोक में भी मृत्यु से अभय होने का वरदान दे रही थी। पर महावीरत्व की खोज में प्रीतंकर की आत्मा प्रिय मित्र चक्रवर्ती के रूप में मनुष्यलोक में अवतीर्ण हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

अहसान

श्री सुरेश 'सरल'
सरल कुटी, गढ़ाफाटक
जबलपुर (म० प्र०)

'बर्तन मल रही हो ?'

'जी हां, महरी के पेट में दर्द है।'

'दर्द?' सुधीर ने—दर्द का उच्चारण इस तरह किया था, जैसे विश्व में पहली बार वह किसी महरी के पेट में दर्द की बात सुन रहा है। उसके चेहरे के भाव से यह स्पष्ट भी हो रहा था कि महरी जैसे तबके की श्रमिक पुत्रियों को घर में बैठकर दर्द नहीं मनाना चाहिये। फिर बात आगे बढ़ाने की गरज से बोला—'पेट में दर्द, क्या.......'

'हां हां........समय पूरा पूरा हो गया है।' सुधीर का मंतव्य संध्या समझ गई थी अतः बीच में ही बोल पड़ी—'शायद कल-परसों तक डिलीवरी होना चाहिए।'

'अच्छा तो आप लोग तारीख घण्टे मिनट सब कुछ नोट कर रखती है ?' सुधीर ने एक शरारत उछाली थी।

'इसमें नोट करने की क्या बात है। नियति और स्मृति के बीच की बातें हैं ये।'

सुधीर ने इस टापिक को यहीं छोड़ देना चाहा, मगर शायद अभी कुछ जिज्ञासायें और शेष थीं, अतः संध्या से फिर पूछने लगा—'ये लोग बड़ी कड़ी और परिश्रमी होती हैं, सुबह बच्चा होना है और शाम तक बर्तन मलती रहती हैं घरों घर।'

'दर्द न होता तो वह कल सुबह तक मलती।'

'अच्छा ?' इस बार सुधीर के प्रश्न में बनावटी आश्चर्य दिखने लगा था।

बर्तनों से निवृत होकर संध्या ड्राइंग रूम में गई, सुधीर उसकी प्रतीक्षा करता हुआ, मूंछों की काली चमक निहार रहा था दर्पण में। संध्या ने उसके जूतों के बंध खोलते हुए कहा—'न हो तो डिलीवरी के बाद महरी के शिशु को कोई सस्ती सी गिफ्ट अवश्य दीजिये।'

'क्या दे सकता हूं', कुछ सोचता सा सुधीर कुर्सी पर बैठ गया, फिर, जैसे कुछ याद हो आया हो, "...... ठंड काफी पड़ने लगी है, सोचता, हूं, दस रुपये की गरम बनियान खरीदकर दे दी जावे।"

'सात आठ में नहीं मिलती ?'

संध्या का प्रश्न पूरा नहीं हो पाया था कि मांजी ने घर में प्रवेश किया, संध्या का प्रश्न जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूर से ही सुनती आ रही हो अतः दोनों की तरफ संकेत कर पूछने लगी–'क्या नहीं मिलती सात आठ रुपये में ?'

मां के प्रश्न, जिसमें जिज्ञासा के साथ सास-सुलभ बहू को ताड़ने की धारणा भी सम्मिलित थी, पर सुधीर बोला–"मां महरी है न, उसके होने वाले बच्चे के लिए बनयान खरीदने की बात चल रही थी।"

'क्या बनयान खरीदने के चक्कर में पड़े हो ?' मां ने मसले को जरूरत से ज्यादा सामान्य निरूपित करते हुए बतलाया 'यदि चौक-पर्व पर उसका बुलावा आये तो सीधे नगद पांच रुपये पहुंचा देना।' मां की वार्ता में घुला दम्भ संध्या के दम्भ से गाढ़ा प्रतीत हो रहा था। तब तक महरी की आठ वर्षीय बच्ची ने आकर हंसते-हंसते बताया "माई को लड़की हुई है।" इ ना कहकर वह चिड़िया की तरह उड़ गई। लड़की पैदा होने की बात सुनकर तीनों को दुःख हुआ। फिर मां ने हिसाब लगाया-अब उसको पांच लड़कियां हो गई, भगवान का भी कैसा न्याय है, लड़का पहिले हुआ था सो छीन लिया, अब देने का नाम नहीं लेते, गरीबी में गीला आटा कर रहे हैं उसका ?

लड़की के जन्म की खबर से तीनों को दया हो आई महरी पर। अतः दया दिखाते हुए मां बोली–ठीक है सुधीर पांच-छः रुपये की बनयान ला देना, मैं पहुंचा दूंगी उसके घर।' सुधीर ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–'मां पांच-छः रुपये में कहां मिलेगी ?' मां ने फिर सहजता से समाधान प्रस्तुत किया—'अरे पगले' आज कल सड़कों के किनारे कितनी दुकानें लगती हैं कोट और बनियानों की ?' मां का यह प्रश्न अपने आप में विशेष उत्तर की परिभाषा सार्थक कर रहा था जिससे मां और संध्या को राहत सी मिली थी।

'सुधीर भाई नमस्कार, कपड़े ले रहे हो क्या यहां से ?'

'नमस्..........नमस्कार भाई।' इस नमस्कार में नमस्कार कम शर्म ज्यादा थी। जैसे दूध बादाम पीने वाला कलारी में देख लिया गया हो। कुछ झेंपते हुए सुधीर आगे बोला—अरे नहीं यार........ बस जरा यों ही........'

'यों ही कैसे ? मैं तो भाभी को बतलाऊंगा कि भाईजान फुटपाथ से खरीदकर लाये हैं बनयान।'

-"अबे भाभी को नहीं ले रहा' कहकर सुधीर आपोंआप अटपटा गया। उसका उच्चारण जाम सा हो गया, उसे क्षणभर को लगा उसका स्तर फुटपाथी है। अपने मित्र से बहुत हलका है। तब तक उसे कुछ सही उत्तर याद आया। वाणी में ठोसता और गंभीरता लाकर कहने लगा–'यार, ! हमारी महरी को बच्ची हुई है, मैं सोचता हूं कि एकाध दस-पद्रंह रुपये की बनयान दे दूं उसे, ताकि ठंड से निपट सके।' सुधीर पांच-छः के स्थान पर दस-पन्द्रह रुपये कहकर अपने आपको बड़ा दानी और स्वाभिमानी विज्ञापित कर रहा था मित्र के सामने। मित्र के चले जाने के बाद सुधीर ने हाथ में ली हुई बनयान जहां की तहां रख दी और खाली हाथ घर भाग गया। दुकान से हटने के बाद उसे खुशी हुई थी कि एक से अधिक परिचित नहीं देख पाये उसे वहां। उसने मां एवं पत्नी को बतलाया कि फुटपाथ पर भी दस रुपये से कम की बनयान नहीं मिलती। फिर उन्हें, मित्र के मिलने की घटना और अपना रोबीला उत्तर बतलाते हुए अपनी योग्यता पर हंसता रहा। हंसते-हंसते ही उसने कहा—'मां मुझे फुटपाथ से खरीदने में शर्म आती है, कोई फिर देख लेगा। न हो तो महरी को कुछ पैसे देकर बोल देना कि वह खरीद लाये एक बनयान।' मां को यह प्रस्ताव अच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा। उसे सुधीर की खोखली शान पर ग्लानि नहीं आई मन में, बल्कि वह उसकी सूझबूझ पर काफी प्रसन्न हुई।

बातों का क्रम अभी समाप्त नहीं हुआ था, इस बीच महरी की वही बच्ची मुंह लटकाये हुए आई और मौन तोड़े बगैर खड़ी हो गई उनके सामने।

'क्या हुआ रधिया ? भूख लगी है क्या ?'

'नहीं।'

'तो फिर मुंह क्यों लटका है तेरा ?'

राधिका सुबक-सुबक कर रोने लगी थी। फिर बोली—'छोटी बैया मर गई ?'

'कौन ? जो अभी पैदा हुई थी ?'

'हां।'

'कैसे ?'

'सर्दी लग गई थी, रधिया वाक्य पूरा कर आंसू पोंछ रही थी।

तीनों च् च् च् करने लगी। तीनों बारी-बारी अपनी सहयोग की भावना महरी से कह देने के मूड में जो थे। वे चाहते थे कि महरी पर उनकी एहसान-योजना का प्रारूप, मूल्य और समय जाहिर हो जाय। अनुभवशील-मां पहिले बोली—'चलो अच्छा हुआ, गरीबी में लड़कियां कैसे सम्हलती महरी से। खुद के खाने-पहनने को कुछ नहीं है, पांच-पांच को क्या देती रहती ?'

संध्या और सुधीर सहज ही मां का समर्थन करने लगे थे। अनुभवियों का समर्थन करने वाले भी अनुभवी मान लिये जाते हैं न ?

अगले सप्ताह महरी काम पर आई तो तीनों ने उसकी बच्ची की मृत्यु पर खेद प्रकट किया। महरी चुपचाप बर्तन मलने लगी। मां ने पूछा—'कैसी थी री वह ?' महरी कुछ न बोली, उसके उत्तर की शायद आवश्यकता भी नहीं है मां को, सुधीर को या संध्या को। अतः मां ने अपनी ही बात आगे बढ़ाई—'हम लोगों ने तो उसके चौक पर्व पर दस-बीस रुपये की बनियान देनी सोची थी, पर क्या करें, तकदीर ही खराब थी।'

मां की भाषा किसी व्याकरण सिद्ध पुरुष की तरह थी। यह उनकी हृदय-वीणा का घमंडवाला तार था। "तक़दीर ही खराब थी" का तात्पर्य उस बच्ची की तकदीर से था जो उनकी दान की बनयान पहने बगैर मर गई थी और दस-बीस रुपये के उच्चारण से वे उस मात्रा में जहां अपने भीतर की दया प्रगट कर देना चाह रही थी वहीं अपना अहसान भी थोप देना चाहती थीं।

महरी यह सब कुछ चुपचाप सुने जा रही थी ? शायद उसे यह भी ज्ञात नहीं था कि वह दुनिया के एहसान से दबते-दबते बच गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर प्रश्न चिन्हों के घेरे में ?

डा० राजेन्द्रकुमार बंसल,
कार्मिक अधिकारी,
मेसर्स ओ० पी० मिल्स लिमिटेड,
शहडोल (म०प्र०)

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव की स्याही अभी सूख नहीं पायी थी कि उनके सिद्धान्तों, आदर्शों एवं प्राणिमात्र के कल्याण परक उपदेशों पर उनके ही आराधकों, और आराधक ही नहीं किन्तु 'विद्यमानत्रिपरमेष्ठियों' द्वारा अनेक प्रश्न चिन्ह लगा दिये गये हैं। यह घटना अभूतपूर्व एवं विस्मयकारी अवश्य है जिसकी मिसाल श्रमण संस्कृति एवं जैन इतिहास में मिलना असंभव ही है।

महावीर अद्वितीय क्रांतिकारी एवं महान आध्यात्मिक श्रमण थे। वे करुणा, समता, समानता, समन्वय अशोषकवृत्ति एवं अणु अणु की स्वतंत्रता के महान प्रकाश स्तंभ थे। इन आदर्शों एवं ज्ञान-आनन्द स्वभाव को प्राप्त करने के लिये उन्होंने मानव समाज का ध्यान आत्मनिष्ठा की ओर केन्द्रित किया। यदि व्यक्ति आत्मनिष्ठ (न कि स्वार्थी) होकर अपने आत्मस्वभाव को प्राप्त करने हेतु अनादिकालीन कमजोरियों पर से उत्तरोत्तर दृष्टि उठाता गया, तो वह इन गुणों को सहज प्राप्त कर लेगा और आत्म विकास के चरम बिन्दु पर पहुंच कर स्वयं परमात्मास्वरूप बन जायेगा। यह था महावीर का संदेश एवं शिक्षा जिसमें व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा स्वयं को जीत कर आत्म विजेता महावीर बन जाता है।

समग्ररूप से महावीर का दर्शन गुण परक है न कि व्यक्ति परक। जो, जब और जिस समय से अपने आत्म स्वरूप को पहिचान कर उसे प्राप्त करने का प्रयास करने लगता है वही उनका अनुयायी कहा जाता है। यही वस्तुस्थिति एवं सम्यक् परम्परा चली आयी है जाति, लिंग, कुल एवं राष्ट्रीयता आदि कोई तत्व इसमें बाधक नहीं यहां तक कि गति भी इसमें बाधक नहीं होती, अन्यथा संज्ञी पशु जैसे जैनत्व स्वीकार पाते।

प्रकारान्तर से वीतरागी, वीतद्वेषी एवं वीतमोही महावीर की आत्मा की ओर जो समर्पित होता है, और उसी अनुरूप बनने का प्रयास करने लगता है, वही उनके शासन के अन्तर्गत आया माना जाता है। जो अपने निरपेक्ष सत्ता अर्थात् आत्म गुणों को मान्य करता है, वही महावीर का सच्चा भक्त है। यह प्राणी के विवेक पर निर्भर करता है कि वह अपनी निज सत्ता को स्वीकारे और महावीर के शासन का आत्म वैभव पावे।

कुछ व्यक्तियों ने अपनी संकीर्णता एवं स्वार्थपरतावश दूसरों को महावीर के अनुयायी होने या नहीं होने का प्रमाण-पत्र देना शुरू कर दिया है। उन्हें अपनी स्वयं की स्थिति का तो कोई ध्यान नहीं कि वे क्या हैं ? और किस भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि पर खड़े हैं किंतु उन्होंने दूसरों के जैनत्व का निर्णय करना शुरू कर दिया है। स्वयं तो व्रती वेष की घोषणा कर असदाचारी एवं अनैतिक जीवन यापन कर रहें हैं किन्तु व्रत विहीन सदाचारियों पर छींटा कसी करने पर तुले हैं। इस प्रकार प्राणी मात्र के आत्म कल्याण की घोषणा करने वाले महावीर के वंशानुवंशी कथित अनुयायी संकीर्णता, क्षुद्रता, विग्रह, मोह, लोभ, असमानता, एकान्तवाद परतंत्रता एवं शोषकवृति के प्रतीक बन कर अपनी इन विराधक प्रवृत्तियों पर महावीर का लेबिल चिपका रहे हैं और उन्मादी गज के समान व्यवहार कर रहे हैं। कितना अचम्भा है। 'जल में लागी आग' की कहावत चरितार्थ हो रही है।

महावीर ने अपने सन्वयात्मक दृष्टि से विविध दर्शनों में खोये आत्म स्वरूप को उसकी समग्रता सहित प्राप्त एवं व्यक्त किया था। विश्व व्यवस्था का सम्यक् स्वरूप स्पष्ट किया और आत्मा की स्वतंत्र सत्ता एवं स्वशक्ति की सार्वभौमिकता को प्रकट कर स्वयं सार्वभौम आत्मस्वरूप में निमग्न हो गये। किंतु अब महावीर के कथित अनुयायियों द्वारा उनके सर्वकालिक एवं सर्व सदुपयोगी क्रांतिकारी आदर्शों को धूमिल करने का षड्यंत्र किया जा रहा है।

विकल्पों के द्वंद एवं लोकेषणा के जाल में फंसा गृहस्थ यह सब कुछ करता तब भी ठीक था। किंतु स्थिति तो यह कि कथित विकल्पतीत आत्मस्वरूप को प्राप्त करने में निमग्न साधुगण भी इस द्वंद में योद्धा बन कर कूद गये हैं। उन्होंने भी जैन, अजैन, निश्चय-व्यवहार एवं पूज्यत्व अपूज्यत्व के विकल्पों की रण नीति बनाकर वाक कलम बाण छोड़ना शुरु कर दिया है और साधु वेष में ही महामुनि विष्णकुमार की छद्म भूमिका निर्वाह कर अपने को विष्णकुमार की श्रेणी में मान रहे हैं।

एक महाश्रमण यशोधर थे, जिन्होंने श्रेणिक द्वारा डाले गये मृत सर्प की अतीव वेदना के बाद परिषह समाप्ति पर करुणा भाव से 'धर्म वृद्धि' मंगल संदेश दिया था। दूसरी ओर वर्तमान के कतिपय साधु संघ हैं जो विद्यमान' तीन परमेष्ठियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इन्होंने अध्यात्म धारा में प्रवाहित महावीर के आदर्शों को पठन, मनन, एवं चिन्तन में निमग्न जैन-जैनेत्तर के विशाल समूह को बिना प्रत्यक्ष में जाने पहिचाने 'बहिष्कार' जैसे कलुषित आदेश बाण से मर्माहत किया है।

स्वयं तो दिगंबर-श्वेतांबर, स्थानकवासी, तेरहपंथी बीसपंथी के भेद तथा पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि की मान्यता जैसी स्थूल क्षुद्रताओं एवं कुमान्यताओं से ऊपर नहीं उठ सके किन्तु जिन्होंने अपना परम्परागत पैत्रिक धर्म एवं विश्वास छो़ कर महावीर के शासन को अपनाया और विकल्पातीत आत्मा को जानने पहिचानने में र हैं, को अजैनत्व का प्रमाण-पत्र देने लगे। आत्मस्वरूप की चर्चा सुनते ही जिनके नाक भौंह सिकुड़ने लगते हैं वे अध्यात्म की तत्व चर्चा में व्यस्त जन समूह के जैनत्व पर संदेह करने लगे। मिथ्यात्व एवं ब रह कषायों के अभाव के पद का अभिमान करने वाले कथित आत्मसाधक तीव्रद्वेष की अग्नि में झुलस रहे हैं। स्थूल क्षुद्रता, आत्मा के प्रति विरक्ति एवं तीव्र कषायों की यह नमूना ही क्या इन त्रिपरमेष्ठियों के त्याग तपस्या का प्रतिफल है? क्या यही उनकी समग्र अर्जित पूंजी है? और क्या यही सच्चा नमूना महावीर की वीतरागी श्रमण संस्कृति का है? क्या यही श्रमण एवं श्रावक परम्परा रही है। यह इतिहास मौन है किन्तु विद्वान श्रमण ऐसे नवीन इतिहास का

शेष पृष्ठ = 16 पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा द्वारा सन् 1977 में आयोजित उच्च माध्यमिक विद्यालय कक्षा तक के विद्यार्थियों की निबंध प्रतियोगिता में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त निबंधों को यहां प्रकाशित किया जा रहा है। पाठक इन्हें पढते समय यह ध्यान में रखें कि इनको यथावत मुद्रित किया गया है।

प्रधान संपादक

श्री जिनेद्रकुमार सेठी
श्री. म. दि. जैन उच्च मा. विद्यालय

विश्व का प्रत्येक प्राणी शान्ति और सुख चाहता हैं, इसके लिए वह मनन चिंतन भी करता हैं। विश्व में समय-2 पर अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने मनन चिंतन द्वारा अपनी-2 विचार धाराएं विश्व के सम्मुख रखी हैं, जिन्हें व्यक्तियों ने अपनी-2 विचार धाराओं पर मानी हैं। हमारे देश भारतवर्ष में भी समय-2 पर अनेक महापुरुषों ने जन्म लेकर अलग-2 विचार धाराएं रखी हैं।

भगवान महावीर ने आज से 2575 वर्ष पूर्व इस वसुन्धरा पर जन्म लेकर अपने मनन, चिंतन एवं तपोबल द्वारा **'केवल्य-ज्ञान'** की प्राप्ति की, और प्राणियों को जिनका उद्देश्य 'शान्ति एवं सुख प्राप्त करना' को अपनी विचारधारा दिव्य ध्वनि द्वारा दी। भगवान महावीर ने विश्व को आध्यात्मिक शक्ति का वह अमोघ मंत्र सिखलाया जिसके द्वारा महात्मा गांधी ने सशस्त्र ब्रिटिश सेना को बिना किसी क्रांति के भारत छोड़ने को मजबूर कर दिया।

भगवान महावीर के सिद्धान्त धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु व्यवहारिक क्षेत्र में भी अत्यधिक उपयोगी हुए हैं। उन्होंने बताया कि वाणी में स्याद्वाद जीवन में अपरिगृह व्यवहार में अहिंसा तथा विचारों में अनेकान्त का प्रयोग करना चाहिए।

अहिंसा:

अहिंसा के द्वारा विश्व के सम्मुख रखी सबसे बडी समस्या का हल हो सकता है। महावीर ने अहिंसा का अन्य महापुरुषों से अलग रूप दिया है। उन्होंने अहिंसा के बारे में बताया कि किसी के में मन में खोटे भाव की उत्पत्ति ही हिंसा है।

उदाहरण के तौर पर एक बधीर (मछलियों को पकड़ने वाला) दिन भर जाल को पानी में फैंककर भी मछली नहीं पकड पाता तो भी वह हिंसक कहलायेगा क्योंकि उसके मन में मछली पकडने की इच्छा रहती है जबकि एक डाक्टर के द्वारा आप्रेशन करते हुए एक मरीज मर भी जाये वह अहिंसक कहलायेगा क्योंकि उसके मन में मरीज के प्रति कोई द्वेष का भाव नहीं होता है। अहिंसा का अर्थ भय से नहीं लिया जा सकता है। भय मनुष्य को मन को ही नहीं अपितु शरीर से भी कमजोर बना देता है। अहिंसक तो अभय होता है। और अभयदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अमृत वितरित करता है । अहिंसा में पूर्ण विश्वास ही आत्म-विश्वास का चरम बिन्दु है । अहिंसक अभैय होता है, उससे आत्म-विश्वास होता है और वह मानसिक रूप से सुखी होता है ।

(2) **अपरिग्रह**—अपरिग्रह की परिभाषा यदि ध्यान, मनन व चिंतन के द्वारा सोचें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि 'माननीय दैनिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त जो भी धन शेष बचता है उसे जन कल्याण के लिये खर्च करना ही अपरिग्रह कहलाता है, अपरिग्रह की पृष्ठ-भूमि यही है । मानव मन में धन संचय के भाव भी उत्पन्न न होने चाहिये ।

व्यक्ति धन संचय को सुख की दिशा से लेता है लेकिन सुख व दुःख तो मन के आंतरिक अनुभव के विषय हैं यदि धन ही सब कुछ होता और इसी से सुख मिलता तो आज विश्व में अनेक धन्ना सेठ दुःखी न होते व अनेक गरीब सुखीं न होते ।

उदाहरणतया तीन व्यक्ति 'अ, 'ब' एवं 'स' समान उम्र के हैं इनमें से अ–आफिसर, ब–क्लर्क एवं स– चपरासी (नौकर) है ।

जब 'ब' (क्लर्क) 'अ' (आफिसर) को देखता है तो अपने को दुःखी अनुभव करता है परन्तु जब 'स' (चपरासी) को देखता है तो सुखी अनुभव करता है ।

इस प्रकार धन का सुख व दुख से कोई सम्बन्ध नहीं है हा। । यह जरूर है कि धन से कुछ समय के लिए बाह्य भौतिक सुख मिल सकते हैं ।

(3) **अनेकान्त**—प्रत्येक वस्तु में अलग–2 तरह के गुण होते हैं उन गुणों को अलग–2 दृष्टी से देखकर उसके गुणों को अध्ययन ही अनेकान्त कहलाता है । अनेकान्त शब्द बाहुब्रीही समास का है जिसका अर्थ अनेक अनेकान्त किसी वस्तु के बारे में एक संकुचित दायरे से निकल कर एक अनेक विचारों के दृष्टिकोण में परिवर्तित करता है एवं वस्तु स्थितिमूलक के मतों का समन्वय करता है ।

(4) **स्याद्वाद**—में दूसरो के विचारों को सुनकर अपने विचार से उसके समन्वय करने की क्षमता स्याद्वाद कहलाती हैं । अर्थात जो मैं कह रहा हूं वही सही नहीं है अपितु जो दूसरा कह रहा है वह भी सही हो सकता है ।

यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है । एक वैज्ञानिक के लिये आवश्यक है कि वह सभी के विचार सुन अपनी परिकल्पना बनाये ।

(5) **तत्व-ज्ञान**—महावीर भगवान ने आज से 2500 वर्ष पूर्व ही बता दिया था कि ना तो किसी तत्व की उत्पत्ति की जा सकती है ना ही किसी तत्व को नष्ट किया जा सकता यद्यपि वह तत्व भिन्न–2 रूपों में रह सकता है ।

यह सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी से सही उतरता हैं । उन्होंने इसे 2500.0 वर्ष पूर्व ही बता दिया था जब कि विज्ञान के समुचित साधनों द्वारा भी इसको 100 वर्ष पूर्व ही ज्ञात कर सके इसी प्रकार जल छान कर पीना चाहिये क्योंकि उसमें सूक्ष्म–2 जीवाणु होते हैं । इसी प्रकार पेड़ पौधों को नहीं सताना चाहिये उन्हें काटना नहीं चाहिए । यह उन्होंने 250.0 पूर्व बता दी थी जबकि विज्ञान उसे अभी खोज कर पाया ।

महावीर स्वामी के सिद्धान्त वैज्ञानिक कसौटी पर पूर्ण रुपेण सही उतरते हैं ।

(6) **कर्म सिद्धान्त**—भगवान महावीर ने बताया कि व्यक्ति अच्छे व बुरे कार्यों के प्रति स्वयं जिम्मेदार होता हैं । कर्मो का निर्माण करने वाली कोई अन्य आलोकिक शक्ति नहीं होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर की देन

● श्री संजय ज ो ि टया
खंडेलवाल वैश्य केन्द्रीय उच्च माध्यमिक वि धा य
जयपुर

आज विश्व में चारों ओर अशांति, संघर्ष, वैमनस्य का वातावरण है । ऐसे में यह प्रश्न विचारणीय है कि किस प्रकार विश्व में शाति स्थापित की जाये । इस सन्दर्भ में जब हम भगवान महावीर के सिद्धान्तों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि यदि इन सिद्धान्तों को आज भी मनुष्य द्वारा अपनाया जाये तो उसके जीवन में शांति आ सकती है तथा वह विश्व में शांति स्थापित करने की ओर अग्रसर हो सकता है ।

भगवान महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन कुण्ड ग्राम में हुआ था । इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का नाम त्रिशला था । महावीर बचपन से ही चिन्तन शील थे । वे सन्यास ग्रहण करना चाहते थे । किन्तु वे माता-पिता की मृत्यु के पहले सन्यास लेकर उनको नाराज नहीं करना चाहते थे । इसलिये 30 वर्ष की उम्र में माता-पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने ग्रहस्थ जीवन छोड़ दिया तथा सन्यास ग्रहण कर लिया । उन्होंने 12 वर्ष तक कठोर तपस्या की । 42 वर्ष की उम्र में उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया । इसके बाद उन्होंने 30 वर्ष तक लोगों की सेवा की क्योंकि अब उनको पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया था ।

महावीर के सिद्धान्त बहुत ही दिव्य उज्जवल तथा पुन्यीत हैं । वे किसी विशेष सम्प्रदाय के नहीं अपितु प्राणी मात्र के लिये हैं । ये सिन्द्धात आज भी उतने हरीणा दायक हैं जितने की भूतकाल में थे और युगों युगों तक रहेंगे । भगवान महावीर ने अपने सिद्धान्तों में मनुष्य को सच्चाई ईमानदारी एवं अहिंसा से जीवन बिताने को कहा है ।उनके सिद्धान्तों के सार निम्न हैं :

1. अपने मन, वचन एवं कार्य से किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाओ ।
2. अपनी आवश्यकता से ज्यादा संचय न करो ।
3. अपने कुल एवं जाति पर अभिमान न करो ।
4. सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखो ।
5. त्याग पूर्वक परिमित वस्तुओं में जीवन व्यतीत करो ।
6. अच्छा स्वास्थ्य एवं पवित्र मन रखो ।
7. क्रोध, अभिमान माया व लोभ को काबू में रखो ।
8. परिग्रह हानिकारक हैं । इससे मन, वचन तथा कर्म खराब हो जाता है ।

उपरोक्त सिद्धान्तों को अपनाकर मनुष्य जीवन में सुखी, शान्त तथा सच्चरित्र हो सकता है तथा साथ ही विश्वशांति की ओर भी अग्रसर हो सकता है । भगवान महावीर ने मनुष्य को जीवन में शारीरिक हिंसा को रोकने के उपाय, समानता के भाव, धार्मिक सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व की भावना आदि बताये हैं । वैचारिक हिंसा को रोकने के लिये उन्होंने अनेकांत का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखा। इस प्रकार विश्व शांति के लिये उन्होंने समता भाव धार्मिक सहिष्णुता एवं सह अस्तित्व आदि आदर्श हमारे सामने रखे। उन्होंने ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूलों के कारण दुखी है और वह उनमें सुधार करके सुखी हो सकता है।

महावीरजी ने बताया कि शांति की प्रतिष्ठा के लिये संघर्ष का मार्ग नहीं बल्कि शांति का मार्ग अपनाना चाहिये। संक्षेप में सभी जीवों को अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार महावीर के सिद्धान्तों को अपनाना चाहिये तभी विश्व में शांति स्थापित हो सकेगी।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भी परमात्मा की भांति पूज्य हुए हैं क्योंकि उन्होंने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनावरण किया तथा रूढिवाद में जकडी जनता को तर्क पूर्ण भक्ति का सही मार्ग दिखाया। महावीर ने विश्व में शांति स्थापित करने के प्रयत्न के साथ 2 लोगों को ईमानदारी, सच्चाई, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य का महत्व भी समझाया। महावीरजी ने जीवन भर लोगों की सेवा की।

उन्होंने अपने उपदेशों में लोगों को हमेशा, सत्य, अहिंसा, ईमानदारी व ब्रह्मचर्य आदि का महत्व समझाया। उनके उपदेश निम्न हैं :

1. सत्य 2. अहिंसा 3. ईमानदारी 4. ब्रह्मचर्य तथा 5. अपरिग्रह अर्थात किसी भी प्रकार की धन, दौलत एवं जायदाद की इच्छा न करना।

जो व्यक्ति पूर्ण सत्य, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण ईमानदारी, पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा पूर्ण अपरिग्रह का व्रत स्वीकार करते हैं वही सच्चे साधु हैं। वे किसी भी वस्तु का अपनी नहीं कहते हैं।

महावीरजी ने कहा है कि ये पांच सिद्धान्त ही मनुष्य के सही जीवन के आधार हैं। जीवन में इन गुणों को अपनाना चाहिये। महावीरजी के इन उपदेशों का सभी जगह स्वागत हुआ। कुछ राजाओं ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया तथा उनका प्रचार भी करवाया। महावीर ने इन्द्रीय सुख को खराब बताया। उन्होंने कहा कि इससे मनुष्य में आलस आ जाता है तथा मनुष्य जीवन के गलत मार्ग पर चल पड़ता है। महावीर लोगों की सेवा करते करते अन्त में 72 वर्ष की उम्र में पावापुरी नामक स्थान पर निर्वाण को प्राप्त हुए। उनकी मृत्यु के बाद उनके आदर्शों सिद्धान्तों तथा उपदेशों के आधार पर जैन धर्म बना। जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म हैं जिसमें अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया गया। अन्य धर्मों में अहिंसा पर इतना जोर नहीं दिया गया है तथा नही इसमें रूचि दिखाइ है। जैन धर्म की एक और विशेषता अपरिमित कष्ट सहना हैं। जैन धर्मीदियों का कहना है कि जैन धर्म बहुत पुराना धर्म है। यह धर्म सभी धर्मों से अलग है। यह धर्म युगों युगों तक रहेगा। इस धर्म का आज भी उतना ही महत्व है जितना कि भूतकाल में था और युगों-युगों तक रहेगा। जैन धर्म सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है। इस धर्म के सिद्धान्तों के अपनाकर मनुष्य का जीवन सुखी व समान हो सकता है। आज सभी धर्मों में जन धर्म का महत्व हैं। महावीरजी ने कहा है कि मनुष्य को कभी भी क्रोध, अभिमान लालच तथा आलस नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन खराब हो जाता है और मनुष्य गलत कार्य करने लगता है। एक वैज्ञानिक ने कहा है कि संघर्ष प्रकृति का नियम है। इसी बात पर महावीर ने कहा है कि प्रत्येक कार्य में संघर्ष तथा कठिनाइयां आती हैं लेकिन मनुष्य को इससे घबराना नहीं चाहिये। बल्कि उसको धैर्य पूर्वक इन कठिनाइयों का सामना करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे पहले हमें दुराग्रह छोड़ना चाहिए

● प्रो० श्री चन्द्र जैन

प्रातःकाल अर्चना-वन्दना करने वाले जैनों को यह मानना चाहिए कि भगवान् महावीर के समस्त भक्त एक हैं और उनकी मान्यता सर्वत्र समान हैं। भेद-भाव करने वाले वे धर्म नेता हैं जो धार्मिक व्यापकता से अनभिज्ञ हैं। क्षणभंगुर-प्रतिष्ठा के मोह को छोड़कर इन धर्म-प्रधानों को जनता के हित की निरन्तर चिन्ता करनी चाहिए।

जीव मात्र के हितैषी भगवान् महावीर का दिया हुआ अनेकान्त-वाद सचमुच हमें वरदान के रूप में मिला है। सैद्धान्तिक रूप से जिस ने इसके महत्व को समझ लिया है वह कभी **भी जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों को सत्य मान ही नहीं सकता।**

हमें आज इस सत्य को अपनाने की विशेष रूप से आवश्यकता है कि मनुष्य मात्र अहिंसक है, वह सर्वप्रथम इंसान है और इसके उपरान्त वह और कुछ हो सकता है।

सब जैन भगवान् महावीर के उपासक हैं, उनके सिद्धान्तों के मानने वाले हैं एवं उनकी निष्पक्ष मान्यताओं के अविचल विश्वासी हैं। मत-भेद का केवल एक कारण है, और वह दुराग्रह के प्रति मूढ़ व्यामोह। यह हमारे लिए विपत्ति का संकेत है विनाश का शंखनाद है, मानवता के विध्वंस का केतु है। **सब प्रकार के दुराग्रहों को भुलाकर यदि हम सब एक न हुए तो यह निश्चित है कि हमारी परिस्थिति गिरते गिरते एक दिन विनाश के महासागर में विलीन हो जावेगी, उस समय हमें अपने अस्तित्व का भी बोध न रह सकेगा।** अभी भी समय है कि हम आंख खोलें अपने दिल को टटोलें और आत्म विश्वासी बनकर इंसानियत को अपनावें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(पृष्ठ 10 का शेष)

निर्माण कर रहे हैं, जो श्रमण को कलंकित किये बिना न रहेगा।

इस प्रकार समग्र रूप से आत्म विराधक वर्ग ने महावीर एवं उनके आदर्शों को अपनी लोकेषणा की कुटिल चालों में कैद कर दिया है। और वह भी महावीर की श्रमण संस्कृति की रक्षा के नाम पर। बाढ़ ही खेत को खाने लगी है। प्रश्न यह है कि जगत के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करने वाले महावीर क्या इतने निर्बल हैं कि वे इस कृत्रिम कैद के बंधन नहीं काट सकते ? कर्म जंजाल की अनंत बेड़ियां काटने वाले महावीर क्या कुछ व्यक्तियों, संस्थाओं एवं बाह्याचार में निमग्न साधुओं की बेडियां नहीं काट सकते ? यह प्रश्न महावीर के सच्चे अनुयायी का ही नहीं किन्तु इतिहास के माध्यम से मानव जाति को कुरेद रहा है और इस कारण महावीर के दर्शन पर अनेक प्रश्न चिन्ह उभर गये हैं।

क्या अनेक प्रश्न चिन्ह के घेरे में एवं बेड़ियों में कैद महावीर को पुनः प्रस्थापित करने उन्हें अवतार लेकर क्रांति करनी होगी, जिसमें जैन दर्शन विश्वास नहीं करता ? यदि ऐसा संभव है तो श्रम के चौराहे एवं आत्म विराधक कषाय पोषक समुदाय से महावीर के शासन की रक्षा एवं विस्तार कैसे हो ? प्रश्न गंभीर एवं निर्णायक है।

महावीर के आत्म समर्पित अध्यात्मवादी वर्ग को संपूर्ण सच्चाई सहित प्रयास करना होगा। और स्वयं के भूमिकानुरूप मनोवेगों की भी तिलांजली देकर एक नया आदर्श प्रस्तुत करना होगा जिससे सामान्य नैतिकता एवं सदाचार बाह्याचार में रत समाज नैतिकता युक्त सदाचार एवं भावनयुक्त बाह्याचार के सूक्ष्म अन्तर को स्थूल क्षेत्रों से देख सके और महावीर की कृत्रिम बेड़ियां काट सके।

(पृष्ठ 12 का शेष)

व्यक्ति जैसे करता वैसा ही पाता है। अच्छे व बुरे कर्म कोई बंधे हुये नहीं होते उनका निर्माता तो वह स्वयं होता है।

(7) **ऊंच-नीच**—भगवान महावीर ने बताया कि सब प्राणियों की आत्मायें समान हैं वर्ण, लिंग, धर्म, समाज कर्म आदि किसी भी तरह से व्यक्ति समान हैं, क्योंकि उनकी आत्मायें समान है इसलिये भेद-भाव न करना चाहिये। उन्होंने तो यहां तक कहा कि चींटी से लेकर हाथी तक आत्मा की दृष्टि से समान है।

महात्मा गांधी ने भगवान महावीर के सिद्धान्तों के आधार पर छुआछूत को बंद किया।

भगवान महावीर की देन अन्य महापुरुषों से अलग रही। उन्होंने विश्व को आध्यात्मिक शक्ति का अनुपम पाठ पढाया। उनके उपदेश तार्किक व विज्ञान दोनों ही दृष्टि से खरे उतरते हैं। उन्होंने प्रत्येक विषय को अत्याधिक गहराई से सोचा। जो चमत्कार वैज्ञानिक आज कर रहे उन्होंने उसे 2500 वर्ष पूर्व ही कर दिये थे। उन्होंने अन्धविश्वास, रुढिवादियों, हवनों, भेद-भाव आदि का विरोध किया। यदि आज समाज उनके पद चिन्हों पर चले तो उनके प्रत्येक सिद्धान्त से **अहिंसा से–मानसिक सुख व शांति स्याद्वाद से–वैज्ञानिक दृष्टि को अनेकान्त–समन्वयपरकता अपरिग्रह से–समाजवाद प्राप्त कर सकता है।**

उपयुक्त विवेचनाओं के पश्चात यह निर्विरोध सत्य हैं कि आज भौतिकवाद व आणविक युग में उनके सिद्धान्तों को पालन करे तो हम वर्तमान चिंताओं से मुक्त हो कर मानसिक व सुख शांति प्राप्त कर सकेंगे और समाज व देश का कल्याण कर सकेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

With best compliments from :

kataria TRANSPORT COMPANY

H. O. Kekri

Biggest Truck Operators of Rajasthan, Gujarat, U. P., Delhi, M. P., Punjab Haryana and Maharashtra, Providing Hippo and Tractor Trailors Services Upto 45 Tones and Transporting Heavy Overdymentioned Lengthy Mechanical Goods.

Regional Offices

Ahmedabad :
Prem Darwaja,
Ahmedabad
Phones : 380754
Telex : 012-360

Delhi :
6460, Katra
Baryan, Fatehpuri,
Delhi-110066
Phones : 526230

Bombay :
Dontad Stree,
Bombay.
Phones : 329289

Indore :
Jawahar Marg,
Indore.
Phone : 32140

Kanpur :
133/198 Transport
Nagar, Kanpur.
Phones : 68615
Telex : 032-317

Jaipur :
Transport Nagar,
Jaipur-302003.
Phones : 72234, 67712, 67386 & 62302
Delivery : 66027
Telex : 012-360 HIRA

Branches & Associates

Rajasthan		**U. P.**		**Panjab & Haryana**	
Kishangarh	234	Agra	63802-72598	Faridabad	2918
Beawar	6546	Banaras	54875	Panipat	
Bhilwara	659	Lucknow	23701	Ludhiana	
Balotra	142	Badhohi		Jullunder	
Kotah	3925	Gorakhpur		Amritsar	48938
Pali	6393	Khamaria			
Jodhpur	23448				
Gujarat		**M. P.**		**Maharashtra**	
Rajkot	26231	Indore	32140	Akola	2667
Bhavanagar	5744	Ujjain	606	Ichalkaranji	2781
Surndranagar		Burhanpur		Sholapur	5083
Nadiad	3004	Amalner			
Surat	27852	Dhulia			
Kalol	193	Bhopal			
Ba[illegible]	64620	Ratlam			

[illegible]हट प्रिन्टर्स, महावीर पार्क रोड, जयपुर 3–में मुद्रित । फोन : 75440

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org